2932

2932

माण्डूक्य-प्रवचन

42

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

माण्डूक्य-प्रवचन

[माण्डूक्य उपनिषद् : गौडपादीय कारिका : शांकरभाष्य सहित]

आगम प्रकरण

श्री मारवाड़ी सेवा संघ
पुस्तकालय
भदैनी - वाराणसी

प्रवक्ता :

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६ बी. जी. खेर मार्ग
मलाबार हिल, बम्बई ४००००६
फोन : ३६७९७६

•

तृतीय संस्करण : ३०००

गुरु पूर्णिमा, २०३२ वै०
जुलाई : १९७५ ई०

•

मूल्य: : दस रुपये मात्र

•

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस,
सी-के० ३६/२०
वाराणसी : २२१००१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकाशकीय

प्रथम संस्करणके सम्बन्धमें

सुप्रसिद्ध दस उपनिषदोंमें माण्डूक्य सबसे छोटा है। इसमें केवल बारह मन्त्र हैं; परन्तु अपनी अपूर्व निरूपण-शैली और प्रसादगुणयुक्त स्पष्टताके कारण यह दूसरी उपनिषदोंकी अपेक्षा एक विशेष प्रकारकी विलक्षणता लिये है।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आनेवाली अवस्थाएँ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनमें रहनेवाले एक अखण्ड चैतन्य द्वारा ही तत्त्वकी सम्पूर्ण मीमांसा कर दी गयी है। क्या आप जागते हैं, स्वप्न देखते हैं और सोते हैं? फिर आप कौन हैं? तीनोंमें से कोई एक हैं, तीनों हैं या तीनोंसे न्यारे हैं? इसका उत्तर आप मूल ग्रन्थमें पढ़िये।

अच्छा, जिस समय आप स्वप्न देखते हैं, उस समय आप ब्राह्मण-क्षत्रिय या वृद्ध-बालक बनकर जिस शरीरसे गङ्गा-स्नान करते हैं, केवल वही हैं अथवा उस समूची स्वप्नावस्थाके द्रष्टा जो मीलों लम्बा देश, वर्षों लम्बा काल और पृथ्वी, आकाशादि, सम्पूर्ण भूतोंको प्रकाशित कर रहा है? निश्चय ही आप सम्पूर्ण स्वप्नावस्थाके द्रष्टा हैं। क्या जाग्रत्-अवस्थामें ऐसा सम्भव नहीं कि आप केवल एक मनुष्य-शरीरमें रहने-वाली अवस्थाओंसे बँधे न हों और समूची जाग्रत्-अवस्थाके द्रष्टा हों? अवश्य, मूलग्रन्थ द्वारा आप इस पहेलीको बूझ सकेंगे।

जैसे किसी वस्तुका वर्गीकरण करनेके लिए उसे अ-ब-स आदि विभागोंमें बाँट दिया जाता है वैसे ही इस उपनिषद्में कल्पना करके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिलता है : **न तस्य कार्यं०, अनपरम्** इत्यादि। ब्रह्म अनिरुक्त वाङ्मनसा अगोचर है। अनात्म्य है अर्थात् उसका कोई और आत्मा, सार, सूक्ष्मरूप नहीं है तथा वह अनिलयन = सृष्टिके प्रलयका स्थान भी नहीं है। न उसके भीतर कुछ है और न वाहर : **अनन्तरमबाह्यम्**। ऐसी स्थितिमें सृष्टि, स्थिति, प्रलयप्रतिपादक श्रुतियोंका समन्वय केवल सद्विवर्तवादकी दृष्टिसे ही हो सकता है। इसीसे गौड़पादाचार्यने तत्त्वके अजातत्वका ही विशेष रूपसे प्रतिपादन किया है। परिणाम होनेपर लय-निषेधक एवं कार्य-निषेधक श्रुतियोंकी संगति किसी प्रकार भी नहीं बैठ सकती। इसी मतमें ऋग्वेदके नासदीय सूक्त, यजुर्वेदके सर्वमेघ सूक्त, अथर्वके उच्छिष्ट सूक्तका समन्वय है। श्रीगौड़पादाचार्यको जातित्वेन एकत्व अथवा कार्यकारणैक्यतया एकत्व अभीष्ट नहीं है। इसके निषेधके लिए ही वे अजातत्वकी कल्पना करते हैं। परमार्थतः वे जात-अजात, जाति-व्यक्ति सबसे रहित चतुष्कोटिविनिर्मुक्त आत्मतत्त्वकी ओर ही संकेत करते हैं। बौद्धोंके अनात्मवाद अथवा आत्मोच्छेदवादका उसमें कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। वह सर्वथा वेदोंका ही परम तात्पर्य है।

यह 'माण्डूक्य-प्रवचन' प्रवचनसे ही संग्रह किया गया है। रिकार्डसे सुनकर लिखनेवालोंको जितना ग्रहण हुआ, उतना ही उन्होंने लिखा। इसमें कितनी ही बातें छूट गयीं। जो लिखी गयीं, उनमें भी वेदान्त-प्रक्रियाके सम्प्रदायानुगत बोध न होनेके कारण कई बातें विपरीत भी लिख दी गयीं। इसबार मैंने पुनः उन्हें देख-सुन लिया है। कई संशोधन कर दिये हैं, कई स्थानोंपर परिवर्धन किये हैं और यथाशक्ति प्रथम संस्करणके दोषोंका परिमार्जन करनेकी चेष्टा की है। पुस्तक बहुत दूर छप रही है, इसलिए प्रूफ देखनेमें अशुद्धियाँ अवश्य हुई होंगी। विज्ञजनोंको उन्हें सुधार लेना चाहिए।

कुछ दिनों पूर्व राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि निगमागमसारसर्वस्व-निरूपण-पटीयान् परमहंस स्वामी श्रीनिगमानन्दजी महाराज (निगमबाबा) ने 'माण्डूक्य-प्रवचनकी अपूर्वता' नामका एक निबन्ध लिखकर भेजा था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह भूमिकाके रूपमें इस पुस्तकमें प्रकाशित किया जा रहा है। स्वामीजी-की इस कृपाके लिए सभीको उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

इस पुस्तकके संशोधन, सम्पादक एवं प्रकाशनमें सर्वाधिक परिश्रम पण्डित विश्वम्भरनाथ द्विवेदीका रहा है। यदि उन्होंने इतने प्रयत्न, उत्साह और लगनके साथ यह कार्य न किया होता तो इतने सुन्दर रूपमें इस समय यह पुस्तक उपलब्ध नही हो सकती थी। उनके लिए आशीर्वादके अतिरिक्त और किसी प्रकारका धन्यवाद या कृतज्ञता-ज्ञापन किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

अद्वैत-वेदान्तके जिज्ञासुओंके लिए ये प्रवचन निस्सन्देह सबल सम्बल सिद्ध होंगे।

तृतीय संस्करणके विषयमें—

'माण्डूक्य-प्रवचन' का यह तृतीय संस्करण द्वितीय संस्करणसे १० वें वर्षमें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। हम जानते हैं कि अनेक जिज्ञासु साधक एवं विद्वान् बीचमें इसके कुछ दिन चूक जानेसे अत्यन्त व्याकुल थे। द्वितीय संस्करणमें स्वयं महाराज-श्रीने प्रथम संस्करणमें शेष रह गयी त्रुटियोंका परिमार्जन कर दिया था और इसे अपेक्षाकृत सुधार दिया था। इस तृतीय संस्करणमें भी जो और त्रुटियाँ, कमियाँ दीखीं, विषयके अवगममें, भाषाकी प्रवाहितामें जो परिष्कार अपेक्षित था, उसे श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम० ए० न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्यने कर दिया है। एतदर्थ हम उनके आभार मानते हुए पाठकोंको पूर्ववत् इसे अपनानेकी प्रार्थना करते हैं।

आजके परिवेशमें अत्यन्त महर्घताके कारण मूल्यमें वृद्धि करनी पड़ी है। हमारी विवशताको क्षमा करते हुए पाठकगण क्षमा करें।

—प्रकाशक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाःभद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहित यदायुः ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवताओ ! हम अपने हजार-हजार कानोंसे कल्याणकारी शब्द श्रवण करें। लोक-परलोकहितकारी, सर्वोपकारी यज्ञकर्ममें समर्थ रहकर हजार-हजार आँखोंसे शुभ-ही-शुभ देखें। अपने स्थिर एवं दृढ़ अवयवों तथा दीर्घजीवी शरीरोंसे स्तुति करते हुए जीवनपर्यन्त देवताओंका हित, ज्ञानीपुरुषोंकी सेवा करते रहें।

बाहर शान्ति ! भीतर शान्ति !! सर्वत्र शान्ति !!!

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महायशस्वी और विद्वान् इन्द्र हमें विविक्त शुभकर्म करनेकी प्रेरणा देकर कल्याणभाजन बनावें। ज्ञानरश्मियोंको बिखेरनेवाले सम्पन्न सूर्यदेवता हमारी आँखोंको विविक्त शुभदर्शनमें लगाये रखें अप्रतिहत शक्तिसंपन्न एव विपत्तियोंके लिए चक्रकर्कश नाशक शब्दरूप गरुड़ हमारे कानोंको शुभ श्रवणमें प्रेरित करें और बृहतीपति वेदज्ञ वाक्पति बृहस्पति हमें कल्याणकारी वेदान्त-प्रवचनमें कल्याणकारी रीतिसे नियुक्त करें।

बाहर शान्ति ! भीतर शान्ति !! सर्वत्र शान्ति !!!

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रस्तुत ग्रन्थ एक दृष्टि

माण्डूक्य-प्रवचनकी अपूर्वता

राष्ट्रभाषा पतञ्जलि

[*श्रीस्वामी निगमानन्दजी परमहंस 'निगम बाबा'*]

भगवानपुरा (पटियाला)

गुण और गुणीका अयुत-सिद्ध सम्बन्ध होता है। न वह जोड़ा जा सकता है और न वह तोड़ा जा सकता है। वह सहजात या जन्मजात होता है। यही नैयायिकोंका नित्य सम्बन्ध समवाय है। वेदान्ती लोग इसे तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। अर्थात् कहने भरके लिए भेद, वास्तवमें अभेद। ऐसा पक्का अभेद जो भेदके भारसे कच्चे धागेकी भाँति नहीं टूटता—भेदसहिष्णु अभेद। प्रवचन और प्रवचनकारका भी ऐसा ही सम्बन्ध है। प्रवचनकार प्रवचनमें प्राण डालता है तथा प्रवचन प्रवचनकारको प्रसिद्धि प्रदान करता है **हजारो लोग रोज मर जाते हैं** यह घिसा-पिटा पुराना साँस तोड़ता हुआ-सा वाक्य है। परन्तु प्रवीण वक्ता इसमें हृदयकारी अभिनवताकी संजीवनी डालकर इसे प्राणवान्, श्रुतिमधुर एवं दीर्घजीवी बना देता है। जैसे : **नित्य नया सूर्य हजारों लाशोंको देखता हुआ शर्मके मारे समुद्रमें जा डूबता है।** संस्कृति और सभ्यताका अर्थ प्रत्येक कोशमें दिया रहता है तथा कथावाचक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुनाते भी रहते हैं। पर वह एक कानसे आता है और दूसरे कानसे निकल जाता है। किन्तु कई एक ऐसे चिन्तक कलाकार होते हैं; जो अपनी चिन्तनजात चारु प्रवचन-चातुरीसे बातको चित्तपर ऐसा चाँटा देते हैं जो भुलानेपर भी नहीं भूलती। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'जीने लिखा है कि **सभ्यता वह है जो हमारे पास है और संस्कृति वह है जो हम स्वयं हैं।**

माण्डूक्य-प्रवचनकार महाभागके प्रत्येक वाक्यमें इनकी महान् साधनाके, इनके सर्वतोमुखी स्वाध्यायके तथा इनकी प्रवचन-चातुरीके पदे-पदे दर्शन होते हैं। जैसेः—

(क) तत्त्व किसी वस्तुका वह मूल द्रव्य जिसके बिना उस वस्तुकी सत्ता न रह सके।

(ख) द्रव्यका परिमाण—आकार देशका सूचक, द्रव्यका परिणाम–परिवर्तन कालका सूचक है तथा द्रव्य स्वयं विषय है। ये तीनों देश, काल, विषय कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते।

(ग) सबका जन्म और सबकी मृत्यु 'मैं' के सम्मुख होती है। इत्यादि।

नाइलोन शैली

वर्तमानमें धार्मिक जगत्में कई प्रकारकी शैलियाँ प्रचलित हैं। विनोबाजीकी शैली है, पुराने अर्थके पेटमेंसे नया अविरोधी अर्थ निकालना। महामान्य पण्डित श्री मधुसूदन झा, पं० मोतीलाल शर्मा, भारत-धर्म-महामण्डलके संस्थापक स्वामी दयानन्दजी सरस्वती, श्रीपाद् दामोदरजी सातवलेकर, डॉ० श्री भगवानदासजी आदिकी शैली है उस पुरातन अर्थको अभिनय विज्ञानकी गोदमें बैठा देना। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथजी कविराजकी शैली है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी पुरातन भावलोकमें विहार करना। महामना श्री करपात्रीजी महाराजकी शैली है उस पुरातन अर्थको ज्यों-का-त्यों षड्लिंग आदि प्रमाणोंसे परिपुष्ट करके उच्चासन पर स्थापित करना। विरोधियोंका मुख-मुद्रण या मुन्डताड़न करनेके लिए उनका दण्ड सदा जागरूक रहता है। प्रस्तुत प्रवचनकार इस शैलीके अनुयायी होते हुए भी अपनी एक निजी विशेषता रखते हैं। ये अपनी शैलीको ऐसा झीना अभिनव-वस्त्र पहनाते हैं कि जिसमेंसे पुरातनताकी मनोहर झांकी झिलमिलाती रहती है। वह पुरातनता इस नवीनताके आवरणमें दुलहिन-सी अतिशय शोभित हो जाती है।

घूँघट पटकी आड़ दै हंसति जबै वह नार।
ससि मण्डल ते छनि कढ़त, मनु पीयूषकी धार॥

महाकवि देवकी नायिकाकी भाँति ज्यों-ज्यों **निहारिये नेरे ह्वै नैनन, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई है**। उर्दू कवियोंने भी वेदान्त-विषयक पद्य लिखे हैं। वे एकबारगी फुलझड़ी का-सा प्रकाश करके मद्धिम पड़ जाते हैं। उनमें 'ज्यों-ज्यों निहारिये' नहीं होता, जैसे :

इन्सानकी बदबख्ती, अन्दाजसे बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बन्दा नजर आता है॥

इसी आशयका विचार सागरका एक प्रारम्भिक दोहा है :

जो सुख नित्य प्रकाश विभु, नाम रूप आधार।
मति न लखै जिहिं मति लखै, सो मैं शुद्ध अपार॥

अर्थात् जो सुख नित्य (अविनाशी), प्रकाश (चेतन), विभु (व्यापकपूर्ण) नामरूप आधार (सर्वात्मक) मति आदिके अगोचर (स्वतन्त्र) है; सो सदा (बाधरहित) मैं ही हूँ—मैं आनन्दरूप हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रवचनकार कहते हैं कि मैं आनन्द रूप हूँ। आनन्द भी कैसा? अविनाशी—जो आज हो, कल हो सदा रहे। चेतन—जो प्रकाश-रूप है, अज्ञात नहीं। पूर्ण—यहाँ भी हो; सर्वत्र हो। सर्वात्मक—यह भी आनन्द हो, वह भी आनन्द हो। स्वतन्त्र—किसीके अधीन न होना पड़े। सो सुषुप्तिमें, स्वप्नमें, जाग्रत्में और मरनेके बाद भी वह अनायास बिना किसी श्रमके, उद्योगके, बिना किसी आयासके प्राप्त आनन्द मैं ही हूँ। यह पुरातन और नवीनताका संगम हृदयंगम करने जैसा है।

स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्दने भी वेदान्त-विषयक प्रवचन किये हैं। परन्तु वे अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षासे दीक्षित लोगोंके लिए उत्तम विचारोत्तेजक हैं। यदि कोई उन्हें मूल संस्कृत ग्रन्थोंसे मिलाना चाहे तो उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता। वे प्रवचन नहीं, बिलकुल लेक्चर हैं। प्रस्तुत प्रवचनकारकी सर्वशास्त्रमयी सर्वंकषा ऐसी शैली है जो अपने प्रवाहमें समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तों-को समेटती-लपेटती चली चलती है। जो व्यक्ति जितना अधिक शास्त्र, संस्कार-सम्पन्न होगा वह इसमेंसे उतना ही अधिक जीवन-सम्बल प्राप्त करेगा।

माण्डूक्य-उपनिषद्

प्रस्तुत अत्यन्त लघुकलेवर माण्डूक्य-उपनिषद् अकेला ही कैवल्यप्राप्तिके लिए अलं है। इसपर गौड़पादाचार्यकी कारिकाएँ हैं। यह उपनिषद् दृष्टिसृष्टिवादकी, अजातवादका प्रमुख प्रतिपादक है। इस सिद्धान्तमें पदार्थोंकी अज्ञात सत्ता नहीं मानी जाती। इसमें सभी पदार्थ ज्ञातसत्ताके हैं। स्वप्नमेंके पदार्थोंकी भाँति जब हम उन्हें जानते हैं तभी वे होते हैं और जब हम नहीं जानते तब वे नहीं होते। वैराग्य-विरोधी साधन-विमुख लोगोंको गौड़पादा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चार्यकी ये कारिकाएँ बहुत पसन्द आयीं। और तो और वेदविरोधी कुछ लोग इन्हें अपनी ही चीज मानने लगे। शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ लोगोंके द्वारा इन कारिकाओंके प्रचार-प्रसारसे जिज्ञासु जनतामें साधन-सम्पत्तिके प्रति अनास्था पैदा हो गयी थी। परन्तु आज वही और सही वस्तु वेदान्त-वारिधि सर्वशास्त्रपारंगत प्रस्तुत प्रवचनकारकी वाणीरूप त्रिवेणीमें, आप्लावित होकर अपने निखरे-रूपसे प्रकाशमें आ गयी है। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीकी वाणीने हिन्दीको भारतके इतर प्रान्तीय घर-घरमें पहुँचा दिया तथा हिन्दीने गोस्वामीजीको इतर प्रान्तीय भक्तजन-मण्डलीका अमूल्य मण्डन बना दिया वैसे ही प्रस्तुत प्रवचनकारने इस माण्डूक्य-प्रवचनको जन-जनके मानसका महामूल्य मुक्तामणि बना दिया तथा इस माण्डूक्य-प्रवचनने प्रवचनकारको प्रवचनकार-मण्डलीका मुकुटमणि बना दिया। इन दोनोंसे वेदान्त-सम्पत्तिकी गौरवास्पद वृद्धिमें चार चाँद लग गये।

गुणिना वचनं वचनेन गुणी गुणिना वचनेन स भाति जगत्।

यदि कालिदासजी 'मेघदूत'के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा काव्य न भी लिखते तो भी वे महाकविकी पदवी प्राप्त कर लेते। यदि प्रस्तुत प्रवचनकार भी इस प्रवचनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी जिज्ञासु जनताको न देते तो भी ये 'अद्भुत प्रवचन-प्रवीण' माने जाते। परन्तु इन्होंने बीसियों सत्-साहित्य शिरोरत्नायमान अपूर्व ग्रन्थरत्न दिये हैं, दे रहे हैं तथा देंगे। सचमुच ये एक सर्वमान्य अधिकारी विद्वान् हैं।

अधिकारी-विद्वान्

'तत्त्वानुसन्धान' आदि ग्रन्थोंमें साधन-सम्पन्न व्यक्तिको अधिकारी तथा अन्तिम देहवाले ज्ञानवान् पुरुषको अधिकारी-विद्वान्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

माना है। परन्तु यहाँका 'अधिकारी' शब्द उन दोनों अर्थोंसे भिन्न अर्थ रखता है। जब एक ही व्यक्ति एक ही भावको भिन्न-भिन्न छन्दोंमें या वाक्योंमें शैथिल्य-रहित वर्णित कर देता है तब वह अधिकारी माना जाता है।

(क) मूकं करोति वाचालं, पंगुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम्॥

(ख) मूक होय वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवरगहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन॥

(ग) बन्दौं श्रीहरि पद सुखदाई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अँधरे को सब कुछ दरसाई॥
बहरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।

(घ) सद्यो मूकः सदसि विदुषां पाटवं याति वाचाम्।
पश्यत्यन्धो जगति निखिलं वस्तुजातं सुदूरात्॥
पंगुः शृंगं शिवगुरुगिरेर्लङ्घते यत्कृपातो।
वन्दे देवं तमहमनिशं कृष्णमानन्दकन्दम्॥

यहाँ एक ही भावको भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंने भिन्न-भिन्न छन्दोंमें कहा है। प्रस्तुत प्रवचनकार तो प्रत्येक बातको कई प्रकारसे कह डालनेमें बहुत-ही सिद्धहस्त हैं। देखिए :

: (क) जहाँ कर्मेन्द्रियोंको अपनी समझा वहाँ कर्ता, जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंकी अपनी समझा वहाँ ज्ञाता और जहाँ अन्तर इन्द्रियोंको अपनी समझा वहाँ भोक्ता बन गये।

(ख) केवल सद्-अंश, परिच्छिन्न सत्‌में तादात्म्य कर्तृत्वका जनक है, परिच्छिन्न चित्‌में तादात्म्य ज्ञातृत्वका जनक है तथा परिच्छिन्न आनन्दमें तादात्म्य भोक्तृत्वका जनक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(ग) कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता, ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञाता तथा मन-बुद्धिकी उपाधिसे भोक्ता।

(घ) सदंशके अज्ञानसे कर्तृत्व, चिदंशके अज्ञानसे ज्ञातृत्व तथा आनन्द अंशके अज्ञानसे भोक्तृत्व--इन तीनोंकी भ्रांति अपने सच्चिदानन्द स्वरूपके अज्ञानसे हो रही है।

(ङ) देहमें बुद्धिकी उपाधिसे ज्ञातृत्व एवं कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्तृत्व है। मनकी सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिमें अहंभाव कर लेनेसे भोक्ता बन जाते हैं।

(च) जड़ कर्मेन्द्रियोंको अपना मानकर कर्ता, ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकाशको अपना मानकर ज्ञाता तथा फलांशमें अभिमान करके भोक्ता बन गये।

(छ) जब सत्को परिच्छिन्न माना तब कर्ता, जब चित्को परिच्छिन्न माना तब ज्ञाता तथा जब आनन्दको परिच्छिन्न माना तब भोक्ता बन गए।

अब इससे बढ़कर और सिद्धहस्तता क्या होगी? किं बहुना, प्रस्तुत प्रवचनकारका समस्त शास्त्रोंपर समान अधिकार है। क्या गीता, क्या भागवत, क्या उपनिषद्, क्या ब्रह्मसूत्र; कुछ भी हो इनके मुखमें आकर कृतार्थ हो जाता है तथा श्रोताजन उसे श्रवणपुटोंसे पान कर-करके गतार्थ हो जाते हैं।

माण्डूक्यप्रवचनके कुछ उदाहरण

१—यदि हम सुषुप्तिको न जानते तो जाग्रत् और स्वप्नसे विलक्षण एक अवस्थाका हमें ज्ञान न होता (**किञ्चिन्न इति अवेदिषम्**—कुछ नहीं था ऐसा जाना)।

२. बाहरके पदार्थ नेत्रसे दीखते हैं। नेत्र मनके द्वारा गृहीत होता है। मन-बुद्धिसे जाना जाता है तथा बुद्धिका साक्षी मैं हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३. दृश्यको छोड़कर नेत्रमें, नेत्रको छोड़कर कण्ठमें, कण्ठको छोड़कर हृदयमें तथा हृदयको छोड़कर अपनी पूर्णतामें प्रतिष्ठित होना [नेत्र जाग्रत्, कण्ठ स्वप्न, हृदय सुषुप्ति अवस्थाका प्रतीक है। इन्हें छोड़कर पूर्ण ब्रह्ममें स्थित होना ही उछलना है]।

४. जाग्रत्में तीनों शरीर क्रियाशील, स्वप्नमें दोनों शरीर क्रियाशील तथा सुषुप्तिमें एक ही शरीर बीजरूपसे रहता है।

५. अविद्यासे भेद, भेदसे राग-द्वेष, काम तथा राग-द्वेषसे ग्रहण-त्याग—कर्म अर्थात् यही संसार है।

६. द्रष्टा कभी नहीं होता। 'मैं सो रहा हूँ' यह अनुभव कभी नहीं होता। यदि अनुभव हो रहा है तो तुम जाग रहे हो। 'मैं सोया था' यह केवल कल्पनासे ही कहते हैं—बुद्धि और इन्द्रियोंके सोनेको ही अपनेपर आरोपित करके कहते हैं।

७. शब्द-स्पर्श आदि विषयभोगजन्य सुख। राजा, पण्डित आदि अभिमानजन्य सुख। प्रियवस्तुके ध्यानसे मनोरथजन्य सुख। सूर्य-नमस्कार आदि अभ्यासजन्य सुख।

(क) वस्तु-दुःख कृपणको।

(ख) भोग-दुःख लोभीको।

(ग) क्रिया-दुःख अभिमानीको।

(घ) भाव-दुःख भक्तको।

(च) स्थिति-दुःख योगीको तथा ज्ञानवान्‌को किसी प्रकारका दुःख नहीं होता।

८. सत्य—कालपरिच्छेदसे रहित। ज्ञान-विषय (वस्तु) परिच्छेदसे रहित। अनन्त-देश परिच्छेदसे रहित।

९. ब्रह्म (ईश्वर) का अनुभव दो प्रकारसे होता है—इदं-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूपसे या अहंरूपसे। इदंरूपसे ईश्वरानुभव भक्तिमार्ग और अहं-रूपसे ईश्वरानुभव वेदान्त।

१०. पदार्थोंको 'अन्य' समझनेसे असंगता तथा 'मैं' समझनेसे विश्वात्मता स्वतः हो जायगी।

११. देहासक्त—देहाभिमानी भोगासक्तके लिए कर्म (धर्मा-नुष्ठान)। सूक्ष्मशरीर (रागद्वेष) या मनोराज्यमें आसक्तके लिए उपासना या योग। कारण शरीर (अज्ञान) निद्रा या समाधिमें रस लेनेके लिए ज्ञान।

१२. (क) क्रोधादिसे वैराग्यका नाम शम।

(ख) विहित भोगसे वैराग्यका नाम दम।

(ग) कर्मसे वैराग्यका नाम उपरति।

(घ) देहसे वैराग्यका नाम तितिक्षा

(ङ) अभिमानसे वैराग्यका नाम श्रद्धा।

(छ) मनोराज्यकी शान्ति समाधान।

१३. जहाँ अन्यरूपसे विषयकी प्रतीति है वहाँ मनको ही चेतन कहते हैं और जहाँ अन्यता-रहित विषयकी प्रतीति होती है वहाँ चेतनको ही मन कहते हैं।

१४. आँखोंके सामने होनेपर भी बिना गुरुके पहचान नहीं होती—सुषुप्ति और समाधिमें मेल होनेपर भी पहचान—अपरोक्ष-ज्ञान नहीं होता। इसलिए गुरुकी परम आवश्यकता है।

१५. यदि हम अपने दुःखी होनेको जानते हैं तो हम साक्षी हैं—हमसे दुःख भिन्न है। यदि दुःखीपनको नहीं जानते तो भी हम दुःखी नहीं। कारण कि दुःखकी ज्ञानसत्ता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६. काल परिच्छेद—प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव। देश-परिच्छेद—अत्यन्ताभाव। वस्तु परिच्छेद—अन्योन्याभाव। वस्तुमें क्रमसंवित् काल, वस्तुमें स्थान संवित् देश तथा वस्तु-विषय।

१७. 'मैं'के विना 'इदं'—यहकी प्रतीति कभी नहीं हो सकती और 'इदं'के विना 'मैं' रहता है। अतः वेदान्त ब्रह्मकी इदंके साथ एकता न करके आत्मा (मैं)के साथ एकता कहता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"में भी अधिष्ठानतया वर्णन है।

१८. जैसे सब रूप सूर्यकिरणोंके वक्रीभवनसे दीखने लगते हैं; वैसे ही अकेला ज्ञान नेत्रमें आकर रूप, कानमें आकर शब्द त्वचा-में आकर स्पर्श तथा रसना—जीभमें आकर रस, नाकमें आकर गन्ध बन जाता है—एक ही अनेक रूप हो जाता है।

१९. अविद्या, काम, और कर्म—यही संसारचक्र है। धार्मिक लोग कहते हैं कि "कर्मको शुद्ध कर दो" अर्थात् कर्म शुद्ध हो जानेसे वासना शुद्ध होकर परमात्म-प्राप्ति हो जाएगी।

उपासक लोग कहते हैं कि "वासनाको शुद्ध करो" अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी वासना करो। इससे कर्म शुद्ध होंगे, कर्म शुद्ध होनेसे संस्कार शुद्ध होंगे, फिर भगवत्-प्राप्ति हो जायगी।

योगी लोग चित्तवृत्ति-निरोध करनेको कहते हैं—समाधिमें संस्कार अत्यन्त अभिभूत हो जाएँगे वासना और कर्मकी प्रवृत्ति क्षीण हो जायगी।

वेदान्त कहता है जबतक मूलमें बैठी अविद्या निवृत्त नहीं होती तबतक संसार-चक्रसे छुटकारा नहीं मिलेगा।

२०. वस्तुके रूप, रस, गन्ध आदि भोग्य नहीं बनते; किन्तु रूपाकार, रसाकार गन्धाकार वृत्ति ही भोग बनती है।

२१. संकल्पात्मक मनको 'मन', संस्कारात्मक मनको 'चित्त',

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निर्णायक मनको 'बुद्धि' तथा सञ्चालक मनको 'अहंकार' कहते हैं। समाधिमें रक्तप्रवाह तथा श्वासकी गति बन्द हो जाती है।

२२. या तो सर्वत्र 'इदं' है—अपनेसे भिन्न है, या सर्वत्र 'अहं' है—अपना स्वरूप है। यह अविचार है कि रोटी पेटमें गयी तो मेरा स्वरूप और बाहर रही तो मुझसे भिन्न।

२३. जहाँ निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों एक होते हैं; वहाँ आकृति बनायी हुई नहीं होती। किन्तु कल्पित होती है।

२४. ज्ञानसे ही भेद प्रतीत होता है। अतः ज्ञानसे भिन्न भेदकी सत्ता नहीं।

२५. सुखका सम्बन्ध-एकता, समता तथा असंगतासे है। तत्त्वदृष्टिसे एकता, चित्तभूमिमें समता तथा व्यवहारमें असंगता होनेपर दुःख नहीं होता।

२६. विषय—जो वस्तु हमें भीतरसे बाहर खींच लाए एवं बाहर अपने साथ आबद्ध करले। अर्थात् हमारे ज्ञानको नाम-रूप बना दे, वह विषय है।

२७. आरम्भवाद—भगवान्‌ने सृष्टि बनायी (नियंत्रणकी प्रक्रिया)। परिणामवाद—स्वयं भगवान् सृष्टि बन गया (होनेकी प्रक्रिया)। विवर्तवाद—भगवान् ही है, सृष्टि कुछ नहीं (सत्य वस्तुका प्रतिपादन)। 'है' के बिना 'होना' नहीं हो सकता।

बनाना—आरम्भवाद (वस्तु की गयी है)।

होना—परिणामवाद (वस्तु हुई है)।

है—विवर्तवाद (वस्तु है)।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२८. विदित—कार्यावस्था, अविदित—कारणावस्था। विदित—दृश्य, अविदित—अदृश्य। विदित—जाग्रत् और स्वप्न। अविदित—सुषुप्ति-समाधि।

२९. है—सत्, नहीं—असत्, है भी और नहीं भी—सदसत्, है और नहीं दोनोंसे भिन्न। परमात्मा इस चार प्रकारके वर्णनमें नहीं आता। क्योंकि वह इन चारों बातोंका ज्ञाता है। जिसका चार प्रकारसे वर्णन हो सके वह 'इदं' है।

३०. विषयको ग्रहण करनेवाली चेतनाका नाम ही मन है। सविषयक ज्ञानको ही अन्तःकरण कहते हैं और विषय-निरपेक्ष चेतना आत्मा है।

३१. उपासना : अन्य कल्पित वस्तुओंमें राग छोड़कर एक कल्पित पदार्थमें राग करना। योग : किसीसे भी रागद्वेष न करके चित्तवृत्तिका निरोध करना। ज्ञान : राग-द्वेषकी मूल भेद-दृष्टिको दूर करना विचारसे।

३२. प्रलयकालमें जीव अन्धकार (माया) में सो जाते—छिप जाते हैं। ईश्वर उनको ढूँढकर जगाता है। सृष्टिकालमें ईश्वर छिप गया है और जीव उसे ढूँढ रहे हैं। यह क्रीड़ा चल रही है जीवोंके साथ ईश्वरकी **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**।

जीव संसारमें आकर पदार्थोंमें लुब्ध हो जाता है। जो रूप-रस आदिमें नहीं फँसते वे ढूँढते हैं।

कोई—भक्त रोकर और नाम लेकर पुकारता है। कोई—योगी थककर आँखें मूंदकर समाधि लगाकर देखता है। कोई—ज्ञानी नेति नेति कहकर—आवरण उठाकर ढूँढ़ता है।

३३. जीवनकी शुद्धिके लिए 'कर्म' मनकी शुद्धिके लिए 'उपासना' तथा बुद्धिको विश्राम देनेके लिए 'योग'।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्' पदार्थमें स्थित होनेके लिए उपासनाका वर्णन तथा 'त्वं' पदार्थमें स्थित होनेके लिए योगका वर्णन है। कोशोंका वर्णन है 'त्वं' पदार्थके ज्ञानके लिए तथा भूतों (संसार) का वर्णन है 'तत्' पदार्थके ज्ञानके लिए। संसार उपाधि हैं 'तत्' पदार्थकी।

३४. संसारके कारणका विचार करनेसे मन कार्यसे हट जाता है। भेद दृष्टि दूर हो जाती है। चेतनका विचार करनेसे जड़ता दूर हो जाती है। करणरूप सत्ता तथा द्रष्टा रूप सत्ताकी एकताका विचार करनेसे मृत्युका भय दूर हो जाता है। क्योंकि सत्स्वरूप चेतन अविनाशी है।

३५. तत् पदार्थपर दृष्टि रखनेवाला भक्त और 'त्वं' पदार्थपर दृष्टि रखनेवाला ज्ञानी।

३६. सच्चिदानन्द—मैं हूं सत्, मैं अपनेको जानता हूँ चित् मैं अपनेको प्यार करता हूं आनन्द।

३७. अनुभव अनु—बाद (पीछे) भव (होना)। प्रत्येक वस्तु, क्रिया, भावके होने के पीछे जो ज्ञान है उसे अनुभव कहते हैं ? समाधि, विक्षेप, निखिल दृश्य जिसे ज्ञात हो रहे हैं वह अनुभव है।

३८. तमोगुणकी निवृत्तिके लिए कर्मयोग—धर्मानुष्ठान। रजोगुण (वक्षेपकी) निवृत्तिके लिए उपासना। अन्यत्वको निवृत्तिके लिए योग। अपनी पूर्णताके प्रदिपादनके लिए ज्ञान उपयोगी है।

३९. 'अन्य' के रूपमें जगत्का मूल कारण ढूँढ़नेसे जड़तापर पहुँच जाते हैं और 'अहं' के रूपमें परमात्माको ढूँढ़नेसे चेतनतापर पहुँच जाते हैं। अन्यके रूपमें जो ईश्वरको चेतन मानते हैं, उनके पास अनुमान तो है, पर अनुभूति नहीं। श्रद्धाके कारण चेतन कहो अथवा अश्रद्धाके कारण जड या शून्य।

४०. जब यह कल्पना करते हैं कि सृष्टि अन्यमें दीख रही है, तब यह ब्रह्मका 'विवर्त' है। जब यह कल्पना करते हैं कि सृष्टि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुझमें दीख रही है तब यह अपनी 'दृष्टि' है अर्थात् त्वंपदार्थकी प्रधानतासे सृष्टि दृष्टि है और तत्पदार्थकी प्रधानतासे सृष्टि विवर्त्त है।

४१. सुख पदार्थमें नहीं, ज्ञानमें है। किसी दवासे जीभको शून्य कर देनेपर स्वादके ज्ञानके बिना क्या सुख होगा? कभी नहीं।

४२. लोभकी निवृत्तिके लिए धर्मका उपदेश। भयकी निवृत्तिके लिए उपासनाका उपदेश। दुःखकी निवृत्तिके लिए ज्ञानका उपदेश।

लोभ नहीं तो धर्मकी, भय नहीं तो उपासनाकी, दुःख नहीं तो ज्ञानकी आवश्यकता नहीं।

४३. भोगमें संयम, क्रियामें संयम तथा इच्छामें संयमको अनीश्वरवादी 'कर्तव्य' कहते हैं। ईश्वरवादी उसे 'धर्म' कहते। हैं। धर्म-भोग (इन्द्रिय) अर्थ क्रियापर नियन्त्रण। योग : मनपर नियन्त्रण। उपासना : रागपर नियन्त्रण।

४४. इच्छाकी पूर्ति करके होनेवाला आनन्द वस्तु-परतन्त्र है और इच्छाको मिटाकर होनेवाला आनन्द स्वतन्त्र है। यही हमारा रूप है। इसीके ज्ञानसे सब दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

४५. जहाँ ज्ञानका विषय अन्य होता है, वहाँ ज्ञानका फल 'क्रिया' होती है (क्रिया, उपासना, अभ्यासका प्रेरक या निवर्तक ज्ञान होगा)। जहाँ ज्ञानका विषय अपना स्वरूप होता है वहाँ ज्ञान स्वयं फलस्वरूप होता है (स्वरूपज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता)।

४६. भूताकाश : पाञ्चभौतिक शरीरकी उपाधिवाला। चित्ता-काश : स्वप्नमें कल्पित दृश्यकी उपाधिवाला। प्रकृत्यकाश : (कारणकाश) सुषुप्तिमेंके आकाशवाला। चिदाकाश : शुद्ध चिन्मात्र, द्रष्टा-दृश्यके भेदसे रहित। यही अपना स्वरूप है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४७. तत् पदार्थकी उपासना आभासवादवाली होती है और त्वं-पदार्थकी उपासना दृष्टिसृष्टिवादवाली होती है।

४८. वृत्तिमात्रसे असंग होनेमें वेदान्तका तात्पर्य है। अतः ज्ञानवान् सर्वज्ञ नहीं होता।

४९. आनन्दको अपनेसे अन्य समझना 'भक्ति' तथा आनन्दको अपना स्वरूप समझना 'आत्मरति' कहलाती है।

५०. भक्तिवाले—दुःख और आनन्दका विवेक करते हैं कि 'संसार दुःखरूप है और परमात्मा आनन्दरूप है'। सांख्य-योग-वाले—चेतनका विवेक करते हैं कि 'मैं द्रष्टा चेतन हूँ और द्रश्य जड़ है'। वेदान्ती—सत्ताका भी विवेक करते हैं कि 'मैं सत्स्वरूप हूं और मुझसे भिन्न सब असत्'।

५१. मन और बुद्धिका अर्पण विषयरूप भगवान्‌में नहीं होता। क्योंकि सुषुप्तिसे भगवान्‌ही मनबुद्धिके अर्पित हो जाएँगे। अतः आश्रयरूप भगवान्‌में ही मन-बुद्धिका अर्पण, चिन्तन विजातीय प्रत्ययरहित सजातीय वृत्ति-प्रवाहरूप निरन्तर आत्मा-कारवृत्ति। बुद्धिका अर्पण-भावना; तीनों अवस्थाओं तथा पाँचों कोशोंका विवेक।

५२. खाकर सुखी होनेवाला 'जीव' खिलाकर सुखी होनेवाना ईश्वरोपम' तथा खाए-खिलाए विना सुखी रहनेवाला 'ब्रह्म'।

५३—उत्पन्न होनेवालेसे पहले कुछ होता है और नष्ट होने-वालेसे वादमें कुछ रहता है। जिसके पहले कुछ नहीं वह 'अनादि' और जिसके वादमें कुछ नहीं वह 'अनन्त'।

५४—वैज्ञानिक जगत्‌का विचार करते हैं। भक्तलोग जग-दीश्वरका विचार करते हैं। दार्शनिक जीव (अहं) का विचार करते हैं।

वैज्ञानिक जड़मेंसे चेतनकी उत्पत्ति मानने हैं। भक्तलोग चेतन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(परमात्मा) मेंसे जड़की उत्पत्ति मानते हैं। ज्ञानी **सर्वोत्तमाहं-मतिशून्यनिष्ठा** मानते हैं।

५५. इच्छाकी शुद्धि परमात्मा विषयक चिन्तनसे होती है। क्रियाकी शुद्धि विश्वात्माकी सेवासे होती है। बुद्धिकी शुद्धि परमात्माके बोधसे होती है।

कहाँतक लिखूँ। सारेका सारा ग्रन्थ सूक्तियों तथा युक्तियोंसे भरा पड़ा है। पण्डितप्रकाण्ड प्रवचनकारने अपना निर्भ्रान्ति तपः-पूत ज्ञान-विज्ञान मुक्तवाचासे बाँट दिया है अब जिज्ञासुजनोंको चाहिए कि वे नित्यप्राप्त सत्-चित् आनन्दरूप अपने स्वरूपको भूल जानेकी भूलपर भी दिल खोलकर खूब हँसें।

सौ बार तेरा दामन हाथोंमें मेरे आया।
जब आँख खुली देखा, अपना ही गरेबां है॥

विद्वानोंको चाहिए कि वे सुख-दुःखका विवेचन, मनका निरूपण, दर्शनोंकी उपयोगिता, सृष्टिकी उत्पत्तिविषयक मत-मतान्तर, आभासवाद, अवच्छेदवाद-दृष्टिवादकी परिभाषाएँ तथा उनका अन्यान्य भेद, 'अहं' शब्दके अनेक अर्थ आदि विषय मूल ग्रन्थमें ही मनभर देखनेकी गुणग्राहकता दिखाएँ।

यदि यह बात सत्य है कि **किसी राष्ट्रकी उन्नति छोटे विचारोंके बड़े लोगोंपर निर्भर नहीं होती; किन्तु बड़े विचारोंके छोटे लोगों-पर निर्भर होती है** तो मैं राष्ट्रसे या राष्ट्रकी प्रतिनिधि सरकारसे बलपूर्वक कहूँगा कि वह ऐसे सत्साहित्य प्रचारक एवं प्रसारक प्रकाण्ड विद्वान्‌का योग्य सम्मान करके अपने कर्त्तव्यका पालन करे।

मैं ऐसे सनातन धर्मकी विभूति विशिष्ट विद्वान्‌के दीर्घायुष्यकी भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ जिससे वे अधिकसे अधिक जिज्ञासु-जनोंका पथ आलोकित करते रहें।

॥ ॐ तत्सत् ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

॥ ॐ ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्ति-पाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

सर्वँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकर इति ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्नतिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

॥ अथर्ववेदीया माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषय-सूची

श्री मारवाड़ी सेवा संघ पुस्तकालय ... - वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रम	विषय	पृष्ठ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ॐ

माण्डूक्य-प्रवचन

मंगलाचरण

(१)

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान्विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥

प्रज्ञान क्या है ?

जो सर्वाधिष्ठान, सर्वोपादान तत्त्वतः निर्विकार अद्वितीय, किन्तु विवर्त्तमानरूपसे सर्व है, उसको कहते हैं, 'ब्रह्म'। इस ब्रह्मका स्वरूप है प्रज्ञान। प्रज्ञानका अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान। ज्ञानमें प्रकृष्टता क्या है ?

एक ज्ञान वह होता है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद होता है। जैसे हम इस मालाको देखते हैं तो माला ज्ञेय है। त्वचा अथवा नेत्र इसके ज्ञानके कारण, साधन हैं और आँखवाला मैं इसका ज्ञाता, जाननेवाला हूँ। इस ज्ञानमें ज्ञेयरूप माला और ज्ञाता-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप अहम् ये दोनों भेद बने रहेंगे। जब-जब मालाका ज्ञान होगा, तब-तब माला होगी ज्ञेय और उसका ज्ञाता मैं बना रहूँगा। यह जो ज्ञान होगा, वह द्वैतसे युक्त होगा। इस ज्ञानमें ज्ञेयरूप माला और ज्ञातारूप अहम् पृथक्-पृथक् बने रहेंगे। इस प्रकार यहाँ ज्ञान खण्डित, टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसका एक भाग ज्ञेय और दूसरा भाग ज्ञाता बन गया। इसी प्रकार मालाके स्थानपर सन्तरा हो तो ज्ञेय सन्तरा हो जायगा। ज्ञेयमें माला, सन्तरा, मौसम्बी आदि भेद होते चले जायँगे। यह है भेद-ज्ञान। यह ज्ञानका उत्तम रूप नहीं हुआ।

ज्ञानका श्रेष्ठ रूप वह है, जो ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित केवल ज्ञान ही ज्ञान हो। जहाँ अलगसे कोई जड़ ज्ञेय नहीं, उस ज्ञेयको जाननेवाला (ज्ञाता) अहम् अलग नहीं, केवल ज्ञान—शुद्धज्ञान है, चेतन ही चेतन है। उसको कहते हैं प्रज्ञान या श्रेष्ठ ज्ञान।

इस प्रज्ञानमें 'अंशु' क्या है? वास्तवमें उसमें अंशु नहीं हो सकता। अंशुका अर्थ है किरण। जैसे सूर्यकी किरणें होती हैं और वह उन किरणोंका विस्तार करता है, वैसे ब्रह्मस्वरूप प्रज्ञानमें सूर्यके समान कोई किरणें नहीं। सूर्य एक स्थानमें रहता है और दूसरे स्थानोंमें अपनी किरणें फैलाता है। कभी एक दिशामें तो कभी दूसरी दिशामें; कभी ऊपर तो कभी नीचे प्रतीत होता है। कभी दीखता है तो कभी नहीं भी दीखता। सूर्यका विरोधी अन्धकार भी है ही। ऐसी अवस्था में सूर्य या चन्द्रमाकी किरणों-के समान प्रज्ञानकी किरणें नहीं हो सकतीं। अतः यहाँ अंशुका अर्थ है चिदाभास।

चिदाभासका अभिप्राय है, मनकी स्फुरणाएँ—मनरूपी किरणें। संज्ञान, विज्ञान, अज्ञान आदि जितने हैं, सब प्रज्ञानके ही नामधेय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। भिन्न-भिन्न शब्दों से जो भिन्न-भिन्न चेतना ज्ञात हो रही है, उसके भीतर वे ही प्रज्ञानकी किरणोंके समान किरणें हैं। उनका वितान तना हुआ है। जितने भी स्थिर और चर पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं, सबमें वही व्याप्त है।

व्याप्य-व्यापकता

व्यापकताको भी समझना चाहिए। एक व्यापकता होती है लोहेके गोलेमें अग्निके समान। लोहेके गोलेको अग्निमें डाल दें और वह लाल हो जाय तो कहेंगे कि 'लोहेके गोलेमें अग्नि व्याप्त हो गयी।' इसमें अग्नि अन्य और लोहेका गोला अन्य है। यहाँ अन्यमें अन्य व्यापक हुआ। इसी तरह 'ज्ञानस्वरूप परमात्मा संसारकी वस्तुओंमें व्याप्त है'का साधारण जन यही अर्थ समझता है कि संसार लोहेका गोला है और परमात्मा है अग्निके समान।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एक व्यापकता यह है। इसे 'मूर्तसंयोगित्वरूप' व्यापकता कहते हैं। अर्थात् स्थूल वस्तुमें कोई सूक्ष्म वस्तु व्याप्त हो रही है। लेकिन इस अर्थमें वेदान्तमें 'व्यापक' शब्दका प्रयोग नहीं होता। वेदान्तमें व्यापक शब्दका प्रयोग इस अर्थमें होता है, जैसे कार्यमें उपादान व्यापक है। कार्य है घड़ा और मिट्टी है उपादान। घड़ेमें मिट्टी व्याप्त है अर्थात् घड़ा मिट्टीरूप ही है। मिट्टीमें केवल कुछ आकार बन गये हैं घड़ा, सकोरा आदि। व्याप्य और व्यापक अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। अर्थात् कारण ही जब कार्यमें अनुस्यूत होता है, तब उसे व्यापक कहते हैं।

श्री ... वाराणसी
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दृष्टान्तोंका क्रम

लेकिन यह व्यापकता भी शांकरवेदान्तमें मुख्यरूपमें स्वीकार नहीं की जाती। शांकरवेदान्त जो व्यापकता मानता है, वह दूसरी ही है। कैसी है वह व्यापकता ? जैसे प्रतीयमान सर्पमें रज्जु व्याप्त होती है। इसको प्रारम्भसे लो। मिट्टीका दृष्टान्त देते हैं तो कहते हैं : जैसे घड़ेमें मृत्तिका व्याप्त है। जलका दृष्टान्त देते हैं तो कहते हैं : जैसे तरंगोंमें जल व्याप्त है। अग्निके दृष्टान्तमें कहते हैं : जैसे ज्वाला अथवा चिनगारीमें अग्नि व्याप्त है। वायुके दृष्टान्तमें कहते हैं : जैसे प्राणवायुमें वायु व्याप्त है। आकाशके दृष्टान्तमें कहते हैं : जैसे घटाकाशमें महाकाश व्याप्त है। जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सबमें दिक्तत्त्व व्याप्त है, भेद कल्पित हैं, दिशा एक है; क्योंकि सर्वत्र सब है। जैसे भूत, भविष्य, वर्तमानमें काल व्याप्त है। त्रित्व कल्पित है, एकत्व अधिष्ठानकी सत्तासे सत्तावान् है। यह पंच-महाभूतोंकी बात हुई।

इसके आगे चलो तो स्वप्नके दृश्यमें मन व्याप्त है, स्वप्नके दृश्यों एवं मनोरथके पदार्थोंमें मन व्याप्त है। मनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। यह मनकी व्यापकता हुई। जाग्रत् और स्वप्नमें जितने भी नाम-रूप दिखायी पड़ते हैं, सब-के-सब बीजरूपसे सुषुप्तिमें होते हैं। अतः सुषुप्ति हुई बीजात्मिका, संस्कारात्मिका। सुषुप्ति है स्थित, अतः अपनेमें संस्काररूपसे जाग्रत् एवं स्वप्नके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वह व्याप्त है। यह स्थितिका दृष्टान्त हुआ।

इसके आगे भ्रान्तिका दृष्टान्त है। जैसे रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है या जैसे आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है। यहाँ प्रतीय-मान सर्प अथवा प्रतीयमान नीलिमामें उसका अधिष्ठान रज्जु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथवा आकाश जैसे व्याप्त है, वैसे ही दिखलायी पड़ रही, इस सम्पूर्ण चराचर सृष्टिमें एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। इसीलिए तेजोबिन्दूपनिषद्में व्यापकताके भावको मिथ्या बताया गया है : **व्याप्य-व्यापकता मिथ्या ।**

रज्जु-सर्प निरुपाधिक भ्रमका दृष्टान्त है। अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर सर्पकी प्रतीति नहीं होती। आकाश-नीलिमा सोपाधिक भ्रमका दृष्टान्त है। आकाशरूप अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर भी जब-तक नेत्र रहेंगे तबतक नीलिमाकी प्रतीति होती रहेगी। वस्तुतः रज्जु, आकाशादि भी कल्पित अधिष्ठान हैं। वास्तविक अधिष्ठान तो ब्रह्मचैतन्य ही है।

ब्रह्म और विश्वकी ऐसी व्यापकता नहीं है कि एक भिन्न वस्तु में कोई दूसरी भिन्न वस्तु व्याप्त हो रही हो। ब्रह्म ही विश्वरूपमें प्रतीत हो रहा है। यही कार्य-कारण भी बन रहा है। यही प्रतीय-मान कार्यमें प्रतीयमान कारणके रूपमें व्यापक ज्ञात हो रहा है। वास्तवमें ब्रह्ममें व्याप्य-व्यापकता नहीं है।

अपरोक्ष ज्ञानकी रीति

अब उसे समझानेके लिए कहते हैं : **स्थिरचरनिकरव्यापिभि-र्व्याप्य लोकान् ।** जाग्रत्‌रूप लोक, स्वप्नरूप लोक, सुषुप्तिरूप लोक ये सब प्रज्ञानमें ही हैं। आत्माके तीन निवास हैं और ये ही लोक हैं। उस परब्रह्म परमात्माको आत्मासे अभिन्नरूपमें, प्रत्यक्-चैतन्यके रूपमें ही स्मरण करते हैं। ऐसा न हो तो उसकी अप-रोक्षता कभी नहीं होगी।

हमारे ज्ञानकी प्रणाली यही है कि उसी वस्तुका अपरोक्ष ज्ञान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता है, जिसके साथ हम अभिन्न हो जाते हैं। जिससे हम एक नहीं होंगे, उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता। यहाँतक कि जब हम घड़ेको जानते हैं, तो घड़ेसे एक हो जाते हैं। प्रमातावच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जब प्रमाणवृत्तिरूप नलिका-द्वारा प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है, तब प्रमेयका ज्ञान होता है। जैसे एक स्थानसे पानी नाली द्वारा खेतमें जाकर खेतकी क्यारीमें व्याप्त हो जाता है, वैसे ही हमारा चैतन्य वृत्त्या-रूढ होकर, प्रमाणारूढ होकर, प्रमेयदेशमें जाकर प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यसे जब एक हो जाता है तब ज्ञान होता है। प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यसे एक हुए बिना प्रमेयका बोध नहीं हो सकता।

इन्द्रियवृत्ति विषयमें जाय अथवा विषय इन्द्रियवृत्तिमें आये, इस विवादमें न पड़कर यह जानना आवश्यक है कि वृत्तिके विषयाकार हुए बिना विषयका ज्ञान नहीं होता। अर्थात् वृत्तिस्थ विषयका ही ज्ञान होता है। जब विषय वृत्तिस्थ होता है, दूसरे शब्दोंमें वृत्ति विषयाकार होती है, तब स्वयं ही बिना किसी प्रयासके वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही विषयावच्छिन्न चैतन्य है। वही दोनोंकी एकता है; क्योंकि वृत्ति और विषय दो देशोंमें नहीं हैं। वृत्ति और देश भी दो नहीं हैं। केवल दो-तीन रूपोंमें देश, काल विषयकी स्फुरणा ही हो रही है। इसका अभिप्राय यह कि अधिष्ठान-दृष्टिसे वृत्ति देश, काल, वस्तु सब प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ही स्फुरण है।

जिससे हम एक न हो जायँ, उसको समझ नहीं सकते। वह कोई न कोई अपनी बात छिपाकर रखेगा। इसी प्रकार जबतक हम ब्रह्मसे एक नहीं हो जाते, तबतक ब्रह्मका ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान नहीं होगा तो बन्धकी भ्रान्ति निवृत्त नहीं होगी। अविद्याकी निवृत्ति नहीं होगी तो मोक्ष दूर है, यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्ध है। अतः यदि परब्रह्म परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना है तो अपने व्यक्तित्वको छोड़कर परमात्मासे एक होना पड़ेगा। यही प्रणाली है।

वेदान्तकी विलक्षण प्रणाली

अब एकत्वका निरूपण करनेके लिए तुरीय वस्तुके रूपमें ही परमात्माका निरूपण करते हैं। वेदान्तकी यह प्रणाली है कि हमें जहाँ पहुँचना है, वहींसे वर्णन प्रारम्भ नहीं करते। हम जहाँ रह रहे हैं, वहाँसे प्रारम्भ करते हैं। जैसे हमें अहमदाबादसे बम्बई जाना है। बम्बईसे वर्णन प्रारम्भ करें तो वह कल्पना ही कल्पना होगी, क्योंकि अभी बम्बई देखी नहीं। अहमदाबादसे एक-एक पग बढ़ाते चलें तो हम मार्गका अपरोक्ष कर लेंगे और ठीक बम्बई भी पहुँच जायँगे। अतः हम इस समय जहाँ बैठे हैं, वहींसे वेदान्तका विचार प्रारम्भ करें।

हम जाग्रत्-अवस्थामें हैं। इसमें ब्रह्म क्या कर रहा है? ब्रह्मका जाग्रत्-अवस्थामें क्या स्वरूप है : **भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान्।**

लेकिन इस व्याख्याको आगे बढ़ानेसे पूर्व माण्डूक्योपनिषद्का थोड़ा-सा परिचय प्राप्त कर लें। यह अथर्ववेदकी उपनिषद् है और अत्यन्त लघु कलेवर है। इसमें केवल बारह मन्त्रोंमें ओंकारका अभिधानप्रधान तथा अभिधेयप्रधान दो प्रकारका निर्देश किया गया है। एक तो प्रणवको प्रतीक, आलम्बन, उपास्य बनाकर। जैसे : विचारके लिए अ, ब, स, कक्षाएँ बना लेते हैं, वैसे ही ओंकारके अकार, उकार, मकार तथा अमात्र—ये चार भेद करके परमात्माके स्वरूपका इसमें वर्णन है। ओंकारमें यह अकार, उकार आदि तथा परमात्मामें विश्व, तैजस आदि भेद करके इस उपनिषद्ने वर्णन किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस उपनिषद्का नाम 'माण्डूक्योपनिषद्' है। इसका यह तात्पर्य है कि इस उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं माण्डूक्य। ये मंडूक ऋषि-के वंश या गोत्रमें हुए हैं, इसीलिए 'माण्डूक्य' कहे जाते हैं। मण्डूक कहते हैं मेंढकको। ऋग्वेदमें एक आख्यायिका आती है।

एकबार देशमें अवर्षण हो गया। दुर्भिक्षसे जनता त्रस्त हो गयी। वसिष्ठ ऋषिने अपनी तपस्या एवं समाधानसे अनुप्राणित अन्तर्दृष्टिसे वृष्टि-सूक्तका दर्शन किया। उस समय मण्डूकोंने भी सूखी मिट्टीमेंसे टर्र-टर्रकी ध्वनिकर वसिष्ठ ऋषिका अनुमोदन किया। वशिष्ठजीने इस मण्डूक-ध्वनिको वर्षाके लिए शुभ शकुन समझा। उनकी कृपासे मण्डूक और उनके वंशज भी मन्त्रद्रष्टा हुए। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत एवं रामचरितमानसमें भी ब्रह्मचारियोंकी वेदध्वनिके साथ मण्डूककी तुलना की गयी है।

मेंढक चलता नहीं, उछलता-कूदता है और उछलकर अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है। इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें बैठा जीवात्मा उछलकर एकबारमें परमात्माके पास पहुँच जायगा, इसे कहते हैं 'मण्डूकप्लुति' न्याय। इसमें चींटीकी भाँति एक-एक पग रखकर चलनेकी आवश्यकता नहीं। मेंढकके उछलनेमें एक विशेषता होती है—वह पहले अपने पिछले भागसे उठता है, फिर थोड़ा ऊपर उठकर अपने लक्ष्यपर जा गिरता है। अब देखिये कि हमें पर-मात्माकी प्राप्तिके लिए किधर जाना है? आगे नहीं जाना है। आगे तो वस्ती है, संसार है। उसे छोड़कर पीछे जाना है। दृश्यको छोड़कर नेत्रमें आ जाओ! नेत्रको छोड़कर कंठमें आओ। कंठको छोड़कर हृदयमें आओ और हृदयको छोड़कर अपनी पूर्णतामें प्रतिष्ठित हो जाओ। आँख जाग्रत्-अवस्था, कंठ स्वप्नावस्था, और हृदय सुषुप्तावस्थाका प्रतीक है। उन्हें छोड़कर पूर्णब्रह्म पर-मात्मामें स्थित हो जायँ, यही उछलनेकी रीति है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह रीति सामने बढ़नेकी प्रवृत्तिकी नहीं है। यह निवृत्त होनेकी रीति है। इसीसे इसे 'मंडूकन्याय' कहते हैं। इसमें बहुत देर लगती होगी, यह न समझें। वर्णन ऐसा है कि घोड़ेके रिकाव में पाँव रखा और घोड़ेपर चढ़े, इतनी भी देर नहीं अथवा फूलकी पंखुड़ीको हाथमें लेकर मसल दिया, इतनी भी देर नहीं। आँखकी पलकको गिराना और उठाना भी कुछ श्रमसे होता है, किन्तु पर-ब्रह्म परमात्माको प्राप्त करना उतना भी कठिन नहीं है। कठिनाई वहाँ होती है जहाँ दूसरेको पाना हो। जहाँ अपनेको ही पाना है वहाँ खोये हुएको तो नहीं, मिले हुएको ही पाना है। हम मिले हुएको ही खोया हुआ मानते रहे हैं। यह केवल भ्रमसे, अविद्यासे मान रहे हैं। अतः आओ, हम उस परमात्माको ढूँढ़ें।

इस ढूँढ़नेकी माण्डूक्योपनिषद्की जो शैली है, उसपर भी ध्यान दें। यह माण्डूक्योपनिषद् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि सभी वैदिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत है। यहाँतक कि इसके आगम-प्रकरणकी कारिकाओंको भी सभी स्वीकार करते हैं। माण्डूक्योपनिषद्पर ये कारिकाएँ श्रीगौड़पादा-चार्यजीकी हैं। कारिकाओंमें **इति वेदान्तनिश्चयः** ऐसा बार-बार आया है। इसके अतिरिक्त अनेक कारिकाओंमें भिन्न-भिन्न श्रुतियों-के प्रतीक ग्रहण करके उनकी विशद व्याख्या की गयी है। उदाहरणार्थ : **सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते** (कारिका ३. २५) आदि। कारिकाके चारों प्रकरणोंपर श्रीशंकराचार्यका भाष्य उपलब्ध है। भाष्यके आमूलचूल व्याख्याता श्रीआनन्द-गिरिकी टीका भी प्राप्त होती है। भगवान् श्रीशंकराचार्यके साक्षात् शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्यने अपनी 'नैष्कर्म्यसिद्धि'के चतुर्थ प्रकरणमें इकतालीसवें श्लोकके रूपमें इस कारिकाको उद्धृत करके श्रीगौड़-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पादाचार्यका नाम स्पष्टरूपसे उल्लिखित किया है और उन्हें अपने पूज्य गुरुओंकी श्रेणीमें बताया है। उन्होंने अपने 'बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिक' में **मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः, तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा, यदा न लीयते चित्तम्** आदि अनेक श्लोकोंका उद्धरण देकर बार-बार श्रीगौड़पादाचार्यका नाम लिया है। इससे सिद्ध है कि यह वेदान्तका ही ग्रन्थ है। हमारे बौद्धभाई कहते हैं कि यह ग्रन्थ हमारे सम्प्रदायके अनुसार है, पर यह बात सर्वथा ही असंगत है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थके मूलशरीरमें ही स्थान-स्थानपर श्रुति शब्दका उल्लेख करके उसके अभिप्रायका निर्णय किया गया है।

हम जाग्रत्-अवस्थामें हैं, यहाँसे विचार प्रारंभ करें। जाग्रत्-अवस्थामें लोग ठीक-ठीक विचार नहीं करते। एक शरीरमें जो जागना, स्वप्न देखना और सुषुप्ति होती है, वह तो जीवाभासकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति हैं। जाग्रत्-अवस्थाका विवेक भी हम स्वप्न-में देखते हैं। स्वप्नमें विशाल पृथ्वी, उमड़ते समुद्र, सूर्य-चन्द्र, वायु-आकाश सभी कुछ होता है। जो न्यायशास्त्रका विद्वान् है, उसे स्वप्नजगत्के कर्ताके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है और वह समझता है कि यह जगत् ईश्वरने परमाणुओंसे बनाया है। सांख्यशास्त्रके विद्वान्‌को स्वप्नमें स्वप्नका संसार—प्रकृति-पुरुषका विलास दीखता है। पूर्वमीमांसाका जिसने अध्ययन किया है, उसे स्वप्नमें भी सब कर्मोंका विस्तार जान पड़ता है। लेकिन भाई! यह स्वप्न पूरा-का-पूरा हमारे ही चित्तकी एक अवस्था है।

स्वप्नमें हम गंगा-स्नान करने जा रहे हैं। कोई सेठजी हमें मार्गमें मिलते हैं। उनकी सारी सुख-सम्पत्ति हमें उनके पूर्वजन्मके कर्मोंका फल प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि आगे परलोक बनानेके लिए हम दान-पुण्य करते हैं। यहाँ हमारा गंगास्नान, सेठ-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीका मिलना, उनके पूर्वजन्मके कर्मोंकी भावना, इस जन्मका दान-पुण्य और परलोककी चिन्ता, यह सब स्वप्नावस्थाका विलास है या नहीं? स्वप्नमें हमने जो अपनेको गंगास्नानके लिए जाते देखा, वह हमारा अपना शरीर भी स्वप्नका विलास है या नहीं? उस शरीरमें भी खाना होता है, सोना होता है, चलना-फिरना होता है, धर्म-अधर्म होता है तो यह सब उस समय सत्य प्रतीत होता है या नहीं?

इसी प्रकार जो जाग्रत्-अवस्था दिखायी पड़ती है, उसके विषय में विचार करें। हमारा यह जो शरीर यहाँ बैठा और सुन रहा है, यह जाग्रत्-अवस्थाका विलास है। यह पूरी पृथ्वी, समुद्र, नदियाँ, ये बड़े-बड़े नगर, सूर्य, अग्नि, वायु, आकाश और हमारा न्यायशास्त्र, सांख्य, मीमांसा आदि शास्त्र एवं पूर्वजन्म, उत्तरजन्म आदि—सब-का-सब पूरा संसार ही जाग्रत्-अवस्था-का विलास है।

अब आप इस माण्डूक्योपनिषद्में वर्णित जाग्रत्-अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्थाके साथ इसका मिलान कीजिये। माण्डूक्योपनिषद् एकजीववादका ग्रन्थ है। 'विचार-सागर' और 'पंचदशी'में जो अनेक-जीववाद, सृष्टि-दृष्टिवादकी प्रक्रिया है, वह इसमें नहीं है। इसमें दृष्टि-सृष्टिवादकी प्रक्रिया है। अतः समझना पड़ेगा कि यहाँ द्रष्टा एक है; इसलिए सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्था इस द्रष्टाकी एक अवस्था, दृष्टिमात्र है। अब आप जाग्रत्को पारकर स्वप्नावस्थामें और उसको पारकर सुषुप्तावस्थामें आ जाइये। सुषुप्तावस्थाको भी छोड़िये और अपने तुरीयस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाइये। इस प्रकार यह माण्डूक्योपनिषद् आपको तत्काल पर-ब्रह्म परमात्माका ज्ञान कराने एवं तद्विषयक अविद्याको नष्ट करनेके लिए प्रकट हुई है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हम इस स्थूलशरीरमें रहकर स्थूलभोगोंको भोगते हैं। भोगोंको भोगनेके करण इन्द्रिय हैं। इनमें यह बहिरिन्द्रिय और यह अन्तरिन्द्रिय, यह सब केवल मानना है; क्योंकि जब तुम अपने शरीरको मानोगे तो केवल चमड़ेको सीमा बनाकर ही कह सकोगे कि यह बाहरी इन्द्रिय है और यह भीतरी इन्द्रिय। लेकिन यदि सम्पूर्ण आकाशको ही अपना शरीर मानो तो इस शरीर-का न बाहर है और न भीतर। इसमें बाहर-भीतर माननामात्र है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषद्का सार भाष्यकारने उपर्युक्त दो श्लोकोंमें दे दिया है।

कोषोंका प्रत्यक्ष दर्शन

अब इसी प्रसंगमें आप विवेक करते जाइये। यह हाथ है। इस हाथमें पाँचों कोष हैं। कैसे? यह हड्डी, मांस, चमड़ा इसका अन्नमय कोष है। लकवा हो जानेपर हाथ उठाये नहीं उठता। उस अवस्थामें जो हाथ नहीं उठता, वह अन्नमय कोष है। जो हाथ उठानेकी शक्ति उस समय हाथसे चली गयी, वह शक्ति हाथका प्राणमय कोष है। क्रियाशक्तिका नाम प्राणमय कोष है। लेकिन हाथ उठानेकी शक्ति भी अपने आप कार्य नहीं करती। जब हाथ उठानेकी इच्छा होती है, तभी हाथ उठता है। इस इच्छाका नाम मनोमय कोष है। तुम हाथ हो, हाथ उठानेकी शक्ति हो या इच्छा हो? इच्छाएँ तो सैकड़ों होती हैं—कभी हाथ उठानेकी इच्छा, कभी गिरानेकी इच्छा; कभी हाथ हिलाने या समेटनेकी इच्छा। तुम सैकड़ों तो हो नहीं सकते, तब तुम इच्छा भी नहीं हो। अब जो हाथ उठानेवाला हाथ उठानेकी इच्छाका अभिमान है, उसका नाम विज्ञानमय कोष है। अब देखो कि यह कर्ता सुषुप्तिमें कहाँ चला जाता है? उस समय तो 'अहं'भाव भी नहीं रहता। इच्छा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या हाथ उठाने-गिराने, समेटने-हिलानेमें जो सुख मिलता है, वह तुम हो ? वह सुख आनन्दमय कोष है, लेकिन वह सुख भी सदा नहीं रहता। हाथ उठाने, गिराने आदिमें सदा सुख नहीं मिलता।

इस प्रकार इस शरीरमें हड्डी, मांस, चर्म आदिके रूपमें जो अन्नमय कोष है, वह भी तुम नहीं हो। क्रिया करनेकी जो शक्ति है, वह प्राणमय कोष तुम नहीं हो। क्रिया करनेकी जो इच्छा होती है, वह मनोमय कोष तुम नहीं हो। जिसमें इच्छा होती है, वह इच्छाओंका कर्ता विज्ञानमय कोष तुम नहीं हो और शरीरकी क्रियामें जो सुख मिलता है, वह सुख—आनन्दमय कोष भी तुम नहीं हो। तब तो तुम केवल उपलब्धिमात्र हो। इतना कहा जा सकता है कि जिसको यह सब मालूम पड़ता है वह तुम हो, पर जो वस्तुएँ मालूम पड़त हैं, वह तुम नहीं हो।

अब देखो कि ये सब बातें जाग्रत्-अवस्थाकी हैं, अतः जाग्रत्-अवस्था कितनी बड़ी है! जाग्रत्-अवस्थामें पाँचों कोष काम करते हैं। स्वप्नावस्थामें अन्नमय कोष क्रियाशील नहीं रहता। अतः उस समय अन्नमय कोषके जो इन्द्रियगोलक हैं—नेत्रकी पुतली, कानकी झिल्ली, त्वचा आदि, वे काम नहीं करते। उस समय प्राणमय कोष अपना काम करता रहता है; क्योंकि यदि प्राणमय कोष काम न करे तो अन्नका पाचन नहीं होगा, बाल नहीं बढ़ेंगे। रक्तसंचार नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वप्नावस्थामें प्राणमय और मनोमय कोष काम करते हैं। विज्ञानमय कोष क्रियाशील रहता है एवं आनन्दमय कोष भी। केवल अन्न-मय कोष काम नहीं करता।

सुषुप्ति-अवस्था में मनोमय कोष भी सो जाता है, लेकिन प्राणमय कोष और आनन्दमय कोष अपने-अपने स्थानपर बैठे रहते हैं। क्योंकि बाद 'मैं सुखसे सोया था' यह स्मृति होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस स्मृतिसे सिद्ध है कि कोई न कोई विश्राम करनेवाला वहाँ रहता है और वह साक्षिभास्य होता है। इसे आगे चलकर समझायेंगे।

पञ्चकोषोंमें तीन शरीर

अव दूसरे क्रमसे इसे घटायें। स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण-शरीर ये तीन शरीर हैं। जाग्रत्-अवस्थामें ये तीनों शरीर क्रियाशील रहते हैं। स्वप्नावस्थामें केवल सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर काम करते हैं, तो सुषुप्तिमें केवल कारण-शरीर; क्योंकि वहाँ सव कुछ वीजरूपसे रहता है? जागनेपर सवकी स्मृति होती है।

सृष्टि-प्रलयकी प्रक्रिया कल्पित

इस प्रकार हमें अपने आत्मस्वरूपका विवेक करनेके लिए कहीं दूर नहीं जाना है। जो लोग सोचते हैं कि हम पता लगायेंगे कि सृष्टिका प्रारम्भ कैसे हुआ, वे कैसे पता लगा सकेंगे? तुम्हारी वुद्धि अनादि भूतके साथ कैसे संयोग करेगी? अनादि अतीतका अर्थ है कि उसका कभी प्रारम्भ नहीं। उससे पूर्व, उससे पूर्वकी परम्परा अखण्ड रहती है। अतः इस अनादि भूतके साथ वुद्धिका संयोग हो नहीं सकता। जो भी कहेगा कि सृष्टि ऐसे हुई—प्रकृति, परमाणु, कर्म, गणेश, सूर्य, देवी, विष्णुसे हुई, वह आँख वन्द करके कल्पना करेगा। अपनी मान्यताको ही प्रकट करेगा; क्योंकि अनादि भूतके साथ वुद्धिका संयोग कभी सम्भव नहीं।

अच्छा, यह वताओ कि प्रलय होकर सृष्टि किसमें लीन होगी? प्रकृतिमें, तो प्रकृतिमें सृष्टिको लीन होते तुम देखोगे? कभी लीन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होते देख आये हो ? जहाँ वुद्धि नहीं रहती, लीन हो जाती है, उस अवस्थाका आज वुद्धिके द्वारा कोई वर्णन करे तो वह कल्पना ही होगी। जिस वातको ब्रह्मा या हिरण्यगर्भकी बुद्धिने नहीं देखा—क्योंकि वुद्धि कार्य है जो प्रलयावस्थामें नहीं रहता—उसका वर्णन कोई कैसे करेगा ? तव जो कोई उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करता है, कल्पनाके अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं कर सकता।

जिसको कोई देख नहीं सकता, वह अज्ञात ही रहेगा। यही हम देखते हैं कि 'सृष्टि अज्ञानमेंसे निकली है और अज्ञानमें ही उसका लय होगा।' जितनी भी प्रक्रियाएँ हैं सव-की-सव कल्पित हैं। लेकिन इसका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेकी एक प्रणाली है। तुम भूत और भविष्यका विचार कर सृष्टिकी प्रक्रियाको नहीं समझ सकते। वर्त्तमानमें यह सृष्टि कैसे भास रही है, इसीसे इसका साक्षात्कार हो सकता है।

अव इस प्रकार विचार करें—वाहरके पदार्थ इन्द्रियोंसे जान पड़ते हैं। इन्द्रियाँ मनके द्वारा ज्ञात होती हैं। मन वुद्धिसे जाना जाता है। वुद्धिका साक्षी मैं हूँ। इस प्रकार सृष्टिका विश्लेषण कर उसका वर्तमान ज्ञात हो जायगा तो तुम उसका भूत-भविष्य भी जान जाओगे। इसलिए जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका, जिसका हमें प्रतिदिन अनुभव होता है, विचार करो तो सृष्टिका समूचा रहस्य ज्ञात हो जायगा।

यह परमात्मा अपनी वुद्धिसे प्रकाशित कामजन्य विषयोंको स्वप्नमें देखता है, यह स्वप्नावस्थाका वर्णन है। **भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान्** यहाँतक जाग्रत्-अवस्थाका वर्णन है। **पुनरपि** में 'पुनः' शव्दका अर्थ है जाग्रत्के हेतुभूत जो धर्माधर्मके संस्कार हैं, वे जब लुप्त हो जाते हैं। 'अपि' शव्दका अर्थ है, स्वप्नके विषयोंको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिखानेवाले जो धर्माधर्मके संस्कार हैं, वे जब जाग्रत् हो जाते हैं तब।

धिषणोद्भासितान् कामजन्यान् यहाँ 'काम' शब्दसे अविद्या और कर्म दोनोंको ग्रहण कर लेना। संसारके जो पदार्थ अपनेसे पृथक् ज्ञात होते हैं—देखनेवालेसे दीखनेवाले पदार्थ पृथक् सत्य प्रतीत होते हैं, वह अपने स्वरूपके अज्ञानसे। जितना भेद है, वह अपने स्वरूपके अज्ञानसे है। उस सारे भेदमें यह हेय है तो यह उपादेय, यह छोड़ो तो यह पकड़ो, ऐसा आग्रह है। जब 'छोड़ो' कहोगे तो उससे द्वेष और 'पकड़ो' कहोगे तो उससे राग हो जायगा।

अपने आपको ब्रह्म न जानना अज्ञान है। अपनेको परिच्छिन्न कर्ता, भोक्ता, संसारी और दृश्यको सत्य समझना भ्रान्ति है। इससे हेय-उपादेय अर्थात् अच्छे-बुरेका भेद बनता है। फिर प्रियसे राग और अप्रियसे द्वेष होता है। इसके बाद अच्छे एवं प्रियको प्राप्त करने तथा अप्रिय एवं बुरेको छोड़नेका प्रयत्न होता है। इसीको कर्म कहते हैं। इस प्रकार संसारके सभी प्राणी इन्हीं अविद्या, कामना और कर्ममें फँस रहे हैं।

स्वप्नावस्थामें केवल वासनामय भोग है, जब कामजन्य विषय हमारे सामने प्रकट होते हैं। उसके बाद सुषुप्ति आती है : **पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो** सम्पूर्ण विषयों-के भेदोंको पीकर सुषुप्तिमें सो जाता है तथा वहीं केवल आनन्दका उपभोग करता है और वही हम सब जीवाभासों, मनुष्योंको भी उपभोग कराता है। मायासे ही वह हम लोगोंको भोक्ता बना देता है।

इस प्रकार इससे सम्पूर्ण उपनिषद्का सार-संग्रह है। उपनिषद्के बारह मन्त्रोंमें जो बातें कही गयी हैं, वे पूरीकी पूरी मंगलाचरण-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के इन दो श्लोकोंमें आ गयी हैं। विधि-निषेधके भावसे अथवा 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वम्' पदार्थके निरूपणसे सारी बातें इनमें कही गयी हैं।

आत्म-शोधन

अवस्था और अभिमानियोंकी भेदोंकी गणनाकी अपेक्षा, जो कि मायामात्र हैं, आत्मा-ब्रह्मको तुरीय अर्थात् चतुर्थ कहा गया है। वस्तुतः वह अद्वितीय ही है। ऐसा जो अमृत, अज, ब्रह्म है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ। उसके प्रति नत यानी उससे अभिन्न होता हूँ।

जाग्रत्-अवस्थामें विश्व-रूपमें, स्वप्नावस्थामें तैजस रूपमें, सुषुप्ति अवस्थामें प्राज्ञ रूपमें और इन सबसे विलक्षण होनेपर भी जो इन सब अवस्थाओंका विवर्ती अधिष्ठान है, इनका स्वयंप्रकाश सर्वावभासक साक्षी है और जिसमें किसी प्रकारकी संख्या नहीं है वह ब्रह्म है।

यह जो संख्या है एक, दो, तीन—विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय सबकी सब मायासे है।

इसका 'परम, ऋत, अज' और 'पर, अमृत, अज' इस प्रकार द्विविध पदच्छेद करना चाहिए। "परमम्, ऋतम्, अजम्" "परम्, अमृतम्, अजम्" ऐसा जो परम, अमृत, अजन्मा ब्रह्म है, उसके प्रति हम नमस्कार करते हैं।

अब यहाँ 'परम्, अमृतम्, अजम्' के अर्थमें थोड़ा भेद करना पड़ेगा; क्योंकि **ऋतम्**का अर्थ है **सत्यम्** और **अमृतम्**का अर्थ है **मृत्युर्वर्जितम्**।

मायासंख्यातुरीयम् में जो संख्या है, वह मायाकी है। संख्याका स्वभाव है कि जब एक संख्यासे दूसरी संख्या मिलती है तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहली संख्याको बढ़ा कर स्वयं बढ़ जाती है। एक और एक दो हो गया—यह वृद्धि हो गयी। दोमेंसे एक निकाल दें तो एक रह गया—यह ह्रास हुआ। लेकिन परब्रह्मका स्वभाव ऐसा है कि न यह बढ़ता है और न घटता। यदि ब्रह्मको संख्यामें लें और कहें कि 'ब्रह्म एक है तो उसमें एक और मिलनेपर दो हो जायगा।' किन्तु ब्रह्म अद्वैत है। अतः जैसे शून्य और शून्य (०+०) मिलकर कुछ नहीं बढ़ता और शून्यमेंसे शून्य निकालनेपर (०−०) कुछ नही घटता, उसी प्रकार अनन्तमेंसे अनन्त ही शेष रहता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस प्रकार ब्रह्ममें कोई संख्या नहीं। संख्याकी यह व्यवस्था तो हमारे समझनेके लिए है। जैसे हमें मालूम पड़ता है कि हम इस समय जाग्रत् हैं और इन्द्रियोंसे विषयोंको देख रहे हैं। कौन देख रहा है? मैं ही देख रहा हूँ। यहाँ इन्द्रियोंकी बाह्य उपाधिको स्वीकार कर मेरी ही संज्ञा 'विश्व' हो गयी। बाह्य इन्द्रियोंको छोड़कर स्वप्न मैं ही देखता हूँ। वहाँ मुझ द्रष्टाकी संज्ञा 'तैजस' हो गयी; क्योंकि पदार्थ न होनेपर भी तैजसके अपने तेजसे वहाँके सारे विषय प्रकाशित हो रहे हैं। उसके बाद सुषुप्ति आती है, जहाँ न बाह्य इन्द्रियाँ रहती हैं और न अन्तरिन्द्रियाँ। उस सुषुप्तिको भी हम देखते हैं। हमें जाग्रत् और स्वप्नसे विलक्षण एक अवस्थाका ज्ञान ही न होता, यदि उस सुषुप्ति अवस्थाको हम न देखते होते। ये तीनों अवस्थाएँ ऐसी हुईं जैसे कोई एक व्यक्ति सफेद, लाल तथा काले कपड़े पहने और उतार दे। कपड़े तीन, किन्तु उनका पहननेवाला एक। इसी प्रकार तीनों अवस्थाओंके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्रष्टा हम इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण हैं। आत्मस्वरूप इन अवस्थाओंसे पृथक् है, यह निश्चित हुआ।

अब जाग्रत् और स्वप्नके विस्तारको देखें। पृथ्वी, जल, वायु, आकाशादि पूरी सृष्टि जाग्रत्-अवस्थामें मैं देखता हूँ। स्वप्नावस्थामें इनकी स्मृतितक नहीं आती। उस समय विश्व तैजसमें सर्वथा लीन हो जाता है, इसीसे उसकी स्मृति नहीं होती। फिर सुषुप्तिमें न जाग्रत्की स्मृति होती है और न स्वप्नकी। दूसरे शब्दोंमें बहिः-करणकी उपाधिसे जो जाग्रत्का और अन्तःकरणकी उपाधिसे स्वप्नका द्रष्टा बना हुआ है, वह बहिःकरण एवं अन्तःकरण दोनोंके सो जानेके कारण सुषुप्तिमें किसी भी विषयको नहीं देखता। परन्तु जब जागता है तो उन्हीं करणोंसे तादात्म्य करके कहता है: 'उस समय मैं नहीं देखता था और अब देखता हूँ।' सच यह है कि द्रष्टा कभी नहीं सोता। 'मैं सो रहा हूँ' ऐसा अनुभव किसीको कभी नहीं होता; क्योंकि यदि 'सो रहा हूँ' यह अनुभव हो रहा है तो तुम जाग रहे हो। यदि ऐसा अनुभव नहीं होता तो 'मैं सोया था' यह केवल कल्पनासे ही कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सो गयीं थीं और जब वे जागीं तब उनके साथ तादात्म्य करके तुमने अपने ऊपर सोनेका आरोप कर लिया। सोया कोई और, और अपनेको कहने लगे: 'मैं सोया था'।

अब देखो कि तीन बातें हमसे सर्वथा पृथक् हो जाती हैं। जाग्रत्-अवस्थाके जितने अनुभव हैं, उनसे मैं अलग हूँ; क्योंकि उन अनुभवोंके न रहनेपर भी मैं रहता हूँ। इसी प्रकार स्वप्ना-वस्थाके अनुभवोंसे भी पृथक् हूँ। सुषुप्तिमें दो ही अनुभव होते हैं: अज्ञानका अनुभव और सुखका अनुभव। **सुखमहमस्वाप्सम्**—'मैं सुखसे सोया था, मुझे किसी बातका पता नहीं।' मैं इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुभवसे भी विलक्षण हूँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें जितने भी अनुभव या विषय हैं; वे अनुभूयमान, प्रतीयमान पदार्थ हैं। वह सब न 'मेरा' है, न 'मैं' हूँ; क्योंकि उसे यथास्थान छोड़कर मैं उठ जाता हूँ।

जब 'मैं' और 'मेरा' संसारका कोई पदार्थ नहीं है तो उनके संयोग और वियोगमें जो सुखी और दुःखीपनेका अभिमान है, वह एकदम झूठा है। उसमें जो कर्तापनका अभिमान है—"मैंने यह बनाया और यह बिगाड़ा", यह भी झूठा है; क्योंकि साक्षीमें न कर्तापन है और न भोक्तापन।

जाग्रत्-अवस्थाका विस्तार हमारे मनने किया है। स्वप्नावस्थाका विस्तार भी मनने ही किया और सुषुप्ति भी मनकी एक अवस्था है। ये तीन लोक, चौदहों भुवन, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका अनुभव जो किसीको कभी हुआ, अब हो रहा है या आगे होगा—सबका सब हमारे मनकी कल्पना है।

अब विचार करना है कि अपनेमें जो तुरीयता या चतुर्थपना है, वह कैसे है? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी यह जो माया है, उसीकी दृष्टिसे ही तुरीयता है। यदि ये तीन न हों तो अपनेमें चतुर्थता भी न हो। इन तीनोंसे अपनेको पृथक् करनेके लिए इनकी अपेक्षासे ही अपनेमें तुरीयता कल्पित करनी पड़ती है। लेकिन लोगोंको भ्रम हो गया है कि जैसे समाधि एक अवस्था है, वैसे ही तुरीय भी एक अवस्था है। लोग समझते हैं कि हम जैसे जागते, स्वप्न देखते या सो जाते हैं, वैसे ही समाधि नामकी अवस्था प्राप्त करनेपर तुरीय होते हैं। लेकिन वेदान्त-सिद्धान्त ऐसा नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ।

जाग्रत्में भी हम तुरीय हैं, स्वप्नमें भी और सुषुप्तिमें भी। हमारे तुरीयपनेमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहते हुए भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न कभी था, न अब है और न आगे होगा। उनके बदल जाने पर भी मैं नहीं बदलता। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्ति नहीं रहती, स्वप्नमें जाग्रत् और सुषुप्ति नहीं और सुषुप्तिमें स्वप्न तथा जाग्रत् नहीं रहते। अतः ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं।

मिथ्या, असत्य या झूठ किसे कहते हैं? जो एकरूप न रहे—अपनेको बदलता रहे। जैसे कोई अपने अनेक नाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको बताये या 'कहाँसे आये हो?' पूछनेपर किसीको कुछ और किसीको कुछ उत्तर दे तो वह झूठा है। हमने एक वस्तुके सम्बन्धमें निश्चय किया कि यह काली है; किन्तु वह थोड़ी देरमें श्वेत और फिर लाल हो गयी तो उसके रंग झूठे हैं। गिरगिट (कृकलास)के शरीरके रंग झूठे ही तो हैं। हमारे झूठाका अभिप्राय है : **अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।** जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अत्यन्ताभाव हो, उसीमें उस वस्तुका भासना मिथ्या है। जैसे रस्सीमें साँप है नहीं, फिर भी रस्सीमें साँप दीख रहा है; तो इस दीखते हुए साँपको मिथ्या कहेंगे। **स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्**—अपने अभावके अधिकरणमें भासना मिथ्यापन है।

अब ये जितने पृथक्-पृथक् पदार्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये संसारके पदार्थ कहाँ भास रहे हैं? एक अनन्तमें, एक अपरिच्छिन्न-में। जो भी वस्तुएँ टुकड़े-टुकड़े होती हैं, उन्हें आधारके लिए एक बेटुकड़े, एकरस वस्तुकी आवश्यकता होती है। जैसे खिड़कीसे आती सूर्यकी किरणमें छोटे-छोटे कण उड़ते दीखते हैं। इन कणों-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को 'त्रसरेणु' कहते हैं। ये कहाँ उड़ते हैं? आकाशमें। अब जो अव-काशात्मा आकाश है, वह टुकड़े-टुकड़े है या एक है? वह एक है। तब वे त्रसरेणु जहाँ हैं, वहाँ भी आकाश है ही। इस प्रकार जितनी भी छोटी वस्तुएँ हैं, उन्हें अपने एक बड़े आधारकी आवश्यकता पड़ती है। जिस बड़े आधारमें वे आ सकती हैं, उस आधारके साथ उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। उसमें जहाँ वे दीख रही हैं, वहाँ वह आधार ही है। अतः उस भासमान वस्तुको मिथ्या कहेंगे।

इसी प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियके द्वारा जितने भी टुकड़े-टुकड़े पदार्थ प्रतीत होते हैं और ये जो मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ प्रतीत होती हैं—सभी जिस अधिष्ठानमें प्रतीत होते हैं और जिस प्रकाशमें भासमान हैं, वह अधिष्ठान और प्रकाश तो एक ही है।

प्रकाश कहो, अधिष्ठान कहो, द्रष्टा कहो, ब्रह्म कहो—यह जो अधिष्ठान स्वयंप्रकाश आत्मा है, वह एक है। अतः इसमें प्रतीत होनेवाले जितने भी पृथक्-पृथक् परिच्छिन्न पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या हैं। अतः अधिष्ठान और प्रकाशका भेद किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए यह जो तुरीयपना है, वह मायाकी संख्या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी अपेक्षासे है; अतः मायामात्र है।

मायामात्रका क्या अभिप्राय है? माया कहते हैं लोकभाषामें इन्द्रजालको। लोकमें जो पद जिस अर्थका वाचक है, वेदमें भी वह शब्द उसी अर्थका वाचक होता है। यदि लौकिक अर्थसे उसकी सिद्धि हो जाती हो तो अलौकिक अर्थकी कल्पना करना अना-वश्यक है। मायाका लौकिक अर्थ है इन्द्रजाल, बाजीगरी। एक बाजीगरने आकाशमें सूत उड़ा दिया। उसपर वह चढ़कर अदृश्य हो गया। अब आकाशसे शस्त्र चलनेका शब्द आता है और हाथ, पैर आदि अंग कट-कटकर गिर रहे हैं। थोड़ी देरमें वह बाजीगर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्यों-का-त्यों खड़ा हो जाता है आपके सामने। यह सब क्या है? यह माया है।

इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका जबतक विचार न करें, यह बड़ी ठोस प्रतीत होती हैं; किन्तु विचार करनेपर इनमें कुछ भी ठोसपना नहीं मिलता। स्वप्न टूटनेमें, प्राण जानेमें, दिवाला निकलनेमें, दुर्घटना होकर अंग टूटनेमें, ब्याह होनेमें, वियोग होनेमें कितनी देर लगती है? यह सब माया है। इस मायाकी दृष्टिसे ही परमात्मामें तुरीयपन है। समझने के लिए, व्यतिरेक करनेके लिए उसे तुरीय कहना पड़ता है। तत्त्वदृष्टिसे देखें तो उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं।

तीन शब्द उस परमात्माके लिए और प्रयोग करते हैं: 'परम्, अमृतम्, अजम्, ब्रह्म।' इनमें 'पर' किसे कहते हैं? सामान्य हिन्दी प्रयोगमें 'पर' का अर्थ है दूर। इससे 'परे' ऐसा बोलते हैं। लेकिन वेदमें 'पर' शब्द 'आन्तर'का पर्याय है:

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥ (कठोपनिषद्)

इस प्रकार 'पर' शब्दका अर्थ है भीतर। इसे आप विचार करके देख लें। मनसे परे बुद्धि है। जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं उन सबका समूह संकल्प-विकल्पात्मक मन ही है। जितने भी संकल्प उठते हैं, वे ज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें ही उठते हैं। अज्ञातके विषयमें संकल्प नहीं उठ सकता। संकल्पके अनुसार इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियोंके भीतर मन और मनके भीतर बुद्धि हुई; क्योंकि जब जानी हुई वस्तुके सम्बन्धमें ही संकल्प उठता है; तब बिना बुद्धिके, बिना ज्ञानके मनकी कोई स्थिति नहीं रहती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रुतिमें लयका प्रसंग आता है—वाणी और मन दोनोंका नियन्त्रण करना। नियन्त्रण करके उन्हें बुद्धिमें, ज्ञानात्मामें ले जाना। ज्ञानात्मामें ले जानेका अर्थ है कि हम जो कुछ जानते हैं, उससे भिन्न मन और कुछ नहीं है। यानी वुद्धिसे मनके अपृथक्त्वका चिन्तन। यह किसीमें किसीको प्रवेश करानेकी बात नहीं है। चिन्तन यह है कि हमारे संकल्पसे भिन्न इन्द्रियोंकी कोई सत्ता नहीं है और हमारे ज्ञानसे भिन्न संकल्पात्मक मन कुछ चीज नहीं है। यह हुआ अन्तरंग।

सा काष्ठा सा परा गतिः।

'परम्' शब्दका अर्थ है आन्तर—प्रत्यक् अर्थात् अन्तरात्मा, जो नेत्रोंसे उलटी दिशामें है। यह जो वस्तु सामने है, वह 'पराक्' है, बाहर है। नेत्रको सन्धि वना लो। नेत्रके बाहरकी वस्तु पराक् और इन बाहरी वस्तुओंको जो नेत्रके भीतर बैठा प्रकाश देकर देख रहा है, जो नेत्रको रोशनी दे रहा है, वह है प्रत्यक् : **प्रतीपमञ्चति इति प्रत्यक्।**

'परम' का अर्थ है यह जो आत्मा ब्रह्म है, वह आँखके भीतर है, बाहर नहीं, प्रत्यक् है, पराक् नहीं। तुम्हें कभी परमात्माको ढूँढ़ना हो तो उसे ढूँढ़ने बाहर मत जाओ। जहाँका तहाँ छोड़कर भीतर हो जाना। आँखकी पुतलीको स्थिर कर दो और भीतर लौट आओ। तुम आँखसे देखे जानेवाले नहीं हो, आँखको भी देखनेवाले हो। इस प्रकार आत्मस्वरूपकी उपलब्धिकी प्रक्रिया निवृत्ति है, प्रवृत्ति नहीं।

अब आगे 'अमृतम् अथवा ऋतम्, परमम्'को देखें। परमम् का अर्थ होता है सर्वोत्कृष्ट और प्रत्यक्। अमृतम्का अर्थ होता है अविनाशी—जिसका कभी विनाश न हो। 'अजम्' का अर्थ है जिसका जन्म नहीं होता। अमृतम् के बाद अजम् आया है। यहाँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक शंका होती है कि वन्ध्यापुत्र भी तो अजन्मा है, उसका भी कभी जन्म नहीं हुआ, कभी उसकी मृत्यु नहीं होती। ब्रह्म भी अमृत और अज है। लेकिन ब्रह्मकी विशिष्टता प्रतिपादित करनेके लिए उसे 'परमम्' प्रत्यक् अर्थात् अपना आपा ही कह दिया है।

यदि ईश्वर कहीं सातवें आसमानमें हो तो पहले यह शंका होगी कि वह है भी या नहीं? उसे किसीने देखा है या नहीं? यदि उसे किसीने देख लिया तो घट-पटादि विषयोंके समान दृश्य होनेसे वह भी नाशवान् सिद्ध होगा। यदि कहें कि उसे कभी किसीने नहीं देखा, तो उसके होनेमें प्रमाण क्या? 'वेद-शास्त्रोंमें लिखा है' ऐसा कहो तो श्रद्धाकी बात हो गयी। प्रश्न बना ही हुआ है कि अन्य रूपसे ईश्वरका दर्शन कभी किसीको हुआ या नहीं? व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेषके रूपमें ईश्वरका दर्शन कभी किसीको होगा भी तो जो कभी उत्पन्न नहीं हुआ और कभी मरेगा नहीं, जो सर्वज्ञ है, पूर्ण है, सर्वशक्तिमान् है, उसका अपरोक्ष कैसे होगा? यह बात तो श्रद्धासे ही माननी पड़ेगी कि हमारा ईश्वर अजन्मा एवं अविनाशी है। अतः जबतक ईश्वरका दर्शन अन्य रूपमें होगा, तबतक उसका अजत्व एवं अविनाशित्व सन्दिग्ध ही रहेगा। इस प्रकार अन्य-रूपसे होनेवाला ईश्वरदर्शन सदा सन्दिग्ध रहेगा। श्रद्धा प्रमाण नहीं हुआ करती।

ईश्वर-दर्शनकी एक सर्वथा भिन्न प्रणाली है, जो वेद-विद्यासे और महापुरुषोंके अनुभवोंसे जानी जाती है।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्

—कठोपनिषद्

ईश्वरका दर्शन अन्य रूपसे नहीं होता। 'स्व' के रूपमें, अपने आपके रूपमें होता है। अपना आपा है या नहीं, इसमें क्या

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसीको कभी सन्देह हो सकता है ? अपना अस्तित्व संशय-विपर्ययसे सर्वथा असंस्पृष्ट है : **नहि कश्चित् सन्दिग्धेऽहमस्मि वा नवेति।**

अब इस समय तो अपना अस्तित्व है, किन्तु कभी पहले न रहा हो या कभी आगे न रहे ? इस सम्बन्धमें सोचो। इस पहले-पीछे अर्थात् भूत-भविष्यका प्रकाशक कौन है ? आगे-पीछे जो कालकी कल्पना है, यह किसकी कल्पना है ? कौन है जिसे इसका विचार होता है ? 'मैं' को होता है। 'यहाँ मैं हूँ और वहाँ शायद न होऊँ' यह यहाँ और वहाँका विचार भी 'मैं' को होता है। यहाँ और वहाँकी कल्पनाको 'देश' कहते हैं।

यह पुस्तक है। यह जितना स्थान घेरती है, वह इसका देश है। देशका अर्थ है स्थान। यह पुस्तक पहले छपी नहीं थी। यह छपी, अनेक हाथोंमें होती हुई हमारे हाथमें आयी और आगे इसकी अमुक अवस्था होगी। इस प्रकार सोचनेमें तो क्रमका संवित् है, उसके साथ 'पहले, अभी, बाद' जुड़ा है। इसीका नाम 'काल' है। यह पुस्तक स्वयं वस्तु है। इस प्रकार जितने भी देश, काल, वस्तु है; वह सब 'मैं' द्वारा प्रकाशित हैं। सबका जन्म और सबकी मृत्यु 'मैं' के सम्मुख होती है। इसलिए सबकी उत्पत्तिका और नाशका साक्षी जो मैं हूं, वह अमृत हूँ। इसीसे अमृत शब्दका अर्थ आनन्दरूप भी है।

आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।

यह श्रुति ब्रह्मके आनन्दस्वरूपका वर्णन करती है। आनन्द-स्वरूप ही पुरुषार्थ है। आनन्दस्वरूपकी उपलब्धि परम पुरुषार्थकी सिद्धि हुई। संसारके समस्त प्राणी आनन्द-सुख चाहते हैं। असन्दिग्ध रूपसे सबका पुरुषार्थ आनन्द है। आनन्द भी कैसा ? जो आज हो, कल हो, सदा रहे—अविनाशी आनन्द। यहाँ भी हो,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वहाँ भी हो, सर्वत्र हो—पूर्णानन्द। यह भी आनन्द हो, वह भी आनन्द हो—सर्वात्मक आनन्द। विना किसी श्रमके,विना किसी उद्योगके मिले—अनायास आनन्द। किसीके अधीन न होना पड़े—स्वतन्त्र आनन्द। प्रकाशरूप हो, अज्ञात नहीं—चेतन आनन्द। सुषुप्तिमें, स्वप्नमें, जागरणमें और मरनेके वाद भी—सर्वदा आनन्द रहे, ऐसा सव चाहते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम कहते हैं कि सबका परम पुरुषार्थ मोक्ष है अथवा परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति है, तो यह नहीं कहते कि तुम्हें अपना पुरुषार्थ या लक्ष्य, ब्रह्मकी प्राप्ति बनाना चाहिए। हम कहते यह हैं कि तुम ब्रह्मको चाहते हो। तुम अविनाशी, सर्वात्मक, पूर्ण, अनायास आनन्दको चाहते हो। अतः वास्तवमें परमेश्वरको, परब्रह्म परमात्माको चाहते हो। लेकिन इस बातको जानते नहीं हो। इसलिए अपने अभीष्टके सम्बन्धमें विचार करो कि तुम्हारा लक्ष्य क्या है। तुम देखोगे कि जीवनका उद्देश्य अविनाशी, परिपूर्ण, सर्वात्मक, स्वतःसिद्ध वही आनन्द है, जिसको हम ब्रह्म कहते हैं।

अब जो तुम समझते हो कि तुम्हारा लक्ष्य पैसा है, यह गलत है। पैसा भी तुम आनन्द के लिए चाहते हो। इसी प्रकार कोई भोग भी जीवनका लक्ष्य नहीं है। भोग भी तुम उसी आनन्दके लिए चाहते हो। अच्छा, धर्म करना तुम्हारा लक्ष्य है? धर्म भी लक्ष्य नहीं है, क्योंकि निरन्तर नहीं किया जा सकता। सुषुप्तिमें कोई कैसे धर्म करेगा?. धर्मजन्य सुख ही यहाँ भी तुम्हारा लक्ष्य है।

वैशेषिक-दर्शन की उपस्करवृत्तिमें सांसारिक सुखोंके चार विभाग किये गये हैं। इन्हींमें संसारके सारे सुख अन्तर्भूत हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथा : १. विषयभोगजन्य सुख। २. अभिमानजन्य सुख। ३. मनोरथजन्य सुख। ४. अभ्यासजन्य सुख।

इन चार प्रकारके सुखोंमें ही सात्त्विक, राजस, तामस सब सुखोंका समावेश है। ये चारों ही सुख क्षणिक हैं और अन्तमें दुःख देनेवाले हैं। लेकिन अपना आपा सर्वदेशमें है। जहाँ जाओगे, वहाँ रहेगा। सर्वकालमें है। जब तुम हो, वह है। सब विषयोंका सुख तो तुम्हीं तो लोगे। अपने आपको पानेका आयास कैसा? वह तो तुम स्वयं हो। उसमें नेत्रकी पलक खोलनेकी भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हमारा सुख, हमारा संसार हमारे सदा साथ है। हमारे दिलमें है।

हम अपनी दुनिया साथ लिये फिरते हैं।
हम अपने सपने साथ लिये फिरते हैं॥

संसारमें दुःखी वे लोग हैं, भटकते वे लोग हैं जिन्होंने अपना सुख अपने दिलसे बाहर फेंक रखा है। अपने सुखको दिलसे नेत्रमें ले आये और किसी रंग-रूपमें ले जाकर डाल दिया, अपना सुख वहाँ फेंक दिया और अब छटपटा रहे हैं : हाय सुख! हाय सुख!

इस प्रकार वेदान्त-विचारमें कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है। न कोई लक्ष्य बनाना है, न कोई साधन करना है। ये आत्मदेव साधन-साध्य नहीं हैं। ये तो अपनी आत्मा हैं। अपनेको पानेके लिए साधन नहीं करना पड़ता। साधन करना है उन बुरी आदतोंको निकालनेके लिये जो हमने अपने जीवनमें डाल ली हैं। सुख पानेके लिए कोई साधन नहीं करना पड़ता।

हमारे घरमें शंकरजीकी मूर्ति है। हमने पूजा छोड़ दी। कबूतर आने लगे और उनकी बीट तथा कूड़ेसे वह ढँक गयी। अब हाय-हाय करते हैं कि हमारे शंकरजी नहीं रहे! नर्मदासे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लाकर प्रतिष्ठा करो। ऐसा कुछ नहीं करना है। शंकरजी तो दिलमें बैठे हैं। यह काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार-अविद्याका दोष है कि इसने उस आराध्य मूर्तिको ढँक दिया है। तुम्हें केवल अविद्याको निवृत्त करना है।

वेदान्त का अभिप्राय यह है कि केवल यथार्थ जानकारीसे तुम्हारे सम्पूर्ण दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जायगी। कुछ करना नहीं, कुछ पाना नहीं। कुछ त्यागना नहीं, कुछ नया जानना नहीं। जो है, उसीको जानो!

तुम्हारे पूर्वजोंने घरमें धन गाड़ रखा है। उसपर पैर रखकर चलते हो, पर कंगाल बने हो—ऐसी अवस्था है। एक सज्जनने रात्रिमें एक बुढ़ियाको बिजलीके खम्भेके नीचे कुछ ढूँढ़ते देखा। पूछने पर उसने बताया: 'सुई घर में खोयी है, किन्तु घरमें प्रकाश नहीं, अतः जहाँ प्रकाश है, वहीं ढूँढ रही हूँ।' इस बुढ़िया जैसी अवस्था आज है। हालां कि बुढ़ियावाला दृष्टान्त सुनकर या पढ़कर सुनने-पढ़नेवालोंको बुढ़ियाकी नादानीपर हँसी आती है, परन्तु शोक है कि उनकी दृष्टि अपने ऊपर नहीं जाती। उनकी स्वयंकी भी हालत यह है कि 'गोदमें लड़का, नगरमें ढिंढोरा'। अरे भाई! जो वस्तु अपनेमें खोयी है, बाहर 'यह' में उसकी खोज करोगे तो वह कैसे मिलेगी? उसके लिए तो 'यह' से नेत्र हटाकर भीतर आना पड़ेगा: **न हि गृहे नष्टं वने मृग्यते**।

अमृत-परमानन्दस्वरूप अपनी आत्मा मृत्युरहित है, अजन्मा है। परम् अतएव अमृतम्। अपनी आत्मा है, अतः अमृत है, क्योंकि अपनी आत्माकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। मृत्यु तो जिसकी भी होगी, दृश्यकी होगी। आत्मा द्रष्टा है, अतः अमृत है। अमृत है, अतः अज है; क्योंकि अविनाशी अजन्मा होता ही है।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है समस्त भेदोंके अभाव से उपलक्षित—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसमें देशका भेद नहीं, कालका भेद नहीं, वस्तुका भेद नहीं। सजातीय भेद नहीं, विजातीय भेद नहीं, स्वगत भेद नहीं। ऐसी जो वस्तु है, वह ब्रह्म है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्य है, किन्तु जड़ नहीं है. इसलिए 'ज्ञानम्' कहा। केवल ज्ञान तक रह जायँ तो क्षणिक विज्ञान हो सकता है, इसलिए 'सत्यम्' प्रथम कहा है। सत्य है, क्षणिक नहीं और ज्ञान है, जड़ नहीं; किन्तु परिच्छिन्न हो सकता है, इस सन्देहको दूर करनेके लिए 'अनन्तम्' कह दिया।

अनन्तताकी प्राप्ति अन्यत्र भी सम्भव है। अनेक मतोंमें देश-कालादि भी अनन्त हैं। लेकिन यहाँ समझनेकी बात यह है कि सत्य का अर्थ है अविनाशी अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न। ज्ञानसे तात्पर्य है ज्ञानमात्र निर्विषयज्ञान, ज्ञेयरहित ज्ञान। सत्य कहनेसे कालका निषेध हुआ—कालपरिच्छिन्नताका निषेध हुआ। ज्ञानमात्र कहनेसे विषयपरिच्छिन्नताका निषेध हुआ। अनन्त कहनेसे देशपरिच्छि-न्नताका निषेध हुआ। इस प्रकार देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न सत्य, ज्ञान, अनन्त जो ब्रह्म है: **तन्नतोऽस्मि**—मैं उसके प्रति नत हूँ।

'नत हूँ'का अभिप्राय है, उसकी सत्तासे हमारी सत्ता पृथक् नहीं है। उसके ज्ञानसे हमारा ज्ञान भिन्न नहीं हैं। उसके आनन्दसे हमारा आनन्द अलग नहीं है। उससे मैं भिन्न नहीं हूँ, उसकी सत्ताके, उसके स्वरूपके सामने हम अपने पृथक्त्वको, अपने भेदको शिथिल कर रहे हैं–मिटा रहे हैं। यही नमस्कारका अर्थ होता है। 'नतोऽस्मि' अर्थात् मैं वही हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मंगलाचरण

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥२॥

यह नहीं, यह नहीं

पहले श्लोकमें मंगलाचरण करते हुए भाष्यकारने 'प्रज्ञानांशुप्रतानैः' आदिसे ब्रह्म किस प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, इसका प्रतिपादन किया। परब्रह्म परमात्मासे प्रारम्भ करके उसी परब्रह्म परमात्मामें परिसमाप्ति, यह प्रथम मंगलाचरणमें है। मंगलाचरणके दूसरे श्लोकमें हम जहाँ बैठे हैं, वहाँसे उठकर परब्रह्म परमात्माके साक्षात्कारमें परिसमाप्ति वर्णित है।

विधिमुखसे वर्णन पहले मंगलाचरणमें है और निषेधमुखसे इस दूसरे मंगलाचरणमें। पहलेमें 'पीत्वा' है, जो विधिप्रधान है और इस दूसरेमें 'हित्वा' है जो निषेधप्रधान है।

परमात्माके प्राप्तिकी दो प्रक्रियाएँ हैं। एक तो यह भी परमात्मा, यह भी परमात्मा, परमात्मा ऐसा है—ऐसा है : **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दूसरी प्रक्रिया है, नेति-नेति। यह नहीं, यह नहीं। अदृश्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, अशब्दम्, अस्पर्शम् आदि। जो परमात्मासे भिन्न प्रतीत होता है, उसका निषेध करते हुए जो अवाधित शेष बचता है, वह परब्रह्म परमात्मा है।

स्वतःसिद्ध चिद्-धातु

'यो विश्वात्मा' यहाँसे प्रारम्भ करते हैं। यहाँ 'यः' का अर्थ है स्वतःसिद्ध। चिद्धातु एक परतःसिद्ध धातु होती है, जैसे : पृथ्वी। पृथ्वी स्वतन्त्र धातु है, इसका पता कैसे लगे ? इसमें कोई गुण होना चाहिए। पृथ्वीका स्वतन्त्र गुण है गन्ध, जो नासिका इन्द्रियसे ग्रहण होता है। इसमें नासिकासे सिद्ध गन्ध और गन्धसे सिद्ध पृथ्वी परतःसिद्ध धातु हुई। यदि चेतन न हो तो पृथ्वी नामकी कोई वस्तु है, यह बात कभी सिद्ध नहीं हो सकती। किन्तु जो अपना आपा है, वह किसी दूसरेसे सिद्ध नहीं है। वह तो सर्वावभासक, सर्वप्रकाशक है। अपनेको जाननेके लिए किसी दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती। यह स्वतःसिद्ध चिद्-धातु है।

उपासना मार्गमें उपासक जिस चेतनका अनुभव करता है, वह चेतन उपासककी वृत्तिके द्वारा जाना जाता है। उसका जो रूप है, वह भाव्यमान है। कहीं राम रूप, कहीं कृष्ण रूप, कहीं शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु आदि रूप। वहाँ धातु-रूपसे नहीं, आकृति-रूपसे चेतनका ग्रहण होता है।

निराकार भी एक प्रकारका आकार ही है; क्योंकि वह भी सविशेष है। साकारकी अपेक्षा वह विशेष है या नहीं ? अतः वह भी स्वतःसिद्ध नहीं, क्योंकि उसका भी अनुभव करनेवाला कोई न कोई होना चाहिए और वह अनुभव भी साकारके अनुभवसे विलक्षण आकारवाला होना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो कहते हैं : ईश्वर केवल निराकार है, उन्हें सोचना है कि वह ईश्वर कभी किसीके अनुभवका विषय हुआ या नहीं ? ब्रह्मा, शंकर, वसिष्ठादि ऋषिमेंसे किसीने उसका अनुभव किया है ? यदि किया है तो किसी न किसी विशेषताका ही तो अनुभव होगा ।

अनुभव दो रूपोंमें होता है : 'इदम्' रूपमें तथा 'अहम्' रूपमें । यदि ईश्वरका अनुभव 'इदम्' रूपमें हुआ तो वह ईश्वर सोलहो आने साकार हो गया । यदि 'अहम्' रूपमें अनुभव हुआ तो वेदान्त-सिद्धान्त प्राप्त हो गया । 'इदम्' रूपमें ईश्वरानुभव भक्ति-मार्ग है और 'अहम्' रूपमें अनुभव वेदान्त । ऐसा निराकार, जिसका न 'इदम्' रूपमें अनुभव हो और न 'अहम्' रूपमें, जो अनुभवका विषय ही न हो तो 'वह है' इसमें ही क्या प्रमाण ?

'यः' से वर्णित यहाँ चित्-धातु है, कोई भाव्य आकृति नहीं । सम्पूर्ण आकृतियोंका यह अधिष्ठान है । वह जो सार-वस्तु है, वही यहाँ 'यः' पदसे कही गयी है ।

निराकार साकार रूप धरि आयो कई एक बारा ।
सपने ह्वै ह्वै मिट गयो, रह्या सारको सारा ।।

विश्वात्मा

विश्वात्माका अर्थ है जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी । जाग्रत् पुरुषका अभिमानी होना एक बात है और जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी होना दूसरी । जाग्रत् पुरुषका अभिमानी होना कोई साधन नहीं, किन्तु जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी होना साधन है । यह तो परामर्शकी ओर पहला कदम है । दोनोंमें भेद करो । जैसे स्वप्नमें हम अपनेको गंगास्नान करने जाते देखते हैं । इसमें एक तो वह स्वप्न-पुरुष मैं हूँ जो गंगास्नान करने जा रहा है और दूसरा वह मैं हूँ, जो पूरे स्वप्नको देख रहा हूँ ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इनमेंसे स्वप्नमें जो गंगास्नान करने जा रहा है, वह है स्वप्न-पुरुष और जिसने पूरा स्वप्न देखा वह स्वप्नाभिमानी। वह सम्पूर्ण स्वप्नावस्थाका अभिमानी है; स्वप्नके एक शरीरका नहीं। इसी प्रकार अब जाग्रत् पुरुष और जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी, इनका भेद कर लो। विश्वात्मा किसी एक देहके अभिमानीका नाम नहीं है। सम्पूर्ण विश्व जिसकी जाग्रत्-अवस्था है, उसको विश्वात्मा कहते हैं। यह निरूपण एकजीववादकी दृष्टिसे है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें जीवाभास है। वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् एक ही जीवकी यह अवस्था है।

जब हम इस शरीरमें बैठते हैं, तब जाग्रत् पुरुषके अभिमानी बन जाते हैं। फिर मेरा घर, मेरा कारखाना, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, यह मेरा-तेरा, लड़ाई-झगड़ा, संयोग-वियोग, दुःख-सुख आदि सबका सब शरीरको 'मैं' माननेके कारण होता है। हमारा नाम, हमारे हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगोंके नाम, हिन्दू-मुसलमान आदि जाति-धर्मभेद, भारतीय, यूरोपीय प्रभृति जितने भेद हमने मान लिये हैं—अविचारसे ही हमने यह सब स्वीकार कर लिया है। विचार करके देखो तो हम इस देहके अभिमानी नहीं, सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी हैं।

एक विद्वान्ने स्वप्नमें देखा कि दूसरे विद्वान्से वह शास्त्रार्थमें पराजित हो गया। जागनेपर बड़ा दुःखी हुआ। लेकिन सोचनेपर समझमें आया कि मुझे किसी दूसरेने पराजित नहीं किया। स्वप्नका वह दूसरा विद्वान् मेरी ही बुद्धिवृत्ति थी। मैं अपनेसे ही पराजित हुआ हूँ। इसी प्रकार हम जाग्रत्में जो समझते हैं कि अमुकसे हम हार गये, हमारी सम्पत्ति दूसरेके पास चली गयी, वह मनका भ्रम है। हम अपनेसे ही हारते हैं। हमारी सम्पत्ति ही दूसरी दूकानमें चली गयी है। हमारे एक शरीरसे दूसरेके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पास, एक हाथसे दूसरे हाथमें वह चली गयी है। इस प्रकार अपनेको एक देह न समझकर विश्वात्मा समझना, यहीसे यह साधना प्रारम्भ होती है।

पाप-पुण्य

विधिका अर्थ है धर्म। स्थूलभोग कैसे हैं? विधिज अर्थात् धर्म-जनित। एक शरीरमें बैठकर अभिमान करके पाप-पुण्य होता है; किन्तु विश्वात्मा होकर पाप-पुण्य नहीं होता। अतः वहाँ तो सब कुछ धर्म से प्राप्त है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, उन्होंने देहको छोड़ दिया, इन्द्रियोंको छोड़ दिया, मन-बुद्धि-अन्तःकरणको भी छोड़ दिया, वे व्यक्तिको (देहको) मैं नहीं समझते। व्यक्तिका अर्थ है अभिव्यक्ति, कार्यरूप। जब बीज था, जिसमेंसे हाथ-पैर आदि सब निकल आये। पर जब वह बीज पिताके रक्तमें था, उसमें कहाँ हाथ-पैर आदि थे। वह बीज माताके उदरमें आया और वहाँ उसने अनुकूल पोषण ग्रहण किया। पौधेकी भाँति उसमें सभी अंग प्रकट हो गये। अब यदि 'विधिज' व्यक्तिके लिए लेना हो तो विधिज और अविधिज दो प्रकारका पदच्छेद करना होगा। विधिज धर्म और अविधिज अधर्म। धर्मजनित एवं अधर्मजनित जो स्थूलभोग हैं—अनुकूल-प्रतिकूल, सुखप्रद-दुःखप्रद, उन्हें जाग्रत्-अवस्थामें भोगता है।

पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।

जितने भी भोग हैं, वे धर्मजनित, अधर्मजनित तथा धर्माधर्मजनित हैं। केवल सांख्ययोगकी प्रक्रियासे देखें तो सोना, चाँदी आदि किसीके कर्मसे उत्पन्न नहीं हैं। ये प्रकृतिके विकार हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राकृत हैं। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पंच-तन्मात्राएँ, पंचतन्मात्राओंसे महाभूत और महाभूतोंसे सब पदार्थ बने हैं।

अब यदि कहो कि धन हमारे कर्मसे उत्पन्न हुआ, तो यह सत्य नहीं है। एक सोनेकी राशि पहले एकके पास थी। वह उसे अपनी मानकर सुखी हो रहा था। उसके पाससे दूसरेके पास आयी और फिर तीसरेके पास पहुँच गयी। उस सोनेको खानसे खोदने, निकालने, साफ करने, बेचनेमें सैकड़ों व्यक्ति सम्मिलित हैं। सैकड़ोंके पास वह रहा और वे उससे सुखी रहे। आगे पता नहीं, कितनोंके पास वह जायगा। तब वह सोना किसी एकके कर्मसे उत्पन्न कैसे हो सकता है?

उस स्वर्णको पाकर जिसे सुख मिला, उसे पुण्यका फल मिला और उसे खोकर जिसे दुःख मिला, उसे पापका फल मिला। यह सुख-दुःख तुम्हारे पुण्य-पापका फल है। वह वस्तु तुम्हारे पुण्य-पापका फल नहीं, यह सांख्यकी दृष्टि है।

न्याय और वैशेषिककी दृष्टिसे सब पदार्थ परमाणुजन्य होनेसे पाकज हैं। पदार्थ पारमाणविक हैं, तुम्हारे कर्मसे जनित नहीं हैं। उनको अपना मानकर सुखी होना और उनके बिछुड़नेके कारण दुःखी होना—यह जो सुख-दुःख है, वह मनका खेल है।

अब पूर्वमीमांसाको ले लें। यह औरोंसे सर्वथा विलक्षण दर्शन है। इसमें प्रकृति, परमाणु आदि कोई स्वतंत्र द्रव्य मान्य नहीं है। यह दर्शन तो सारी-की-सारी सृष्टि कर्मजन्य ही मानता है। कर्म, प्रारब्ध, संचित आदि रूपोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। अब विचार करो कि सहस्रों व्यक्तियोंको सुख-दुःख देनेवाले ये सोना-चाँदी किसके प्रारब्धसे उत्पन्न हुए? यहाँ दो प्रकारके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रारब्धकी कल्पना करनी पड़ेगी—समष्टि-प्रारब्ध और व्यष्टि-प्रारब्ध। स्वर्ण आदि द्रव्य समष्टि-प्रारब्धसे उत्पन्न हुए। समष्टिका अर्थ है मिला-जुला। संसारमें जितने जीव हैं, उनके सम्मिलित प्रारब्धसे खेत, नदियाँ, सोना-चाँदी तथा दूसरे सब पदार्थ बने। उन पदार्थोंके मिलने-बिछुड़नेमें जो व्यक्तिको सुख-दुःख होता है; वह उसको व्यष्टि-प्रारब्धसे होता है।

इसलिए इस मतमें जो 'मैं सुखी हूं, दुःखी हूं' यह अभिमान है, वह प्रारब्धजन्य नहीं, भ्रान्तिजन्य है। प्रारब्धसे सुख-दुःख तो होता है—सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति तो होती है, किन्तु उत्तर-कालीन जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' यह अभिमान होता है, वह उस सुख-दुःखमें भ्रान्तिसे तादात्म्य करनेके कारण होता है।

पूर्वमीमांसाके मतमें कर्ता-भोक्ता जीव है। अतएव कर्तृत्व, भोक्तृत्व दोनों ही उसके स्वाभाविक हैं। अशुभ कर्म करनेसे दुःख होगा और 'मैं दुःखी हूं' ऐसा अभिमान होगा। शुभ कर्म करनेसे सुख तथा 'मैं सुखी हूं' ऐसा अभिमान होगा। अत्यन्त पुण्योंसे स्वर्ग जाकर अत्यन्त सुखी तथा अत्यन्त पाप से नरक जाकर वह अत्यन्त दुःखी होगा।

वेदान्त या उत्तरमीमांसाकी दृष्टिसे भी 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' यह अभिमान भ्रांतिजन्य है। अतएव चाहे विश्व जल जाय या नष्ट हो जाय, जहाँ अभिमान निवृत्त हो गया, वहाँ सुख-दुःखकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए भ्रान्तिकी निवृत्तिसे ही परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, यह वेदान्त-सिद्धान्त है।

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।

मेरा नहीं है तो कुछ भी मेरा नहीं, और है तो सब मेरा ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामान्यरूपसे पूर्वमीमांसाका मत यही बताया जाता है कि स्वर्गादि लोकविशेषकी प्राप्ति ही मोक्ष है। परन्तु उनका यह विचार उच्चकोटिका है कि इस प्रपंचको नाशवान् मानते हैं। इस शरीरके द्वारा जो भोग्यलोक है, वह परिवर्तनशील है, प्रवाही है और स्वर्गलोक नित्य है : **अपाम सोममसृता अभूम।** इस लोकके सुख-दुःखका सर्वथा परित्याग होकर पुण्यविशेषसे जनित स्वर्गादिलोककी प्राप्ति—प्रपंच-सम्बन्ध विलय अर्थात् लौकिक-प्रपंचके सम्बन्धका सर्वथा टूट जाना ही मोक्ष है।

> **यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।**
> **अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥**

अर्थात् जो दुःखसे मिश्रित न हो, बादमें भी ग्रस्त न हो, मनोरथ-के अनुसार प्राप्त हो उस सुखको 'स्वर्ग'पदसे कहा जाता है।

पूर्वमीमांसकोंने चार्वाक, बौद्ध एवं जैन आदि मतवादोंका निराकरण करके अत्यन्त प्रामाणिक रीतिसे नित्य आत्माके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। आत्मा देहातिरिक्त है, मरणो-परान्त वह रहता है, पापकर्मका फल दुःख एवं पुण्यकर्मका फल सुख होता है। वेद-विहित धर्मानुष्ठानसे जीवात्माकी उन्नति होती है। वेद अपौरुषेय हैं। वेदोंके तात्पर्यनिर्णयकी एक विशेष प्रणाली है—इन सब बातोंका बड़े उत्तम ढंगसे प्रतिपादन किया गया है। यदि वेदके दो विभाग माने जायँ तो उसके अनुष्ठेय अंशका विवेचन पूर्वमीमांसामें है और ज्ञेय अंशका विवेचन उत्तरमीमांसामें है। धर्मानुष्ठानसे शुद्ध-अन्तःकरण पुरुष ही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी होता है। इसलिए पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसाकी पूरक है। विद्वान् मीमांसक प्रपंच-सम्बन्ध-विलयको मोक्ष बताकर विचारके क्षेत्रमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योगियोंसे भी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं और प्रपंचविलयके स्थानपर सम्बन्ध-विलयपर बल देते हैं।

वेदान्ती कहते हैं कि सुखका जो लक्षण मीमांसकोंने माना है, वह स्वर्गमें नहीं घट सकता; क्योंकि वहाँ भी स्पर्धा-असूया होती ही है। ईर्ष्या-द्वेषसे निश्चित सुख अवश्य ही दुःखसे संभिन्न है। वह सीमित कर्मसे उत्पन्न होनेके कारण बादमें भी अवश्य ही दुःखग्रस्त है, नाशवान् है और जीवका सुख पानेके लिए जैसा स्वाभाविक मनोरथ है, वैसा भी नहीं है। इसलिए मीमांसकोंका स्वर्ग वास्तविक सुख नहीं है।

वेदान्तियोंका यह दृढ़ निश्चय है कि स्वर्गका ऐसा वर्णन भी वैराग्यकी उत्पत्ति एवं अन्तःकरणकी शुद्धिकी दृष्टिसे ही है। इस प्रसङ्गका विवेचन फिर करेंगे।

स्वयंज्योति

यह विश्वात्मा क्या है ? हम लोग कभी धातुकी दृष्टिसे विचार नहीं करते, अभिमानकी दृष्टिसे विचार करते हैं। थालमें रोटी रखी है तो कहते हैं: 'अन्न' है और मुखके भीतर चली गयी तो कहने लग गये, 'यह मैं' हूं। यदि थालमें रोटी अन्न है तो शरीरके पहुँच जानेपर भी वह अन्न है। यदि शरीरमें पहुँची रोटी 'मैं' हूं, तो विष्ठाके रूपमें निकलनेपर भी उसको 'मैं' रहना चाहिए। अतः या तो कहो कि थालमें रोटी अन्न है, विष्ठाके रूपमें निकलनेपर भी वह अन्न है, अतः शरीरमें भी वह अन्न ही है अथवा रोटी, विष्ठा तथा शरीरके भीतर सब कहीं वह 'मैं' है। एक सिद्धान्त स्थिर करो कि मिट्टी तथा मिट्टीके विकारसे बने पदार्थ 'मैं' हैं या अन्य। यदि अन्य निश्चय करते हो तो तुम असंग द्रष्टा हो जाओगे, और यदि 'मैं' निश्चय करते हो तो सम्पूर्ण विश्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम्हारा स्वरूप हो गया। शरीरके बाहरकी मिट्टी, जल, अग्नि आदि पदार्थ अन्न हैं या 'मैं'। श्वास शरीरमें हो तो 'मैं' और नाकसे बाहर आ जाय तो अन्य—यह धारणा सर्वथा अविचारित चल रही है।

'पश्चात्'का अर्थ है जाग्रत्-अवस्थाके निमित्त धर्म-अधर्म-की समाप्ति तथा स्वप्नावस्थाके निमित्त धर्म-अधर्मका उदय होनेपर; क्योंकि स्वप्न भी संस्कारजन्य ही होता है। जिन धर्म-अधर्ममें स्थूलवस्तुओंको सामने लाकर सुख-दुःख देनेकी योग्यता नहीं है, ऐसे हल्के धर्म-अधर्म ही स्वप्नमें अपने विषयको सूक्ष्म-रूपमें उपस्थित कर सुख-दुःख देते हैं।

जागरणसे विलक्षण स्वप्नकालीन जो भोग हैं, वे अपनी ही बुद्धिका विस्तार है। वे सूक्ष्म हैं तो उनका अनुभव कैसे होता है? 'ज्योतिषा स्वेन'—अपने प्रकाशसे। यह स्वप्न एक विज्ञानशाला है। एक डाक्टर अपनी दूकानमें तो रोगीको देखकर दवा देता और उसके पैसे लेता है। किन्तु अपनी विज्ञानशालामें अपने प्रयोगोंके चमत्कार दिखलाता है। अनेक रसायन बनाता है। इसी प्रकार हम सृष्टि बनानेवाले हैं, यह बात जाग्रत्में हमें भूल जाती है, क्योंकि हम एक देहके अभिमानी बन जाते हैं। स्वप्नमें अनुभव करते हैं कि हममें नवीन विश्व बनानेकी सामर्थ्य है। स्वप्नमें हम मीलों लम्बा स्थान, देश और वर्षों लम्बा काल बना लेते हैं, यह वहाँ स्पष्ट हो जाता है। वहाँ जो पृथ्वी-आकाश, सूर्य-चन्द्र-तारे, प्राणी-पदार्थ हैं, उन सबके निर्माता हम हैं। 'स्वेन ज्योतिषा'—मात्र अपनी ज्योतिसे हमने वह सब प्रकाशित किया है, जैसे कि सिनेमामें प्रकाश डालकर पर्देपर नये-नये दृश्य प्रकट करते हैं।

अवस्थाएँ स्वरूप नहीं

जाग्रत्-अवस्था हमारा व्यापार-भवन है, स्वप्नावस्था विज्ञान-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भवन और सुषुप्तावस्था विश्राम-भवन, आनन्दभवन। हम इन तीनों स्थानोंमें बँधे हैं या नहीं? सुषुप्तिमें जाते हैं तो स्वप्नमें नहीं रहते। स्वप्नमें जाते हैं तो सुषुप्तिमें नहीं रहते और जाग्रत्‌में जाते हैं तो स्वप्नमें नहीं रहते। अतः स्पष्ट है कि हम इनमें कहीं आवद्ध नहीं। इन अवस्थाओंके बिना हम नहीं रह सकते, यह विचार एकदम झूठा है। विश्वमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके बिना हम न रह सकते हों। जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें हमारा प्यार है। प्यार चाहे कितना ही प्रगाढ हो, झूठा है। पुत्रसे, पत्नीसे हमारा प्यार है; किन्तु उन्हें छोड़कर हम सुषुप्तिमें जाते हैं या नहीं? यदि प्यारको हम न छोड़ पाते तो सुषुप्तिमें जा ही नहीं सकते। तात्पर्य यह है कि हमें यह भ्रम हो गया है कि संसारमें हमारा राग-द्वेष है। अमुकोको पाये बिना या अमुकको नष्ट किये बिना हम रह नहीं सकते। सुषुप्तिमें अपने सुखके लिए हम सब कुछ छोड़ देते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन हम अपने त्याग, अपनी असंगता और अपने वैराग्यका अनुभव करते हैं।

हमारा प्रेम सबसे अधिक किससे है? अपने सुखसे, अपनी आत्मासे। इसीलिए सबको छोड़कर हम सुषुप्तिमें चले जाते हैं। **सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा**—सुषुप्तिमें अपने आपमें हम सबकी स्थापना इतने धीरेसे कर लेते हैं कि पता भी नहीं चलता कि सब कब छूट गये!

स्वप्न और सुषुप्ति ये दोनों अवस्थाएँ न हों तो यह जाग्रत्-अवस्था ही सत्य हो। इसको मिथ्या समझनेका कोई उपाय नहीं रहेगा। सत्यका विचार करते समय हमारा निश्चय कितना पक्ष-पातपूर्ण है कि जाग्रत्‌के अनुभवको ही हम सत्य कहते हैं। किन्तु प्रतिदिन जो स्वप्न और सुषुप्तिके अनुभव होते हैं, उनके प्रकाशमें हम नहीं देखते कि जाग्रत्‌के ये सत्य कितने तुच्छ हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्नके पदार्थोंमें स्थिरता नहीं होती। आज एक स्वप्न देखा, कल दूसरा। जाग्रत्‌के पदार्थोंके रहते ही रहते रज्जुमें सर्पके समान स्वप्नके पदार्थ बाधित हो जाते हैं। इसलिए वे प्रातिभासिक हैं। अतः स्वप्नके पदार्थोंसे हमारा राग नहीं होता और जाग्रत्‌के पदार्थोंसे राग हो जाता है। यदि स्वप्नके पदार्थोंमें भी स्थिरता आ जाय तो उनमें भी जाग्रत्‌के पदार्थोंके समान राग हो जायगा।

फिर राग होनेसे ही जाग्रत्‌के पदार्थ सच्चे नहीं हैं। कभी-कभी स्वप्नमें भी राग हो जाता है और वह स्वप्न जीवनभर स्मरण रहता है।

एक था कुम्भार। वह दिनभर मिट्टीके वर्तन बनाता, पकाता और बेचता था। अथक परिश्रम था उसके जीवनमें। परन्तु रात्रिमें शयन करते ही उसको स्वप्न होता : 'मैं राजा हूं'। सेना, महल, खजाना, रानी, मन्त्रिमण्डल सबके सब वही! प्रतिदिन ऐसा ही होता था—जागनेपर कुम्भार और सोनेपर राजा। थोड़े ही दिनोंमें उसे जाग्रत्‌में अरुचि और स्वप्नमें राग हो गया। यह दृष्टान्त भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन्‌ने दिया है।

स्वप्नमें ज्ञात होता है कि हमारी कल्पनाशक्ति कितनी प्रबल है और सुषुप्तिमें ज्ञात होता है कि मेरे रहते मुझमें सबका अभाव हो जाता है। संसार प्रतीतिमात्र है, स्वप्न है। अपने स्वरूपमें संसार नामकी कोई वस्तु नहीं है।

अपने स्वरूपको समझनेके लिए यह समझो कि ईश्वरने जब जीवको संसारमें भेजा तो इस आशंकासे कि वह अपने स्वरूपको, अपनी ब्रह्मताको भूल न जाय, उसके साथ तीन अवस्थाएँ जोड़ दीं। यह इसलिए कि जब जीवको विचारका उदय होगा तो वह अन्वय-व्यतिरेकसे सोचेगा कि जो जाग्रत्‌में है, वह स्वप्नमें नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और जो स्वप्नमें है वह सुषुप्तिमें नहीं। अतः ये तीनों अवस्थाएँ मेरे कपड़े हैं, ये मेरा स्वरूप नहीं हैं।'

हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः। जाग्रत्-अवस्थाके गुण, स्वप्नावस्थाके गुण, सुषुप्ति-अवस्थाके गुण—सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण। यहाँ गुणका अर्थ है विषय। **विगतगुणगण**—सब गुणोंको छोड़कर अर्थात् निर्विषय।

हमारे अनेक दर्शन हैं। उनकी भूमिकाएँ अनेक हैं। किसीमें किसी न किसी भावकी प्रधानता होती है। सत्त्व, रज और तम ये जो तीन गुण कहे जाते हैं, इनकी प्रधानता सांख्य और योगमें है। वेदान्तमें गुण-शब्दका अर्थ है विषय, अन्तःकरण, दृश्य। अतः **विगतगुणगणः** का अर्थ हुआ, दृश्यरहित होकर।

पात्वसौ नस्तुरीयः। यह दृश्यरहित जो स्वरूपभूत तुरीय है, वह अविद्यानिवृत्ति द्वारा आत्मभूत होकर, हमसे एक होकर, सम्पूर्ण अनर्थोंसे रहित होकर हमारी रक्षा करे। 'रक्षा करे' का अभिप्राय है कि अविद्या, कामादि दोष हममें न आयें।

विश्वात्मा गुरुदेव

कुछ लोग यह कहते हैं कि **प्रज्ञानांशुप्रतानैः** इस मंगलाचरणके प्रथम श्लोकमें प्रतिपाद्य वस्तु परब्रह्म परमात्माका वर्णन है और उस परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न जो गुरुदेव हैं, जिनकी कृपासे उस तत्त्वका साक्षात्कार होता है, उनके जीवन्मुक्तस्वरूपका वर्णन मंगलाचरणके इस दूसरे श्लोकमें है।

पात्वसौ नस्तुरीय—हमारे तुरीय तत्त्व, हमारे परब्रह्म तो ये हमारे साक्षात् बैठे गुरुदेव ही हैं। क्योंकि महापुरुषके चरित्रका नाम 'धर्म' है और महापुरुषकी वाणीका नाम है 'शास्त्र'। महापुरुषके 'मनोराज्य'का नाम वैकुण्ठ, साकेत, शिवलोकादि है। ऐसे महा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुरुषकी 'सुषुप्ति'का नाम समाधि है। महापुरुष जो स्वयं हैं, वह साक्षात् ब्रह्म है।

इस तरह इस श्लोकमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें अपने गुरुदेवका ही वर्णन करते हुए आद्य शंकराचार्य महाराज लिखते हैं कि हमारे तुरीय साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तो ये गुरुदेव है, जो जाग्रत्-अवस्थामें विश्वात्मा बनकर शरीर द्वारा भोगोंको भोग रहे हैं। फिर जब उनकी मौज होती है, तो बाहरके भोगोंको छोड़कर अपने मनसे ही स्वर्गमें इन्द्र बनकर विहार करते हैं। वे ही वैकुण्ठमें नारायण और कैलासमें शंकर बने हैं। दत्तात्रेय, शुकादि अवधूतोंके रूपमें वे ही विचरण कर रहे हैं। फिर जब वे सुषुप्तिस्थ होते हैं, सब प्रपञ्चोंको अपनेमें लीन कर लेते हैं तो वही तो उनकी समाधि है। वास्तवमें ये सारी बातें उनमें नहीं हैं। वे **विगतगुणगणः**—साक्षात् ब्रह्म हैं। वे हमारी रक्षा करें—ज्ञान-दान द्वारा हमारी अविद्या निवृत्त कर दें, नष्ट कर दें।

किसी-किसीका कहना है कि 'मङ्गलाचरणके द्वितीय छन्दमें तीन चरण तो मन्दाक्रान्ता छन्दके हैं, किन्तु चौथा चरण स्रग्धराका हो गया है। इस छन्दोदोषके कारण यह श्रीशंकराचार्य-की रचना नहीं है, किसीने बादमें यह श्लोक जोड़ दिया है।' परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। एक तो यह मन्दाक्रान्ता या स्रग्धरा छन्द नहीं, गाथा-छन्द है और है सुसंगत। दूसरे, इस श्लोकमें माण्डूक्योपनिषद्के सम्पूर्ण प्रतिपाद्यका संकलन कर लिया गया है, इसलिए वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरणकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एवं आवश्यक है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२. उपोद्घात

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं वेदान्तसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयम् ओमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते । अत एव न पृथक्सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वेदान्ते सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति । तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि ।

ॐ और उपव्याख्यान

ॐ यह अक्षर ही यह सब है, उसका उपव्याख्यान करते हैं। यह प्रणव-नामसे, आकृतिसे, अवस्थासे, तत्त्वसे जिस किसी दृष्टिसे विचार करो, सर्वात्मक है।

अब पहले आकृतिमें देखो ! नासिका और भौंह यह प्रणवका प्रथम भाग अकारात्मक है। भौंहसे ब्रह्मरन्ध्रतक जो धारा जाती है, वह उकारात्मक है और उसके बाद अमात्र है। दोनों बाहु और धड़ अकारात्मक हैं, कण्ठ उकारात्मक है और अमात्र तो अतीत है ही। शरीरका तीसरा नीचेका भाग है। उसमें चरण और मूत्रेन्द्रिय अकारात्मक है, उसके ऊपरका भाग उकारात्मक है और फिर अमात्र है। संसारमें जितनी भी आकृतियाँ बनती हैं, रेखाओंसे बनती हैं। रेखा सीधी और घुमावदार तथा बिन्दु— बस ! इनसे सब आकृतियाँ बनेंगी। प्रणव इन तीनोंका संयुक्त प्रतीक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जितने अक्षर हैं, अ, आ, इ, ऊ आदि, सब अकारमात्र हैं। एक 'अ' ही स्वर तथा उच्चारणके भेदसे सब अक्षर बनता है। अ और इ में जो भेद है, वह अकारका भेद नहीं है। वह तो उच्चारणकी प्रक्रियाका भेद है। इसी प्रकार अकारके बिना क, ख, ग, आदि कोई अक्षर नहीं बन सकते। इसलिए जितने नाम हैं, सब अकारसे—अकारके ही उच्चारण-भेदसे ही बने रूपोंसे निर्मित हैं।

ॐ की आकृतिमें पहला भाग 'अ' का है। उसके पीछे जो पूँछ-सी लगी है, वह उकार है। उकारकी मात्रा हम सब इसी प्रकार लगाते हैं। ऊपर जो चन्द्रबिन्दु है, वह अनुस्वार है—मकार है। इस प्रकार प्रणवकी आकृतिमें तीन अक्षर—अकार, उकार और मकार हैं।

इन तीन अक्षरोंका विचार करें तो अर्थकी दृष्टिसे प्रणव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयात्मक है। इसके अर्थका विचार करनेपर विश्व, तैजस, प्राज्ञ और इनके जो विलास और वृत्तियाँ हैं, सबकी सब प्रणवमें ही सन्निहित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रणव सर्वात्मक है। इस उपनिषद्में यह बात विस्तारसे आयेगी, इसलिए यहाँ उसका विशेष वर्णन नहीं करना है।

उपव्याख्यान : ख्यानका अर्थ होता है ख्याति, प्रकट करना। जब इसमें 'आ' उपसर्ग जुड़ जाता है तो 'आख्यान'का अर्थ होता है पूर्णरूपसे ख्यात करना। इसीमें जब 'वि' उपसर्ग लग जाता है तो 'व्याख्यान'का अर्थ हो जाता है, पूर्णरूपसे विशिष्ट प्रक्रियासे प्रकट या प्रसिद्ध करना। 'उप' का अर्थ होता है समीप, अतः 'उप' लग जानेका अर्थ हुआ समीपसे। ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अतः जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान हो जाय, उस रीतिसे जो व्याख्या की जाती है, उसे कहते हैं 'उपव्याख्यान'। प्रणवकी इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ढंगसे व्याख्या प्रारम्भ करते हैं, जिससे हमारे हृदयमें ब्रह्मज्ञानका उदय हो, उससे अविद्याकी निवृत्ति होकर अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो जाय। इसीको 'उपव्याख्यान' कहते हैं।

वेदान्त

वेदान्तसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयम् ओमित्येतदक्षरमित्यारभ्यते—वेदका अर्थ है कांडत्रयात्मक, अपौरुषेय, सम्प्रदायाविच्छेदसे, अनादि-परम्परासे प्राप्त वह शब्दराशि, जिसकी आनुपूर्वीमें कभी किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता, ज्यों-की-त्यों रहती है। 'वेद' शब्दका अर्थ है ज्ञान। ज्ञान नित्य है, वह बनाया नहीं जाता। उसी ज्ञानराशिको वेद कहते हैं। ईश्वर भी वेदका निर्माण नहीं करता; क्योंकि ईश्वरने वेद बनाया हो तो उससे पूर्व उसमें वेदज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार कभी ईश्वरमें अज्ञान भी था, यह मानना होगा। वेद ईश्वरका श्वास-प्रश्वास, जीवन है। **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्**···। मनुष्यके जीवनका प्रतीक श्वास है। इसी प्रकार वेद ईश्वरके श्वास हैं। ईश्वर अनादि-अनन्त है, इसलिए उसके श्वासरूप वेद भी अनादि-अनन्त हैं। ईश्वर स्वभावसे सर्वज्ञ एवं परम कारुणिक है, अतः उसके निःश्वासरूप वेद भी समस्त प्राणियोंके लिए हितकारी हैं।

यह ईश्वरकी, विराट् पुरुषकी श्वास-वायु है। इसमें पंडित-मूर्ख, सदाचारी-अनाचारी सभीको श्वास लेनेकी पूरी सुविधा है। इसी प्रकार वेद भी सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए हितकारी हैं। जो जैसा अधिकारी है, उसके लिए वेद वैसे ही साधनका विधान करते हैं। देहाभिमानीके लिए कर्मका उपदेश करते हैं, जिससे वह देहाभिमानको पार कर सके। सूक्ष्म-शरीराभिमानीके लिए उपासना या योगका उपदेश करते हैं, जिससे वह सूक्ष्मशरीरसे ऊपर उठ जाय।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और जो अज्ञान, कारणशरीर या अविद्यामें आवद्ध हैं, उनको मुक्त करनेके लिए ज्ञानका उपदेश करते हैं, इस प्रकार वेद कांडत्रयात्मक हैं। कर्मकांड, उपासनाकांड, ज्ञानकांड ये उसके तीन कांड हैं। इस प्रकार देहासक्त, भोगासक्तके लिए धर्मानुष्ठान; सूक्ष्मशरीर, राग-द्वेष अथवा मनोराज्यमें आसक्तके लिए उपासना एवं योग तथा कारणशरीर, निद्रा या समाधिमें रस लेनेवालेके लिए ज्ञानका उपदेश वेद करते हैं। अधिकारि-भेद से साधनोंका भी भेद है।

ऐसे वेदका जो अन्त यानी परम तात्पर्य है, उसे वेदान्त कहते हैं। उपनिषद्के शिरोभाग, वेदके शिरोभाग अन्तिम तत्त्वको वेदान्त कहा जाता है। वेदान्तका सीधे-सीधे अर्थ ज्ञानकांड समझ लो जिसमें कर्म, उपासना तथा योगका भी उपयोग है, इन सबके द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है। जो कुछ भी किया जाता है, चाहे वह शरीरसे हो या मनसे, उसे करनेके पश्चात् एक उपलब्धि, एक अनुभूति होती है। सब कुछ करने, सब कुछ सोचनेके बाद यह उपलब्धि होती है। उपलब्धिका फल कर्म एवं उपासना कभी नहीं हो सकता, हम कुछ पानेके बाद करें, ऐसा नहीं है, हम कुछ करनेके बाद पाते हैं। उपलब्धि सदा ज्ञानात्मक होती है। हमें अमुक वस्तु मिल गयी, यह ज्ञान है। इसलिए कर्म-उपासनाका फल ज्ञान है, ज्ञानका फल कर्म या उपासना नहीं :

तस्य कार्यं न विद्यते, नैव तस्य कृतेनार्थः।
कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हे ।

सभी साधनोंका फल ज्ञानात्मक ही होता है। साधन बहिरंग, कृतिसाध्य होते हैं तो ज्ञान अन्तरंग एवं स्वतःप्रकाश होता है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों उपलब्धिके विषय हैं, उपलब्धिस्वरूप हैं। जबतक भ्रान्तिके कारण उपलब्धिको परिच्छिन्न मानते हैं तबतक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सभी साधन और साध्य परिच्छिन्न ही भासते हैं। फलात्मक सुख भी परिच्छिन्न भासता है। परन्तु जब स्वरूपभूत उपलब्धिकी अद्वितीय ब्रह्मरूपताका अनुभव हो जाता है तब सब कुछ उपलब्धि ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह कि जब सांसारिक साध्य-साधनोंका फल भी ज्ञानात्मक उपलब्धि ही है तो स्वयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके सम्बन्धमें कहना ही क्या है।

जहाँ अन्यका ज्ञान होता है, वहाँ उससे राग या द्वेष उत्पन्न होता है। हमने जान लिया कि अमुक भले आदमी हैं तो इच्छा होती है कि उनसे मिलो, उनके पास बैठों, उनसे मित्रता करो। और जान लिया कि अमुक बुरे लोग हैं तो उनका साथ छोड़ना कर्तव्य बनता है। इस तरह हेय एवं उपादेयका ज्ञान प्रवर्तक एवं निवर्तक होता है। अच्छेके ज्ञानसे प्रवृत्ति और बुरेके ज्ञानसे निवृत्ति होगी; किन्तु अपने स्वरूपका ही ज्ञान हो तो उससे प्रवृत्ति होगी या निवृत्ति? अपनेको पकड़ेंगे या छोड़ेंगे? अतः स्पष्ट है कि स्वरूपज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता। उसमें विधि और निषेध नहीं हैं।

अविद्यावद्विषयाणि—जितने विधि-निषेध हैं, सब अज्ञानीके लिए हैं, तत्त्वज्ञके लिए नहीं। वेदान्त सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य है। इसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् कुछ भी कर्तव्य, कुछ भी प्राप्तव्य या कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। जिसने वेदान्तके अभिप्रायको जान लिया, वह कृतार्थ हो गया।

वेदान्तार्थ क्या है?

वेदान्तमें सात विषयोंका प्रतिपादन होता है: १. अधिकारि-निर्णय, २. गुरूपसत्ति, ३. तत्पदार्थ एवं त्वंपदार्थका शोधन, ४. दोनोंकी एकता, ५. विरोध-परिहार-समन्वय, ६. साधन,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७. फल। इन सातोंका वर्णन सम्पूर्ण वेदान्तमें होता है। इसीका नाम वेदान्तार्थ है। अब इनमेंसे प्रत्येकपर थोड़ी बात कह दें।

अधिकारि-निर्णय

अधिकारी = साधनचतुष्टयसम्पन्न। वेदान्तार्थकी उपलब्धिके लिए जाति-भेद या लिङ्ग-भेदकी अपेक्षा नहीं है। वेद तथा उपनिषदोंके स्वाध्यायमें तो शास्त्रके अनुसार विधि-निषेध हैं; किन्तु अर्थज्ञानमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं है। क्योंकि महाभारत, पुराण तथा भाषा-ग्रन्थोंसे भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है।

कर्म शरीरसे होता है, अतः यज्ञादि कर्मोंमें शरीरकी जाति, लिङ्ग आदिका अधिकार देखा जाता है। किन्तु ज्ञान तो बुद्धिसे होगा। अतः शमादिसम्पन्न जिज्ञासु ही ज्ञानका अधिकारी है। वेदान्तके प्रसंगमें जहाँ ब्राह्मणादि जातियोंका वर्णन आया है, वहाँ वह ब्राह्मणके अन्तःकरणनिष्ठ शम-दमादि लक्षणोंसे युक्त व्यक्ति समझना चाहिए। वेदान्तमें दैहिक नहीं, बौद्धिक अधिकारकी मान्यता है और इसीलिए वहाँ शम-दमादियुक्त पुरुष अपेक्षित होता है।

वेदान्तमें 'श्रवण' शब्द भी पारिभाषिक है। **वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः** षड्विध लिङ्गोंद्वारा विचार करनेपर सम्पूर्ण वेदान्तका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें है, इस निर्णयका नाम श्रवण है। श्रवणशष्कुली यानी कानके छेदमें शब्द जाकर टकराये, इसका नाम श्रवण नहीं है। कानमें महावाक्य जानेमात्रसे ज्ञान नहीं हो जाता। तत्पदार्थ तथा त्वम्-पदार्थका शोधन करके असि पदसे दोनोंके ऐक्यके बोधको—जो आत्मा है वही परमात्मा है, इस बुद्धि-वृत्ति-निश्चयको—वेदान्तमें श्रवण कहते हैं। श्रवणका तात्पर्य है महावाक्यके अर्थनिश्चयसे। ऐसा निश्चय महावाक्य सुननेसे हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या महावाक्यके पर्यायवाची किसी शब्दसे। जिस वाक्यका अर्थ महावाक्यके सदृश है, वह महावाक्य ही है। अतः उसके अर्थका निश्चय श्रवण है।

जहाँ वस्तु परोक्ष होती है, वहाँ श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता; किन्तु जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है वहाँ श्रवणमात्रसे ज्ञान हो जाता है। लेकिन प्रत्यक्ष वस्तुमें भी श्रवणमात्रसे कब ज्ञान होगा? जब भाषाका ज्ञान हो। जैसे 'यह पुस्तक है' इस वाक्यके श्रवणसे उसीको तात्पर्य-ज्ञान होगा जो 'यह' 'पुस्तक' और 'है' इन शब्दोंका अर्थ पहलेसे जानता हो।

अच्छा, अब मान लो कि हमें नित्यानित्यवस्तु-विवेक करना है। एक नित्य है और अन्य अनित्य। संसारमें हमें इन्द्रियों या चित्तवृत्ति द्वारा अनेक पदार्थोंका अनुभव होता है। पदार्थ कभी अनुभवमें आता है, कभी नहीं आता, किसी रूपमें अनुभवमें आता है, किसी रूपमें नहीं आता। अतः इसमें जो अनुभाव्य विषय है, वह अनित्य है और अनुभविता यानी अनुभव करनेवाला है। वह नित्य है : **तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते**…।

उद्योग करके हम मकान बनाते या काम करके कुछ वस्तुएँ एकत्र करते हैं तो समय पाकर वे क्षीण हो जाती हैं। इसी प्रकार धर्म-कर्म करके हम लोक-परलोकके लिए जो पुण्य या वस्तुएँ इकट्ठी करते हैं, वे भी समयपर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार लोक और परलोककी अनित्यताका जो विवेक है, वह ज्ञानका पर्यायवाची नहीं है। **विचिर पृथग्भावे** से विवेक शब्द बना है। विवेचनको विवेक कहते हैं। विवेक भेदका होता है। जहाँ कोई वस्तुएँ मिल गयी हों, वहाँ उन्हें पृथक्-पृथक् कर देना विवेक है। अनित्यका विवेक करके उससे जो राग-द्वेष है, उसे छोड़ देना और नित्यमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो सहज प्रीति है उसे जगाना, यही नित्यानित्यवस्तु-विवेकका स्वाभाविक फल है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्—कर्मसे बनाये जो लोक-परलोक हैं, उनकी परीक्षा करके विवेकी ब्राह्मण विरक्त हो जाय। यहाँ यह समझ लेना है कि जब विवेक करेंगे तो वैराग्य स्वभावतः होगा। यदि विवेकी होनेपर भी वैराग्य न आये तो समझना चाहिए कि विवेकमें कहीं भूल है, वह विवेक नहीं है। क्योंकि किसी वस्तुको नाशवान्, अपवित्र, मूर्खताभरी एवं दुःखरूप समझनेपर उससे कभी प्रीति नहीं होती। उससे रागकी निवृत्ति हो जाती है। अतः विवेकका फल वैराग्य स्वाभाविक है।

अपने जीवनमें वैराग्य आता है तो छः बातें स्वभावतः आ जाती हैं। उन्हींको वेदान्तमें 'शमादि-षट्सम्पत्ति' कहते हैं। यानी काम-क्रोध-लोभ-मोहादिकी शान्ति। जब हम धन या व्यक्तिके विषयमें सोचते हैं कि यह हमें अपने साथ न बाँधे तो वह हट जाय, चला जाय या नष्ट भी हो जाय तो भी हमें कोई कष्ट न होगा। जिसे हम छोड़ आये, बुरा समझा, वह छूट जाय तो कोई हानि नहीं। इस प्रकार काम-क्रोध-लोभादि विकारोंकी अपने आप शान्ति हो जाती है। यह वैराग्यका फल नहीं, वैराग्यका विलास है।

> **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
> **नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥** (कठोप०)

यह आवश्यक भी है। हमारे जीवनमें जो अशान्ति है, वह काम-क्रोधादिके शान्त न होनेसे ही है। कोई केवल बुद्धिमत्तासे परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए शम होना चाहिए। क्रोधादिसे वैराग्यका नाम शम है। काम-क्रोधादि तो नहीं हैं, किन्तु धर्मके अनुसार, न्यायके अनुसार हमें बहुत-सा धन मिल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया। हमारे पास स्त्री, कपड़े, भोजन, आदि सब हैं और उच्छृङ्खल भावसे उनका जितनी हमारी इच्छा हो, हम भोग करते हैं। सरकार कहती है—यह तुम्हारा है। कानूनसे तो तुम्हें मिला है, लेकिन धर्मसे मिले इन भोगोंको भी मत भोगो; दम करो। निषिद्ध कर्मसे इन्द्रियोंके दमनका नाम दम नहीं है। वह तो अधर्म होनेके कारण त्याज्य है। दुश्चरितसे विरत हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं होगी। तब दम क्या है? जो कानूनसे, धर्मानुसार, न्याय-प्राप्त हमारे पास भोग्य वस्तु है, उसमें भी अपनी इन्द्रियोंका दमन करना। सारांश, काम-क्रोध आदिसे वैराग्यका नाम शम और इन्द्रियोंके वैध, विहित भोगसे वैराग्यका नाम दम है।

हम इन्द्रियोंका दमन तो करते हैं, किन्तु क्या कर्म करनेकी छुट्टी है? नहीं, यह कर्माधिक्य भी तत्त्वज्ञानमें बाधक है। श्रीमद्भागवतमें इसका एक बहुत सुन्दर प्रसंग है। सनकादिने जाकर ब्रह्माजीसे पूछा कि 'महाराज, मन विषयोंमें और विषय मनमें प्रविष्ट हो गये हैं। इनका विवेक, इनका पृथक्करण कैसे हो? वहाँ लिखा है: **नाभ्यपश्यत कर्मधीः**। ब्रह्माजीकी बुद्धि उस समय जीवोंके कर्म-निर्णयमें लग रही थी कि इसका ऐसा कर्म है, अतः इसे ऐसा शरीर दो; अतः उनको इस प्रश्नका उत्तर नहीं सूझा। क्यों नहीं सूझा? इसलिए कि उनकी बुद्धि कर्ममें लगी थी। इसी कर्माधिक्यसे वैराग्य है उपरति।

अब आगे है, तितिक्षा। यह वैराग्यका विलास है। देहसे वैराग्य अर्थात् सर्दी, गर्मी एवं दूसरे सब प्रकारके कष्ट बिना चिन्ता, बिना विलापके सह लेना तितिक्षा है।

अभिमानसे वैराग्यका नाम है श्रद्धा। मनुष्यको अपने उच्च-कुल, धन, पद, विद्या, तपस्या आदिका अभिमान होता है। जब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसीपर श्रद्धा करते हैं, तो उसके सामने यह सारा अभिमान टूट जाता है। अभिमानरूपी रोगकी निवृत्तिके लिए श्रद्धा महौषधि है। वेद-शास्त्र और गुरुकी बात मानना श्रद्धा है। अपने अभिमानमें हम किसीको अपनेसे बड़ा, बुद्धिमान् नहीं मानते। ऐसी अवस्थामें जब किसीको तुम अपना हितैषी नहीं मानते, किसीपर श्रद्धा नहीं करते तो तुम्हारी सहायता कोई कैसे करेगा ? तुम्हारा कल्याण कैसे होगा ?

मनोराज्यकी शान्तिका नाम समाधान है। यह भी सिद्धियों-की इच्छासे रहित होना चाहिए : **नासमाहितः।**

ये छहों वैराग्यके विलास हैं। अब देखो कि हमारे भीतर ये छः हैं या नहीं। ज्ञात होगा कि ये कभी न कभी धोखा दे जाते हैं। छह के छह निरन्तर नहीं रहते। इसमें कारण है अन्तःकरणका स्वभाव। वह सदैव शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानको धारण करनेमें समर्थ नहीं।

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः।

यह श्रुति सबकी सम्मतिमें प्रमाण है। अब मुमुक्षा क्या है ? अन्तः-करण मानता नहीं, कोई न कोई दोष अपने भीतर प्रकट कर देता है। इसे समाधिसे शान्त करें तो वहाँसे उत्थान होगा। इष्टदेवमें लगायें तो वहाँसे भी हटता है। धर्मानुष्ठानमें लगायें तो भी रजोगुण-तमोगुणमें आता ही है। अतः ऐसी युक्ति होनी चाहिए कि अन्तःकरणका बन्धन सदाके लिए छूट जाय। अन्तःकरण रहेगा तो संस्कार ग्रहण करेगा ही। प्रिय संस्कार लेगा तो सुखी होगा और अप्रिय लेगा तो दुःखी होगा। अतः इस व्यक्तित्वसे, परिच्छिन्नत्व-से छुटकारा होना चाहिए। जबतक हम परिच्छिन्न रहेंगे, तबतक करणकी निवृत्ति नहीं होगी। करण रहेंगे तो कर्म होंगे, कर्मके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संस्कार आयेंगे। कर्ता रहेंगे तो भोक्ता भी रहेंगे और भोगके संस्कार भी आयेंगे। इस तरह परिच्छिन्न रहेंगे तो संसारी होना ही पड़ेगा। इस संसारीपनको निवृत्त करनेकी जो तीव्र आकांक्षा है, उसे 'मुमुक्षा' कहते हैं।

इस साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न पुरुष अधिकारी है। यह अधिकार तो बड़ा कठिन हो गया ! इसका तो अर्थ हुआ कि संसारमें कदाचित् ही कोई अधिकारी मिले। इस सम्बन्धमें कई भ्रम और कई बाधाएँ हैं। उनकी थोड़ी चर्चा कर दें। सबके लिए थोड़ी आश्वासनकी बात भी होनी ही चाहिए। कोई कैसा भी पापी हो, उसके लिए उसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। बिल्कुल मत डरो।

भक्त लोग अपने मार्गकी सुगमताके विषयमें घोषणा करते हैं :

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥—गीता

अतः पापी भी भक्तिका अधिकारी है। कितना उन्मुक्त द्वार है सबके लिए !

वही गीता और वही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ज्ञानके विषयमें भी कहते हैं :

> अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
> सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥—गीता

यदि तुम संसारके सभी पापियोंसे बड़े पापी हो तो भी ज्ञान-नौकापर आरूढ होकर, केवल ज्ञानसे अर्थात् कर्म, उपासना, योग आदि किये बिना ही, सारे पाप-तापसे पार हो जाओगे। अतः

श्री भारती ...
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अबसे पूर्व जो पाप हुए, उनकी चिन्ता छोड़ दो। अब रहा साधन-चतुष्टय। तो तुम घर-द्वार छोड़कर घंटेभरको यहाँ आये हो, कुछ परमार्थ-चर्चामें सुख लगता है। कुछ विवेक और कुछ वैराग्य है, तभी तो आये हो। यहाँ न कोई इन्द्रिय-भोग तुम्हारे सामने है और न कोई काम-धन्धा। यहाँ उपरामता कुछ तो है। यहाँ बिना गद्देके, बिना सुख-सुविधाके बैठे हो—यह तितिक्षा भी है ही। श्रद्धा न होती तो यहाँ आते ही क्यों? नीचे क्यों बैठते? तुम्हारा मन यहाँ मनोराज्य भी नहीं करता, यह समाधान है। वेदान्तकी बात सुन रहे हो तो सोच भी रहे हो, कुछ मनमें भी आ रहा है। यह हुई मुमुक्षा। इस प्रकार इस समय तो तुम्हारे जीवनमें दीखता है—साधन-चतुष्टय।

यह षट्सम्पत्ति जो इस समय तुममें दीखती है, क्षणिक है, स्थायी नहीं है। लेकिन शास्त्रमें यह कहीं नहीं लिखा कि जब तुम श्रवणके लिए गुरुके समीप जाओ तो उससे कितने वर्ष, महीने, दिन या घंटे पहलेसे तुम्हारे भीतर षट्सम्पत्ति होनी चाहिए। जिस समय तुम वेदान्त-विचार करने बैठो, उस समय तुममें यह षट्सम्पत्ति होनी चाहिए—यही शास्त्रका तात्पर्य है।

अब शंका यह होगी कि वह अवस्था आगे तो नहीं रहेगी—तो कल फिर आना। इसी प्रकार बार-बार प्रयत्न करते हुए—किसी दिन श्रवण करते हुए तुम्हें बोध हो गया तो फिर षट्सम्पत्तिकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अतः सत्संग करते चलो; निश्चय ही अधिकारी बन जाओगे। अधिकारीके सम्बन्धमें यदि तुम्हारी यह भावना है कि पहले एकबार हमें सगुण-साकार ईश्वरका दर्शन होगा, तब हम वेदान्तके अधिकारी होंगे तो इष्टमें प्रीति-बन्धन हो जानेकी सम्भावना है। तब तुम्हें मनपसन्द ईश्वरकी प्राप्ति हो जायगी, लेकिन ईश्वर जैसा है, वैसा नहीं मिलेगा। तत्त्वज्ञान-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में इष्टराग भी प्रतिबन्ध ही है। इष्टदर्शनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासाका उदय होना चाहिए, न कि रागका उदय।

यदि सोचते हो कि पहले योग करें और समाधि लग जाय, तब तत्त्वज्ञानके अधिकारी होंगे! तो भाई, समाधिमें तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाधिमें तो वृत्ति रहती ही नहीं और अविद्याकी निवृत्तिके लिए ब्रह्माकारवृत्तिकी आवश्यकता है। अतः समाधि अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा वृत्तिज्ञानमें उपयोगी हो सकती है। समाधि-संस्कारजन्य प्रज्ञा—'मैं' समाधिकालमें निर्विषय और निर्वृत्तिक था, इसलिए अब भी वैसा ही हूँ—वेदान्तके लिए उपयोगी है। परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान समाधिमें नहीं हो सकता। अतः समाधि अज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती। अतः समाधिके बिना तत्त्वज्ञान होगा ही नहीं, यह बात चित्तमें बिल्कुल मत रखो। फिर, समाधि केवल प्राणायामसे ही नहीं लगती। आसनसे लगती है। तदाकार-वृत्तिसे लगती है। विचारसे भी लगती है। जिस विषयमें गाढ़ विचार करेंगे, उसमें समाधि लग जायगी। फिर समाधिका बाध भी हो जायगा। समाधि अन्तःकरणमें लगती-टूटती है और अधिष्ठान-ज्ञानसे अन्तःकरणका बाध हो जाता है। अतः अपने अधिकारके सम्बन्धमें जो असम्भावना, विपरीत-भावना, संशय, विपर्यय हो, उसका निवारण कर देना चाहिए। इस तरह शुद्धान्तःकरण मुमुक्षु वेदान्तका अधिकारी है।

अब अन्तःकरण-शुद्धिके साधनपर विचार करते हैं। श्रुति कहती है कि इन्द्रियों द्वारा पवित्र कर्मोंका अनुष्ठान और पवित्र विषयोंका संयमपूर्वक सेवन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

आहार-शुद्धिसे अन्तःकरण-शुद्धि

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। आहारकी पवित्रतासे अन्तःकरणकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शुद्धि होती है। श्री रामानुजाचार्यजी 'आहार' पदका अर्थ करते हैं भोजन। इस आहारमें तीन प्रकारकी शुद्धि होना आवश्यक है। प्रथम तो भोजनकी वस्तु जातिसे, स्वरूपसे शुद्ध हो। मांस, आदिकी तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। प्याज, लहसुन, बरसाती छत्ता, उच्छिलीन्ध्र आदि जातिसे ही अशुद्ध हैं। दूसरे, निमित्तसे अशुद्ध। जिस स्थानपर भोजन बना, जिन बर्तनोंमें बना, जिन बर्तनोंमें रखा गया, वे अशुद्ध थे। अथवा भोजनमें कौए या कुत्तेने मुख डाल दिया, किसी प्रकार कोई अशुद्ध वस्तु भोजनमें मिल गयी तो वह निमित्त हुई और उस निमित्तके दोषसे भोजन अशुद्ध हो गया। तीसरा दोष आश्रय-दोष है। भोजन बनानेवाला अशुद्ध है अथवा वह रो रहा है। जो स्त्री रोते-रोते भोजन बना रही हो, उस भोजनके करनेवालेको रोना पड़ेगा। एक प्रकारका आश्रय-दोष और भी है। जिस धन से भोजनसामग्री आयी, वह ईमानदारीकी कमाई होना चाहिए। वह कमाई छल, कपट, चोरी, बेइमानीकी हो तो उससे आये पदार्थको खानेवालेका मन शुद्ध होना असंभव है। इस प्रकार जो लोग अन्नसे मनकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतमें आहारका सब प्रकार शुद्ध होना आवश्यक है :

> **शौचानामपि सर्वेषामर्थशौचं परं स्मृतम्।**
> **योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥—मनु०**

भगवान् श्रीशंकराचार्यने 'आहार' पदका अर्थ सम्पूर्ण विषय ही किया है : **आह्रियन्ते इति आहाराः = विषयाः।** अर्थात् जब हम कान, आँख त्वचासे, रसना और घ्राण केवल धर्मानुकूल शुद्ध विषयोंका ही सेवन करने लगते हैं तब अपने आप अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। यह आहार सम्पूर्ण इन्द्रियोंका ही आहार है, केवल भोजन नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'आहार' शब्दका भोजन अर्थ केवल इस अभिप्रायसे किया गया है कि भोजनका प्रभाव सीधे मनपर पड़ता है : **जैसा अन्न वैसा मन**। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें यह बात कही गयी है कि रसपर विजय प्राप्त कर लेनेसे सारी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं।

पहले कठोपनिषद्के जिस मन्त्रकी चर्चा की गयी है, उसमें अन्तःकरण-शुद्धिकी चार भूमिकाएँ बतायी गयी हैं।

१. दुश्चरित्रताका परित्याग, २. कामक्रोधादिका परित्याग, ३. मनोराज्यका परित्याग, ४. सिद्धियोंकी इच्छाका परित्याग।

यदि ये चारों, बातें न हों तो बहुत बड़ा शास्त्रज्ञान होनेपर भी आत्मा एवं परमात्माकी एकताका बोध नहीं हो सकता। कहना नहीं होगा कि श्रीशंकराचार्यके मतमें आहारशुद्धिके अन्तर्गत इन सभी बातोंका सन्निवेश हो जाता है।

दूसरा मत है कि कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है : **तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन ज्ञानेन तपसानाशकेन**। इस मत-में जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार संस्कार बनते हैं। संस्कारके अनुसार ही वासना आती है। इसलिए यदि हमारी क्रिया शुद्ध हो जाय, निषिद्ध कर्मका परित्याग होकर विहित कर्म ही हो तो चित्तशुद्धि हो जायगी। इन दोनों मतोंका भेद समझ लो। अन्नमय-कोषमें जिनकी अवस्थिति होगी, उनकी अन्तःकरण-शुद्धिका साधन आहार-प्रधान होगा और जिनकी प्राणमय-कोषमें अवस्थिति होगी, उनकी अन्तःकरणशुद्धि होगी धर्म-प्रधान।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥—मनु०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर्ममें भी वह कर्म करणीय है, जिसे करते हुए आत्मग्लानि न हो और आत्मतृप्ति तथा पवित्रताका अनुभव हो। ऐसे कर्म प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए तथा ग्लानि एवं असन्तोषकारक कर्म छोड़ देने चाहिए।

तीसरा मत है कि अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धि वासना-संकल्पके अनुसार होती है। अर्थात् हमारे चित्तकी वृत्ति शुद्ध होनी चाहिए। अन्तःकरण विज्ञानमय, वासनात्मक है। वह शुद्ध-वासनाके उदयसे शुद्ध और अशुद्धवासनोदयसे अशुद्ध होता है। अतः अन्तःकरणकी शुद्धि उपासनासे होती है : **मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, यस्य देवे परा भक्तिः** इत्यादि। इस मतमें अपने मनमें यह इच्छा आयी कि मैं श्रीराम, कृष्ण, शिव या श्रीनारायणको प्राप्त करूँगा तो पचास इच्छाएँ धर्मसे विपरीत होनेके कारण छूट गयीं और उनचास इच्छाएँ अपने इष्टसे भिन्न विषयकी होनेके कारण छूट गयीं। केवल इष्टविषयक इच्छा मनमें रहती है। यह इच्छा भी इष्टदर्शनसे पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार उपासनाके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

चौथा मत है कि सम्पूर्ण वासनाओंको अभिभूत करके समाधि प्राप्त करनी चाहिए; क्योंकि अन्तःकरणमें वासना बनी रहेगी तो पता नहीं, कब अच्छाईके स्थानपर बुराई आ जाय। निर्विषयक, निर्विकल्प. निर्वीज, असम्प्रज्ञात-समाधिपर्यन्त अन्तःकरणकी शुद्धि ही तो है। यह योगमार्ग है : चित्तको सर्वथा निर्विषयक बना देना चाहिए। न मनमें विषय आयेगा और न अशुद्धि आयेगी। दोष तभी होते हैं, जब अन्तःकरण सविषय होता है। चित्तमें पुरुष या कामिनी है तब काम हैं। जब धन है तब लोभ है। जब शत्रुको स्मरण है तब द्वेष है। यदि चित्त निर्विषय हो जाय तो न काम, न क्रोध, न लोभ, न मोह। काम सविषयक है, क्योंकि उसमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुछ अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार सन्तोष, शान्ति, निर्मोह ये निर्विषयक हैं। वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि एक सद्गुण है और वह है, अपने अन्तःकरणको शान्त रखना। अन्तःकरणकी इस शान्तिको ही ब्रह्मचर्य, सन्तोष, निष्कामता, निर्मोहता आदि कहते हैं। अन्तः-करणकी शान्तिसे सम्पूर्ण दोषोंको निवृत्ति हो जाती है। यही एक सद्गुण है शेष सबके सब दुर्गुण हैं। सद्गुणोंके अनेक नाम तो व्यावर्तकके भेदसे कल्पित हैं। जैसे : कामको नष्ट करनेवाली शान्ति ब्रह्मचर्य तो लोभको नष्ट करनेवाली शान्ति सन्तोष कहलाती है। इसका अर्थ हुआ कि सद्रूप परमात्मासे अभिन्न होनेपर अर्थात् अपने आश्रयस्वरूप परमात्मासे पृथक् न देखनेपर 'वृत्ति'का नाम 'गुण' हो जाता है। सद्से अभिन्न गुण ही सद्गुण है और यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। इसमें प्रमाण है :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥

पाँचवाँ मत है कि अन्तःकरण न अन्नजन्य है, न प्राणजन्य, न कर्मजन्य, न वासनाजन्य और न सत्तात्मक ही है।

न बाह्येनापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
तदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥

मनकी सत्ता ही नहीं है। न वह बाहर है और न भीतर। इसके लिए कोई प्रयत्न करनेकी जरूरत ही नहीं है।

विषयकी प्रतीतिको ही मन कहते हैं। जहाँ अन्यरूपसे विषयकी प्रतीति है, वहाँ चेतनको ही मन कहते हैं। जहाँ अन्यतारहित विषयकी प्रतीति है, वहाँ मनको ही चेतन कहते हैं। अतः मनमें जो शुद्धकी प्रतीति है, उसीका नाम अन्तःकरणकी शुद्धि है और अशुद्धकी प्रतीतिका नाम अन्तःकरणकी अशुद्धि है। हम केवल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शुद्धका चिन्तन करें। शुद्ध यानी जिसमें दूसरी वस्तु मिली न हो। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मका चिन्तन ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। इसलिए अब आत्म-ब्रह्म-जिज्ञासा प्रारम्भ करें।

तुम्हारा अन्तःकरण जन्मजात शुद्ध है। जितने समय तुम परमात्माका चिन्तन करते हो, उतने समय तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध रहता है और जितने समय संसारका चिन्तन करते हो, अशुद्ध रहता है। बहुत दिनोंके अभ्याससे अन्तःकरणको शुद्ध नहीं होना है। परमात्माके चिन्तनमें लगो कि बस, अन्तःकरण शुद्ध हो गया। क्योंकि चिन्तनके अतिरिक्त अन्तःकरण और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार शुद्ध परमात्माका चिन्तन प्रारम्भ करते ही तुम शुद्धान्तःकरण होनेके कारण वेदान्त-श्रवणके अधिकारी हो गये।

कोई-कोई महात्मा ऐसा कहते हैं कि दूसरे घरमें यदि प्रवेश करना हो तो यह विचार करना चाहिए कि हम इसके अधिकारी हैं या नहीं। अपने ही घरमें प्रवेश करना हो तो उसमें अधिक उधेड़बुन करनेकी आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तो अधिकारका अर्थ है, ब्रह्मज्ञानका अर्थित्व-सामर्थ्य एवं शास्त्रोक्त पद्धतिसे वेदान्त-वेद्य ब्रह्मात्मैक्यका अनुसन्धान। इसलिए अधिकारीका विचार आवश्यक है। अपने घरमें ही ठाकुरजीका मन्दिर हो, तो भी गन्दे पाँव उसमें घुस जाना आत्मप्रसादका हेतु नहीं है। पाँव धोकर ही उसमें प्रवेश करना चाहिए। इसी प्रकार आत्मज्ञान निवृत्ति-प्रधान होनेके कारण उसमें बाह्य पदार्थोंका अपोहन अपेक्षित होता है। इसी भोगापवाद, कर्मापवाद, वासनापवाद, विक्षेपापवाद एवं अनात्मचिन्तनापवादको चित्तशुद्धिकी पाँच भूमिकाएँ कहते हैं। इसीसे आत्मज्ञानका मार्ग प्रशस्त होता है।

गुरूपसदन

गुरूपसदन यानी गुरुकी शरणमें जान लें :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं 'ब्रह्मनिष्ठम् ।

ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास जाना चाहिए और 'अभिगच्छेत्'—विधिपूर्वक पूर्णरूपसे जाना चाहिए। मनमें संसारको अपना सर्वस्व मानें और मुखसे गुरुको सर्वेसर्वा कहें, यह शरणागति नहीं है।

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।

गुरुमें पूरी भक्ति होनी चाहिए। अर्थात् गुरु, इष्ट, आत्मा और मन्त्र इन चारोंमें एकता होनी चाहिए। गुरु-शरणागतिमें पहली बात है कि जो अविश्वासी है, वह गुरुकी शरण नहीं जाता। अविश्वास जिस हृदयमें है, वह उसी हृदयको दुःख देगा। जिसके प्रति होगा, उसको दुःखी नहीं करेगा। यदि संसारमें एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके प्रति तुम्हारे चित्तमें संशय तथा अविश्वास न हो, तो तुम्हारे अन्तःकरणकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

स्वयं समझता नहीं और किसीपर श्रद्धा नहीं, तो उसका फल क्या होगा? संशय और विनाश। अपने अन्तःकरणमें संशय एवं अविश्वास न हो तो यही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

दूसरी बाधा है, अभिमान। परमात्मा मापशून्य है अर्थात् देश, काल, वस्तुकृत अन्त उसमें नहीं है। वह परिपूर्ण है। हममें अभिमान कब होता है? जब हम अपना माप बना लेते हैं कि हम ब्राह्मण हैं, विद्वान् हैं, हिन्दू हैं, धनी हैं, तपस्वी हैं आदि। यह साढ़े तीन हाथका शरीर हमारा माप बन जाता है।

ब्रह्म तं परदाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद ।

श्रुति कहती है कि जो ब्रह्मको अपनेसे अलग मानेगा वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पराभूत होगा—उसे पराजयका सामना करना पड़ेगा। एक खड़के थैलेमें पहाड़ कैसे समा सकता है ? इसी प्रकार अभिमानके घेरेमें कोई ईश्वरको लाना चाहे तो कभी नहीं आ सकता। ईश्वर मिलेगा तो अभिमानकी निवृत्तिसे ही मिलेगा। अभिमान दम्भ है। इसकी निवृत्ति गुरु-शरणागतिसे ही होगी : **दम्भं महदुपासया।**

श्रीमद्भागवतमें मनोरोगोंमेंसे प्रत्येककी ओषधि बतलायी गयी है :

> **असंकल्पात् जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।**
> **एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥**

यदि अपने गुरुदेवमें भक्ति हो तो मनुष्य सब दोषोंपर बड़ी सुगमतासे विजय प्राप्त कर सकता है; क्योंकि गुरुके सामने न दम्भ होगा, न मान। गुरुमें संशय नहीं होगा। उनके सामने काम, क्रोधादि भी नहीं होंगे। इसीलिए गुरुशरणागति आवश्यक है।

वेदान्तमें तो गुरुके बिना काम चल ही नहीं पाता। एक दृष्टान्त लो : मेरा एक बचपनका मित्र है। हम दोनों वर्षोंसे मिले नहीं; किन्तु पत्र-व्यवहार चलता है। मैं उसके यहाँ गया; किन्तु उसने पहचाना नहीं। मैं नाम बताता नहीं और खुला व्यवहार करता हूँ। वह हैरान होता है। इतनेमें किसीने मेरा नाम ले दिया तो गलेसे आ लिपटा। अब देखो कि मैं उसके सामने अपरोक्ष था या नहीं ? किन्तु नेत्रोंके सामने होना एक बात है और पहचानना दूसरी वस्तु।

हमारी आत्मा जो ब्रह्म है, वह परोक्ष नहीं है। हमसे कहीं दूर नहीं है। सदा सोते-जागते, उठते-बैठते अपने साथ है। यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नित्य-प्राप्त है। इसमें वियोगकी सम्भावना ही नहीं। इस नित्य-प्राप्त आत्माको हम पहचान नहीं रहे हैं। यदि इसमें स्थित होनेसे इसकी पहचान होती तो सुषुप्तिमें हो जाती, समाधिमें हो जाती। पास रहते हम इसे पहचान नहीं रहे हैं, तो बतानेवालेकी आवश्यकता है। जबतक कोई बतायेगा नहीं कि यह तो तू ही है, तबतक इसका ज्ञान नहीं होगा।

उपासनासे तो जो परोक्ष ईश्वर है, उसकी प्राप्ति हो सकती है। उससे तादात्म्य, थोड़ी देरके लिए एक होकर बैठना हो सकता है। अभ्यास करनेसे समाधि लग सकती है। संकल्पसिद्धि होनेसे वस्तुओंकी प्राप्ति तथा स्वर्ग-गमन हो सकता है। लेकिन इनमेंसे किसीसे आत्माकी उपलब्धि नहीं होगी। शास्त्रोंके अभ्याससे भी यह नहीं होगा। यहाँ तो जो ढूँढ़ रहा है, वही है : **आपन खेल आप ही देखे।** अतः बिना बतानेवालेके आत्माका अपरोक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिए स्पष्ट कहा है : **आचार्यवान् पुरुषो वेद।** जो प्राप्त-गुरु पुरुष है, वही इसको जानता है।

आचार्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।

आचार्यसे जानी गयी विद्या ही आत्मसाक्षात्कार करा सकती है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

प्रवचन, मेधा या अध्ययनसे उसकी प्राप्ति नहीं होगी। इसके लिए गुरु चाहिए। इस प्रकार वेदान्तमें गुरूपसदन अनिवार्य अंग है।

पदार्थ-द्वय

अब तीसरी बात है पदार्थ-द्वय; क्योंकि आपको किसी वाक्यका अर्थ समझना हो तो उसके अलग-अलग पदोंका अर्थ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समझना पड़ेगा। इसीलिए महावाक्यका अर्थ समझनेके लिए उसके पदोंका अर्थ समझना आवश्यक है।

तत्त्वमसि यह महावाक्य है। इसमें तीन पद हैं : **तत्, त्वम्, असि**। इन तीनों पदोंका ठीक अर्थ समझे विना महावाक्यका अर्थ समझमें नहीं आ सकता। यदि तुम इतना जानते हो कि 'तत्' यह सर्वनाम है, किसी भी परोक्ष वस्तुके लिए यह एक संकेत है तो इतनेसे वाक्यार्थका ज्ञान नहीं होगा। 'तत्' पदका ठीक अर्थ—उसका लक्ष्यार्थ, अर्थात् वह किसका संकेत है, यह जाननेपर ही वाक्यार्थका ज्ञान होगा।

वाक्यार्थ-ज्ञानमें समस्त दर्शनोंका उपयोग है। 'तत् पदार्थका विवेक करनेके लिए सम्पूर्ण दर्शनोंका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वाक्यार्थका निर्णय करनेके लिए उपाधिके विवेककी आवश्यकता होगी। क्योंकि प्रकृतिसे सृष्टि होती है, परमाणुसे या कर्मसे सृष्टि होती है, इन सब बातोंका जब विचार करेंगे तब उपाधिका ज्ञान होगा कि आत्माकी उपाधि क्या है? समष्टि-उपाधि क्या है? व्यष्टि-उपाधि क्या है?

अधिकारि-निर्णय और गुरूपसदन तो हो गया; किन्तु इस सृष्टिका स्वरूप क्या है? व्यष्टि क्या है? समष्टि क्या है? कार्य क्या है? कारण क्या है? बहिःकरण क्या है? अन्तःकरण क्या है? इन सब बातोंको समझना होगा, तभी पदार्थ-द्वयका विवेक होगा।

प्रत्येक दर्शनका, यहाँतक कि नास्तिक दर्शनोंका भी एक उपयोग है। उससे हम लाभ उठा सकते हैं। जब चार्वाक कहते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है, इसके स्वास्थ्य और सुखका ध्यान ही मुख्य कर्तव्य है, तब उनका अभिप्राय यह समझना चाहिए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदिका सम्बन्ध मिथ्या-कल्पित है और हैं शरीरको सुखी रखनेके लिए। इसका अर्थ हुआ कि अपना आपा प्रधान है और बाकी सारे सम्बन्ध गौण। संसारके किसी व्यक्ति एवं वस्तुसे मोह नहीं करना चाहिए। इस प्रकार चार्वाक-दर्शन भी हमारी मनोभूमिमें आत्मप्रवणता उत्पन्न करके मोह-निवृत्तिका साधन बनता है। जब जैन कहते हैं कि अष्टादश-दूषणरहित होनेपर ही 'तीर्थङ्कर' पदकी प्राप्ति होती है, तो उसका अर्थ यह लगा लो कि अन्तःकरणकी शुद्धि अत्यावश्यक है। जब बौद्ध जगत्को विज्ञानमात्र अथवा शून्यमात्र कहते हैं, तो वे वैराग्यके लिए—जगत्के मिथ्यात्व-चिन्तनके लिए कितनी बड़ी प्रेरणा देते हैं! अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए जैनोंका रत्नत्रय (सम्यक् संकल्प, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् समाधि) कितना उपयोगी है। तात्पर्य यह कि कोई भी दर्शन द्वेष करनेयोग्य नहीं। उसका कहीं-न-कहीं उत्तम उपयोग है।

न्याय और वैशेषिकके दार्शनिक भले ही न मानें; किन्तु उनके दर्शनके अनुसार हम एक-एक परमाणुका चिन्तन करें तो जगत्के कारणमें हमारी बुद्धि प्रवेश करने लगती है। कारण परमाणु निरवयव हैं और सावयवके कारणरूपमें निरवयवका होना बड़ा विचित्र-सा लगता है! निरवयव परमाणुका चक्षुसे तो प्रत्यक्ष होगा नहीं। मानस-प्रत्यक्ष होगा तो वहाँ भी वह खण्ड हो जायगा। तब वह सद्विशेषोंका चरम नहीं रहेगा। इस तरह निरवयवसे सावयवकी उत्पत्ति मानकर इन दर्शनोंने कार्य-कारणमात्रका ध्वंस ही किया है, स्थापना नहीं। जब हम परमाणुका ध्यान करते हैं तो वह ध्येय तो बनता नहीं और ध्येय नहीं बनता तो उससे सृष्टि हुई कैसे? एक परमाणुमें यदि अवयव नहीं हैं, तो दो परमाणुओंके मिलनेपर उनमें अवयव कहाँसे आ गये? निरवयव और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निरवयवक संयोग ही कैसे होगा ? जब संयोग ही नहीं होगा तो अणुकी उत्पत्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम विचार करें तो इन दर्शनोंका उपयोग भी हमारी बुद्धिको सूक्ष्म करके ब्रह्मतक पहुँचा देनेमें ही है।

अब सांख्य और योगकी बात लो। इनके मतमें प्रकृति आदिम कारण है और पंचभूत हैं अन्तिम कार्य। इन दोनोंके मध्य प्रकृति-विकृति हैं। पुरुष न कार्य है और न कारण। अच्छा, कार्य जब पंचभूतपर्यन्त ही हैं तो मनुष्योंके शरीर क्या हैं ? यह कार्य है या कारण ? कार्यरूप पञ्चभूतोंमें यह कल्पित है; क्योंकि इसे कार्य मानकर पञ्चभूतोंको कारण मानें तो अन्तिम कार्य शरीर हो गया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये अन्तिम कार्य हो गये तो ये शरीरोंमें प्रवेश नहीं करते।

प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।

यदि कहो कि इस शरीरमें मिट्टीने प्रवेश किया है तो यह पहले से ही मिट्टी है। यदि कहो कि इसमें जलने प्रवेश किया, तो पहले-से ही तो जल है। यदि कहो कि इसमें तेजने प्रवेश किया तो यह पहलेसे ही तेज है। यदि कहो कि इसमें वायुने प्रवेश किया है, तो यह पहलेसे ही वायु है। इसी तरह इसमें आकाशने प्रवेश नहीं किया, यह पहलेसे आकाश है। इसका अर्थ है कि जैसे स्वर्णमें आभूषणका एक आकार बनता है, वैसे ही पंचभूतमें पशु-पक्षी, मनुष्यादिके शरीर कल्पित हैं, आकारमात्र हैं।

योगी लोग कहते हैं कि समाधिमें पद, पदार्थ एवं उनका सम्बन्धज्ञान ये तीनों एक हो जाते हैं। जैसे जाग्रत्में घड़ी एक पदार्थ है जो अलग है। घड़ी पद (शब्द) मुखमें है और घड़ी पदार्थ तथा घड़ी शब्दके सम्बन्धका ज्ञान हृदयमें है। समाधिमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि ये तीनों एक हो जाते हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि समाहित चित्तमें भेद नहीं है। भेद विक्षिप्त चित्तमें है।

अब पूर्वमीमांसाकी बात लें तो चित्तशुद्धिमें इस दर्शनके तीन उपयोग हैं। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए धर्मानुष्ठान करना चाहिए, यह एक उपयोग है। आत्मा शरीर नहीं है, कर्ता-भोक्ता और संसारी है; अतः शरीरके पहले था और पीछे भी रहेगा। इस तरह आत्मा नित्य है। नित्यानित्यवस्तु-विवेकमें यह दूसरा उपयोग हुआ। यह दृश्यमान संसार द्रव्यसे उत्पन्न हुआ या कर्म-संस्कार-से, इसके उत्तरमें पूर्वमीमांसक कहेंगे कि संसार उत्पन्न ही नहीं हुआ है,

न कदाचिदनीदृशं जगत्।

ऐसा कोई समय ही नहीं जब संसार नहीं था। संसारकी उत्पत्ति नहीं है और विनाश भी नहीं। यह अनादि परम्परासे कर्मसंस्कारजन्य है। अब देखो कि हमारा स्वप्न भी तो द्रव्यजन्य नहीं है, वह संस्कारजन्य है। अतः जैसा स्वप्न, वैसा ही संसार। पृथ्वी, जल, आकाश, सूर्यादि समस्त संसार पूर्वमीमांसाके मतसे जीवोंके समष्टि प्रारब्धजन्य हैं। इस प्रकार संस्कारजन्य होनेके कारण प्रपंचके मिथ्यात्व-निर्णयमें यह दर्शन उपयोगी हुआ। यह तीसरा उपयोग है।

पदार्थ-द्वयका विवेक तीन पद्धतियोंसे होता है : आभासवाद, अवच्छेदवाद और दृष्टि-सृष्टिवाद। इनकी प्रक्रियाओंमें विल-क्षणता है। इसीलिए महावाक्यका अर्थ भी तीन प्रकारसे करना पड़ता है।

आभासवादमें जो एकताकी प्रक्रिया है, वह है—माया और अन्तःकरण अर्थात् कारणोपाधि और कार्योपाधिमें स्थित आभासों-का बाधकर चेतनांशमें एकताका प्रतिपादन। यह एक रीति है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दूसरी रीति है अवच्छेदवादकी। घटाकाश और महाकाशके रूपमें कूटस्थ और ब्रह्मका ही इसमें निरूपण है। आभासके रूपमें जीव एवं ईश्वरका निरूपण नहीं है। व्यष्टि और समष्टिकी उपाधिसे जो उपहित वस्तु है, उसमें यह ऐक्य वतलाता है। घटाकाश और महाकाश ये देशप्रधान-उपाधि हैं। इस रीतिमें उपाधिका वाध करके उपहितका ऐक्य प्रतिपादित है।

दृष्टिसृष्टिवाद तो एकजीववाद है। इसमें अज्ञात सत्ता है ही नहीं। अतः इस प्रक्रियामें प्रारम्भसे जीव और ईश्वरका पृथक्-पृथक् विवेक करनेकी आवश्यकता नहीं। अविद्याकालमें जिसे हम पृथक् समझते थे, विद्याकालमें वह तो अपना स्वरूप ही है। इस प्रकार कालप्राधान्यसे दृष्टिसृष्टिवादमें एकता है, तो वस्तुप्राधान्यसे आभासवादमें एकता है। पदार्थद्वयका विवेक करनेके लिए देश, काल और वस्तुकी उपाधिका पृथक्-पृथक् विवेक है। विषयकी उपाधिका विवेक करनेसे पदार्थ-द्वयकी सिद्धि होती है और उसका ऐक्य ही वेदान्तमें सर्वसम्मत है।

अव परिणामवादकी चर्चा रह गयी। किन्तु यह अपने अद्वैत-वेदान्तका मत नहीं है। परिणामवाद भी कई प्रकारका है। चित्त-परिणाम (विज्ञान-परिणाम) और शून्य-परिणाम—ये दो बौद्धों-के; प्रकृति-परिणाम सांख्यका तथा ब्रह्म-परिणाम विशिष्टाद्वैतादि माननेवालोंका है।

जगत्के मूलमें जो वस्तु है, वह जड़ है या चेतन ? यदि जड़ है, तव तो जगत्के रूपमें ही उसका परिणाम हो सकता है, क्योंकि परिणाम सजातीय होता है। जहाँ कार्य विजातीय होता है, वहाँ परिणाम नहीं, विवर्त हो जाता है। यदि जगत्का मूल कारण चेतन है तो वह चेतन तभी होगा जव अपनी आत्मा होगा। वह अन्य भी है और चेतन भी है, यह असम्भव है। जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्य होगा, वह दृश्य होनेसे जड़ होगा और यदि दृश्य नहीं होगा तो अनुभवमें कभी आयेगा ही नहीं, फलतः उसके होनेमें भी कोई प्रमाण नहीं। अतः हमसे पृथक् चेतनरूपसे शरीर या संसारके मूलमें कोई वस्तु न तो कहीं है और न हो सकती है।

अब यह जो प्रपंच दिखायी दे रहा है, उसका मूलकारण जड़ है या चेतन? यदि चेतन है तो सबकी सब दृश्यमान जड़ता विवर्तमात्र है। यदि जगत्का मूल कारण जड़ है तो हम स्वयं जड़ हो जायँगे। जगत्का नियमन, प्रकाश नहीं बनेगा। पूरा जगत् अन्धा हो जायगा। अतः जगत्का मूलकारण चेतन है और वह आत्मासे अभिन्न है। यह जो दृश्य प्रपंच है, वह समूचा विवर्त है।

यह पदार्थद्वय-विवेक है। सम्पूर्ण उपनिषद् ही जीव-ईश्वरका स्वरूप-वर्णन, पदार्थ-द्वयके विवेकके लिए है।

ऐक्य

एक प्रश्न है—जीवसे ईश्वर होनेमें कितनी देर लगती है? उत्तर है—हिन्दूको मनुष्य होनेमें जितनी देर लगती है। लेकिन हिन्दू तो मनुष्य ही है। जबतक उसके मनमें हिन्दुत्वका अभिमान है, वह हिन्दू है। वह अभिमान छूट जाय तो वह मनुष्य है। इसी प्रकार जीवत्वका अभिमान छूट जाय तो जीव ईश्वर ही है। एक देहका अभिमानी जीव हो गया, एक देहका अभिमान छूट गया तो वह परमात्मा ही है।

ये देह, इन्द्रिय आदि उपाधियाँ हैं। इनमें मैं-मेरा करके 'मैं' जीव हो गया। इनसे मैं-मेरा छूट गया तो 'मैं' ईश्वर हो गया। विवेक यही करना है—पंचकोषका विवेक, पंचमहाभूतका विवेक, एक देहमें होनेवाली तीन अवस्थाओं—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विवेक, स्थूलसूक्ष्म-कारणका विवेक, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वरका विवेक, ब्रह्मा-विष्णु-महेशका विवेक, सत्त्व-रज-तमका विवेक। विवेक करके जब उपाधिको पृथक् कर दिया तो पृथक् और उपाधि-रहित वस्तु तो सर्वत्र एक है ही।

इस प्रकार जीव एवं ईश्वरका पृथक्-पृथक् विवेक करके उनकी एकता को जानना है। एकताके ज्ञानसे अनेकताकी भ्रान्ति मिट जाती है। भेद हो और उसे मिटाया जाय, ऐसा नहीं है। एकता तो पहलेसे ही है। केवल अनेकताकी भ्रान्ति हो गयी है। उसे ही दूर कर देना है।

एक उदाहरण लो! बड़ी प्रसिद्ध बात है कि दृश्यसे द्रष्टा भिन्न होता है; परन्तु क्या यह भेद वास्तविक है? नहीं। जबतक हम घड़ेको देख रहे हैं, तबतक घड़ेसे पृथक् हैं; किन्तु जब अपनेको देखेंगे तो घड़ा हमसे पृथक् नहीं रहेगा। कार्यसे कारण भिन्न होता है; किन्तु कारणसे कार्य किसी भी अवस्थामें भिन्न नहीं होता। घड़ा मिट्टीसे बना है। घड़ेका कारण मिट्टी है। घड़ेसे मिट्टी तो भिन्न है, किन्तु किसी भी अवस्थामें मिट्टीसे रहित घड़ेकी कोई सत्ता ही नहीं है। अब द्रष्टा-दृश्यको ले लो। द्रष्टा दृश्यको और दृश्यके अभावको भी देखता है, अतः दृश्यसे भिन्न द्रष्टा है; किन्तु द्रष्टाके अतिरिक्त दृश्य क्या है? बिना द्रष्टाके क्या कभी दृश्यकी सिद्धि हो सकती है?

भूतं प्रसिद्धञ्च परेण यद् यत्तदेव तत्स्यादिति।

भा० ११ स्क० (पर० म० नि०)

जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है एवं जिससे प्रसिद्ध होती है, वह वस्तु उससे पृथक् नहीं होती। जैसे: मिट्टीसे बना घड़ा मिट्टीसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानं कारण परमात्मा है :

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

इत्यादि। अतः उस परमात्मा, अनन्त वस्तु ब्रह्मसे भिन्न जगत् नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार जिसके मतमें जगत् मिथ्या होगा, उसके मतमें व्यष्टि अन्तःकरण भी मिथ्या होगा और समष्टि-कारण भी। कार्य भी मिथ्या और कारण भी मिथ्या। अतः जीव-ईश्वरका भेद, इनकी लघुता एवं महत्ताका भेद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होगा।

सामान्यतः द्रष्टा दृश्यका भेद प्रसिद्ध है। परन्तु हम पूछते हैं कि द्रष्टा और दृश्यके वीच क्या कोई सन्धि है? यहाँतक द्रष्टा और उसके आगे दृश्य, क्या ऐसी कोई सीमा है? मध्यमें कोई तीसरी वस्तु है, जिसके एक ओर द्रष्टा और दूसरी ओर दृश्य हो? मध्यमें तीसरी वस्तु होगी तो वह या तो दृश्य होगी या द्रष्टा। अतः मध्यमें तीसरी वस्तु हो नहीं सकती और मध्यमें जव तीसरी वस्तु पार्थक्य नहीं करती तो कहना पड़ेगा कि द्रष्टा और दृश्यमें भेद नहीं है। जहाँ सन्धि नहीं है, भेदक नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। केवल भेद (व्यवधान) की प्रतीति हो रही है। यह तो प्रमातामें जहाँ 'अहं' करके कहते हैं, वहाँ परिच्छिन्न द्रष्टाकी वात कहते हैं। द्रष्टा जहाँ वुद्धिकी उपाधिसे युक्त है, वहाँ प्रमाता वना हुआ है। जहाँ वुद्धिकी उपाधिको छोड़कर शुद्ध द्रष्टाका निरूपण करते हैं, वहाँ द्रष्टा एक ही है, भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें द्रष्टा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसे थोड़ा स्पष्ट कर लें।

उपाधि अनेक हैं, यह प्रत्यक्ष है। पृथक्-पृथक् अन्तःकरणकी उपाधि पृथक्-पृथक् हैं। इनमें द्रष्टा एक है या अनेक? यदि उपाधि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भेदसे द्रष्टाका भेद मानें तो एक देशमें एक उपाधि, दूसरे देशमें दूसरी उपाधि, तीसरे देशमें तीसरी उपाधि है। तब प्रश्न उठा कि देश औपाधिक है या उपाधि दैशिक है? अर्थात् देशमें भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हैं या उपाधिमें भिन्न-भिन्न देशोंकी प्रतीति हो रही है? यदि देशमें भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हैं, तो उपाधिकी निवृत्ति होनेपर भी देशकी निवृत्ति न होनेसे मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि देशमें तो लम्बाई-चौड़ाई है और ब्रह्ममें वह नहीं है। यदि कहें कि देश औपाधिक है, तो भिन्न-भिन्न देश उपाधिका आश्रय है, यह बात कहते नहीं बनेगी। अतः सम्पूर्ण विश्वको प्रतीत करानेवाली उपाधि एक है और इसीलिए उसका द्रष्टा भी एक है। शेष सबके सब जीवाभास हैं।

यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयका भेद देहाभिमानके कारण है। जब हम एक देहमें प्रमाता बनकर बैठे हैं, तब प्रमाता और प्रमेयके बीच नेत्रादि प्रमाणरूप सन्धि हैं। लेकिन जहाँ हम देहाभिमानको छोड़कर पूर्णके साथ एक हो जाते हैं, वहाँ पूर्ण और प्रत्यक्के बीच कोई सन्धि नहीं है। इसलिए अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान एवं द्रष्टा में ही प्रमेय भास रहा है। प्रमेयकी जितनी प्रतीति हो रही है, अप्रमेयमें हो रही है।

चाहे भाव हो या अभाव हो, यदि वह प्रमेय होगा तो वह प्रमाणका विषय होगा। घड़ा है और घड़ा नहीं है, ये दोनों प्रमेय हैं। जहाँ प्रमेयकी प्रतीति है, वहीं चेतनकी संज्ञा प्रमाता हो जाती है। अप्रमेय कौन है? 'अहम्' अप्रमेय है। जो प्रमाणके सामने है, वह प्रमेय और जो प्रमेयके पीछे होकर प्रमाणको भी प्रकाशित कर रहा है, वह है अप्रमेय।

अन्यत्वे नाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे च दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती प्रत्यञ्चं न विमुञ्चति॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि परमात्मा अन्य हो तो अप्रमेय नहीं हो सकता। यदि परमात्माको प्रमेय मानोगे तो वह दृश्य हो जायगा। यही कारण है कि श्रुति-वर्णित अप्रमेयता प्रत्यगात्मासे कभी पृथक् नहीं होती। अपनी आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु अप्रमेय नहीं है।

अब यह देखना है कि द्रष्टा और दृश्यके मध्य कोई वस्तु है या नहीं। यदि कोई वस्तु है तो वह दृश्य ही होगी। यदि वह प्रमाण ही है तो बुद्धिस्थ प्रमिति होगी और बुद्धिस्थ प्रमिति होनेके कारण वह भी दृश्य होगी; क्योंकि प्रमिति सुषुप्तिमें तो होती नहीं। अतः वह साक्षिभास्य हुई। साक्षीको हम द्रष्टा कह रहे हैं तो प्रमिति साक्षिभास्य और सुषुप्ति भी साक्षिभास्य ही है। सुषुप्तिमें प्रमिति नहीं है और प्रमितिमें सुषुप्ति नहीं है। जहाँ विषयकी प्रमा है, वहाँ सुषुप्ति नहीं और जहाँ सुषुप्ति है वहाँ विषयकी प्रमा नहीं है। अतः इनका परस्पर व्यतिरेक है और द्रष्टा इनसे पृथक् है।

इस तरह द्रष्टा जब प्रमासे पृथक् है, तब फिर प्रश्न उठा कि द्रष्टा, दृश्यके मध्य क्या है? वास्तवमें अज्ञान ही सन्धि है। अपने स्वरूपका अज्ञान ही दृश्यको भिन्न और द्रष्टाको भिन्न प्रतीत करा रहा है। अज्ञानकी निवृत्ति होते ही द्रष्टा, दृश्य एक हो जायँगे। दोनोंके एक होते ही दृश्यमें दृश्यत्व नहीं रहेगा और द्रष्टामें द्रष्टा-पन नहीं। केवल अपना स्वरूप रह जायगा।

वस्तुतः ऐक्य तो है ही। वह उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य, आप्य अथवा विनाश्य नही हैं; किन्तु स्वतःसिद्ध है। अतः वह उपासना, धर्मानुष्ठान या समाधिसे प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत केवल तत्त्वज्ञानद्वारा भ्रान्तिकी निवृत्तिसे प्राप्त होता है। धर्म, उपासना और योग अन्तःकरणशुद्धिके ही साधन हैं।

अब ऐक्यके वादकी बात करें। एक मिट्टीका डला है और एक पर्वत है। दोनोंमें बहुत भेद प्रतीत होता है; किन्तु यह भेद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो नेत्रसे देखनेसे दीखता है। बुद्धिस्थ जो मिट्टी है, उसमें कहाँ भेद है ? आकारको छोड़ दो तो मिट्टी मिट्टीमें भेद कहाँ है ? किसी बन्दरको भगाना हो तो डला उठाकर भगा सकते हैं, पहाड़ उठाकर नहीं भगा सकते। किन्तु विश्लेषण करना हो तो डला भी मिट्टी और पर्वत भी मिट्टी। तत्त्वकी दृष्टिसे दोनों एक; किन्तु व्यवहार दोनोंका भिन्न-भिन्न! अतः तत्त्वमें प्रातिभासिक भेद स्वीकार करनेपर भी पारमार्थिक भेद नहीं है।

'पारमार्थिक' का क्या अर्थ है ? प्रमा सदा प्रमाणसे होती है। जबतक प्रमाणकी उपाधि लगी है, तबतक घट और घटाभावमें भेद रहेगा। जब उपाधि निवृत्त हो जायगी तब घट और घटाभावमें भेद नहीं रहेगा। यह उपाधि अन्तःकरणकी है। घट और घटाभाव दोनों अन्तःकरणकी उपाधिसे प्रतीत होते हैं। बिना उपाधिके भेदकी प्रतीति नहीं होती। जैसे नेत्र देखते हैं—ये तबतक देखते हैं जबतक मन है। मन ज्ञातता रहनेतक देखता है। ज्ञातता तबतक रहती है, जबतक वह अज्ञाततामें लीन न हो। अज्ञातताका अर्थ है अज्ञान। जिसका कारण अज्ञान है, वह अज्ञानकी निवृत्तिके साथ ही निवृत्त हो जाता है।

यह चश्मा दृश्य है। यह कहाँ है ? इस देशमें और इस कालमें। अब हम इसे यहाँसे हटा लेते हैं तो देशके साथ काल भी बदल गया। पहले वहाँ था, पीछे यहाँ आया—यह पहले-पीछे काल हुआ। यदि कालके साथ चश्मेका सम्बन्ध होता तो उसी कालके साथ जुड़ा रहता। देशके साथ सम्बन्ध होता तो अन्यत्र न हटाया जा सकता। लेकिन यह देश-काल दोनोंमें नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि जिस देश तथा कालमें यह भास रहा है, वहीं इसका अत्यन्ताभाव है, वहीं यह नहीं है। अपने अत्यन्ताभाववाले देशमें और अत्यन्ताभाववाले कालमें यह भास रहा है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो यहाँ इस चश्मेका पहले प्रागभाव था और पीछे प्रध्वंसाभाव है। जहाँ यह चश्मा है वहीं आकाश भी है, अतः दोनोंका वहाँ अन्योन्याभाव भी हुआ। जो चश्मा है, वह आकाश नहीं और जो आकाश है, वह चश्मा नहीं। इसीसे आकाशमें इसका पहले अत्यन्ताभाव था तथा बादमें भी अत्यन्ताभाव होगा। अब यह चश्मा जहाँ दीख रहा है, वहीं अभाव-चतुष्टयसे ग्रस्त होकर दिखायी दे रहा है। अतः अपने अत्यन्ताभाववाले अधिष्ठानमें दिखायी पड़नेके कारण यह चश्मा मिथ्या है। जब चश्मा मिथ्या है तो उसका अभाव तो अपने आप मिथ्या है; क्योंकि अभाव प्रतियोगी—सापेक्ष होता है। **यस्याभावः स प्रतियोगी**—अपने अभावका प्रतियोगी हुआ चश्मा। जिस देश-कालमें इसका अभाव होता है, उसी देश-कालमें यह भास रहा है, इसलिए इसका अधिष्ठाननिष्ठ अत्यन्ताभाव है।

अब वस्तुको ले लो। यह चश्मा क्या वस्तु है? मिट्टी है। दस वर्ष पूर्व इसमें जो मिट्टी है, वह चश्मेके रूपमें नहीं बनी थी। दस वर्ष बाद इसी वजनकी मिट्टीमें यह चश्मेका रूप नहीं रहेगा। अब यह जो चश्मेका रूप और नाम मिट्टीमें आया, वह पहले नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा। अतः यह अभी जिस रूपमें दीख रहा है, उसमें भी मिथ्या ही है। यहाँ मिट्टी शब्दका अर्थ है चश्मेका उपादान पञ्चभूत।

अब दूसरे प्रकारसे निरूपण करें। कालकी अवधि बतानी पड़ेगी; क्योंकि कालमें जो भेद है, वह क्रमकी संवित् है। यह चश्मा जितने देशमें है, उतने देशमें इसकी जितनी आयु है, उतना काल इस चश्मेका काल है। यदि चश्मा न हो तो कालका पता नहीं लगेगा। अतः काल चश्मा-सापेक्ष और चश्मा काल-सापेक्ष हुआ। स्वतन्त्र सत्ता न चश्मेके कालकी है और न चश्मे-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की। विषयकी अपेक्षासे काल और कालकी अपेक्षासे विषय हैं और दोनों नेत्रकी अपेक्षासे इसका यह अर्थ है कि यहाँ, इस समय यह चश्मा हमें दीख रहा है, वहाँसे आपको नहीं दीख रहा है; क्योंकि आप दूर बैठे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक अपेक्षासे ही चश्मा हमें दीख रहा है। चश्मा आँखसे एक प्रकारका और खुर्दबीनसे दूसरे प्रकारका दीखता है। भेदक प्रकाशमें देखनेपर इसके कण-कण पृथक्-पृथक् दीखेंगे। चश्मेका आकार नहीं दीखेगा। यदि किसी यन्त्रसे दस लाख गुना बड़ा कर दिया जाय तो हमारे नेत्रसे नहीं दीखेगा। सूक्ष्म कर देनेपर भी नहीं दीखेगा। यह तो मध्यवर्ती अवस्थामें ही दीख रहा है। अतः यह चश्मा तत्त्वतः सत्य नहीं है। यह ऐन्द्रियक सत्य है; दैशिक सत्य है; कालिक सत्य है; वैषयिक सत्य है; मानस सत्य है; परन्तु तत्त्वतः सत्य नहीं है।

इस प्रकार जहाँ विषयके मिथ्यात्वका वोध हुआ, वहाँ 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रहा, देहके भेदके विना 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रह सकता। तारतम्यभेद इन्द्रियकी अपेक्षासे, मनकी अपेक्षासे, बुद्धिकी अपेक्षासे ज्ञात हो रहे हैं। भेद प्रतीति ही हैं, तत्त्वतः भेद हैं नहीं। वेदान्त भ्रान्तिको निवृत्त करता है, भानको निवृत्त नहीं करता। जैसे बचपनमें समझता था कि आकाशमें जो नीलिमा दीखती है, वह कोई वस्तु है। यदि ऊपर उड़ा जा सके तो कहीं वस्तुके रूपमें वह मिलेगी। वड़े होनेपर यह भ्रम तो मिट गया, किन्तु यह नीलिमा ज्यों-की-त्यों दिखायी ही पड़ती है। अतः भेदकी भ्रान्ति मिट जानेपर भेदकी प्रतीति भी मिट जाती होगी, यह धारणा मत वनायें।

विरोध-परिहार

आगेका विषय है विरोध-परिहार, साधन और फल। परमार्थ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्या ? इसे समझ लें तो आगेका विषय समझनेमें सुविधा हो। हम कहते हैं परम तपस्वी, तो इसका अर्थ होता है कि उससे बड़ा कोई तपस्वी नहीं। वस्तु वही, किन्तु उसकी पराकाष्ठाको परम कहते हैं। इसी प्रकार जब परमात्मा कहते हैं तो उसका अर्थ अर्थसे नितान्त भिन्न या आत्मासे नितान्त भिन्न कोई वस्तु नहीं होता, प्रत्युत अर्थकी ही अवधि, अर्थका ही परम स्वरूप परमार्थ; आत्माका ही परम स्वरूप अर्थात् उपाधिका निराकरण कर देनेपर अध्यारोपका अपवाद कर देनेपर जो शेष रहे, वह परमात्मा।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

अध्यारोपका अर्थ है मान लेना—कल्पना कर लेना। जैसे गणित समझानेके लिए बच्चेसे कहते हैं: 'मान लो कि तुम्हारे पास पाँच रुपये हैं।' यह मान लेना अध्यारोप हुआ। अब बच्चेसे कहा कि उन रुपयोंमेंसे पाँच व्यक्तियोंको एक-एक रुपया दे दो तो तुम्हारे पास क्या बचा ? कुछ नहीं। यह हुआ अध्यारोपका अपवाद। एक माया है और उसका कार्य है यह जगत्। परमात्माके अनुभवसे उस मायाकी निवृत्ति हुई। अरे ! माया पहले भी नहीं थी, निवृत्त भी नहीं हुई; किन्तु अपनी अद्वितीयता समझानेके लिए पहले मायाकी कल्पना की, उसका अध्यारोप किया और फिर उसकी निवृत्ति बतायी—उसका अपवाद किया। ऐसी परमार्थ वस्तुमें शास्त्र और लोकसे जो विरोध प्राप्त होता है, उसका परिहार होना चाहिए शास्त्रसे विरोध प्राप्त होता है:

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

उपनिषद्का कहना है कि दो पक्षी हैं। पक्षी दो हैं तो एक जीव हुआ और एक ईश्वर। इस प्रकार अद्वैतके प्रतिपादनमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह शास्त्रवचनका विरोध हुआ। दूसरी ओर शास्त्र एक अद्वितीय तत्त्वका प्रतिपादन करता है : **अहं मनुरभवं सूर्यश्च** (बृहदा०) मैं ही मनु और सूर्य हुआ। **तदपश्यत् तदभत् तदासीत्।** (यजुः० सं०) उसको जाना, वही हो गया; क्योंकि वही था, यह श्रुति कहती है। अब एक श्रुतिमें 'द्वैतका प्रतिपादन हुआ-सा' मालूम पड़ता है और एकमें अद्वैतका। यह जो विरोध श्रुतियोंमें जान पड़ता है, उस विरोधका परिहार होना चाहिए।

अब विचार करना पड़ेगा कि जीव-ईश्वर दो हैं तो कैसे? वस्तुतः दो हैं तो देशतः दो हैं अथवा कालतः दो हैं? एक कालमें ईश्वर और एक कालमें जीव हों तो दोनों नाशवान् हो जायँगे; क्योंकि अपनी स्थितिसे भिन्न कालमें न जीव रहेगा, न ईश्वर। 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव कभी किसीको हो नहीं सकता। अतः कालतः जीव और ईश्वर दो नहीं हैं। कालतः दो होनेसे तो सत्य-तत्त्व काल सिद्ध होगा, क्योंकि काल उनके न रहनेपर भी रहेगा। यदि देशतः जीव-ईश्वरको दो मानें कि एक अन्तर्देशमें है, एक बहिर्देशमें, तो यह अन्तः-बहिःकी कल्पना किसमें है? बाहर-भीतरकी यह कल्पना तो थोथी है, क्योंकि चर्मपरिवेष्टित देहके अहंकारको लेकर और चमड़ेको सीमा बनाकर यह बाहर-भीतरकी कल्पना होती है। जो पूर्णतत्त्व है, उसमें बाहर-भीतर कहाँ होगा?

अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।—बृहदा०

श्रुति कहती है कि उससे पहले कुछ नहीं—पीछे कुछ नहीं, बाहर कुछ नहीं, भीतर कुछ नहीं। अच्छा! ये जीव-ईश्वर दो हैं तो रहते कैसे हैं? जीवमें कुछ मिट्टी कम और ईश्वरमें कुछ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिट्टी अधिक है ? अभिप्राय यह है कि यदि दोनोंको पृथक्-पृथक् तत्त्व मानना है तो बताना पड़ेगा कि पार्थक्य कैसा है ?

वे दोनों ही सखा हैं—आलिंगन करके स्थित हैं, अर्थात् दोनों विजातीय नहीं हैं। विजातीय भेदकी निवृत्तिके लिये ही यहाँ दोनोंको सखा कहा है। **समानं वृक्षम् परिसस्वजाते** का तात्पर्य है कि इस शरीरमें ही देहाभिमानके कारण एकका नाम जीव और एकका नाम ईश्वर पड़ गया है।

जहाँ भोक्तृत्वकी भ्रान्ति है वहाँ जीवत्व है। जहाँ भोक्तृत्वकी भ्रान्ति नहीं है वहाँ परमात्मा है। इसी अभिप्रायसे श्रुतिमें यहाँ जीव, ईश्वरको दो कहा है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ श्रुतियों या युक्तियोंसे विरोध जान पड़ता है, वहाँ उस विरोधका परिहार करना श्रुतिविरोधका श्रुतियोंसे और युक्तिविरोधका युक्तियोंसे, यह एक विषय है। ब्रह्मसूत्रमें विरोध-परिहारका एक प्रकरण ही अलग है। वह देखना चाहिए।

साधन और फल

इसके बाद है साधन और फल। वेदान्तका साधन तथा फल अत्यन्त विलक्षण है। अब उपासना और ज्ञानके साधनकी थोड़ी तुलना करलो। श्रद्धासे उपासनामें प्रवृत्ति होती है। हमारा ईश्वर हमसे कहीं दूर है, उसके लिये श्रद्धा करो। वेदान्तमें प्रवृत्ति खोजसे—अनुसन्धान से—प्रमाणसे होती है, कि हम उसे ढूँढ़ निकालें। ईश्वर मिले और उसका सुख हम लें, इस इच्छासे ईश्वरकी प्राप्तिमें प्रवृत्ति होती है और ईश्वर क्या है, यह ढूँढ़नेके लिए वेदान्तमें प्रवृत्ति होती है।

उपासना श्रद्धामूलक है और वेदान्त है प्रमाणमूलक। उपासनामें आवृत्ति होती है। आराध्यके नामको बार-बार दुहराते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। उसके रूपका बार-बार ध्यान करते हैं। आवृत्ति उपासनाका साधन है। वेदान्तमें नयी-नयी युक्ति नया-नया तर्क होता है। पंचकोश, पंचभूत, अवस्थात्रयका विवेक करके उस सत्यको नयी-नयी युक्तिसे ढूँढ़ो। श्रुतिके अविरुद्ध नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि वेदान्तका साधन है।

अपने इष्ट—साध्यवस्तुका दर्शन, उपासनाका फल है। तदाकार वृत्ति करते हुए तदाकार वस्तुका दर्शन हो गया—समानाकार वृत्ति हो गयी—जिसका हम ध्यान करते हैं, वह हमारे नेत्रोंके सम्मुख आगया। अपना वांछित ईश्वर मिल गया। यह है उपासनाका फल। जो-जो ध्यान करोगे, वह-वह सामने आजायगा अर्थात् मनचाहे भगवान्‌की प्राप्ति, यह उपासनाका फल है।

साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति।—श्रीमद्भागवत

वह सम्मुख आकर बातचीत करेगा, वरदान देगा। पर वह सब होता है सगुण साकार उपासनामें। निराकारका ध्यान करें तो निराकार नेत्रसे तो देखा नहीं जा सकता; किन्तु अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होनेसे वह सगुण है, अतः, उसका मानस-प्रत्यक्ष हो सकेगा। उसके ध्यानसे वृत्ति सम्पूर्ण संसारसे हटकर अन्तर्यामीके रूपमें अपने इष्टदेवका निश्चय करेगी, अर्थात् उसका मानस-प्रत्यक्ष होगा और बुद्धि उसीकी गोदमें कभी सोयेगी और कभी जागकर क्रीड़ा करेगी। बच्चा जैसे माँके प्रति समर्पित है उसी प्रकार यह बुद्धि भी अन्तर्यामी परमात्मदेवके प्रति समर्पित ही है। इस स्वतःसिद्ध समर्पणका बोध ही अन्तर्यामी सगुण निराकारका बोध है। यदि परमात्मा निर्गुण है तो उसका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। केवल भ्रान्ति—अज्ञानकी निवृत्ति मात्र ही होगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तके ज्ञानमें जो साधन हैं, वहाँ भावित वस्तुके प्रत्यक्षका नाम 'दर्शन' नहीं है; क्योंकि उसमें तो भावनाका संस्कार मिला हुआ है। सम्पूर्ण भावनाओंका, संस्कारोंका निषेध करके, वृत्ति-मात्रका निषेध करके अर्थात् फल-व्याप्तिका भी निषेध करके अपने स्वरूपका, परमात्मा जैसा है उसी रूपमें उसका, साक्षात्कार है तद्विषयक अविद्याकी निवृत्ति। इस तद्विषयक अविद्याका निवर्तक जो तत्त्वज्ञान है, वही वृत्तिज्ञान है। यही वेदान्तमें साक्षात् साधन है।

यह वृत्तिज्ञान फल नहीं। अविद्याको निवृत्तकर स्वयं भी वह नष्ट हो जाता है, इसलिए वृत्तिज्ञानमें कभी फलरूपता नहीं है। अविद्याकी निवृत्ति होनेमें सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर स्वतः-सिद्ध परमानन्दस्वरूप, नित्य-प्राप्त अपने आत्मस्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्वाभाविक अवस्थिति ही फल है।

जहाँ निवर्त्य-निवर्तकभाव सच्चा, यथार्थ होता है, वहाँ कार्यवृत्तिके द्वारा कारणभूत अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे घड़ा कार्य है, उसे फोड़ देनेसे उसके कारण मृत्तिकाकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि यहाँ कार्य-कारणभाव वास्तविक था। लेकिन अविद्याके साथ जिसका भी कार्य-कारणभाव है, वह सारा झूठा है। अविद्या किसीकी माँ नहीं बनती। अविद्यासे जो वस्तु उत्पन्न होती है, वास्तवमें वह उत्पन्न ही नहीं होती। वहाँ कार्य-कारणभाव केवल भ्रम है। अतः वृत्तिज्ञान अविद्याके निवारणमें समर्थ है, क्योंकि अविद्याके साथ प्रपंचका कार्य-कारणभाव कल्पित है। जहाँ कल्पित कार्य-कारणभाव होता है, वहाँ कार्यकी निवृत्तिसे कारण-रूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान ही साक्षात् साधनके रूपमें वेदान्तमें स्वीकृत है और अविद्याकी निवृत्ति फल है। वास्तवमें तो अपने स्वरूपमें साधन और फलभाव दोनों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही नहीं हैं। तत्त्वतः वृत्ति आवरणका भंग नहीं करती, उसपर आरूढ चेतन ही करता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्तिपर आरूढ़ चेतन ही अविद्याको निवृत्त करता है। वृत्ति भी बाधित हो जाती है और चेतन ही रहता है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२. अनुबन्ध-चतुष्टय

मूलग्रन्थमें अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धका निरूपण नहीं है; किन्तु भाष्यकारको तो इनका वर्णन करना ही चाहिए। अतः ग्रन्थारम्भसे पूर्व सम्बन्ध और अभिधेय प्रयोजनका निरूपण करते हैं :

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेन अभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद् भवति। किं पुनस्तत् प्रयोजनमित्युच्यते। रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा दुःखात्मकस्याऽऽत्मनो। द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता, अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपञ्चस्य अविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनाय अस्याऽऽरम्भः क्रियते।

'यत्र हि द्वैतमिव भवति' (बृ० उ० २.४.१४) 'यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्'। (बृ० उ० ४.३.३१) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्'। (बृ० उ० २.४.१४) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमे अद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः, तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथा अद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तिस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम् ।

कथं पुनरोङ्कारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इति ? उच्यते 'ओमित्येतत्', 'एतदालम्बनम्', 'एतद्वै सत्यकाम', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत', 'ओमिति ब्रह्म', 'ओङ्कार एवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्य अस्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन् प्राणादिविकल्पस्याऽस्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव ।

स चात्मस्वरूपमेव तदभिधायकत्वात् । ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति,

वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वंसितम्', 'सर्वं हीदं नाम्नि' इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

माण्डूक्योपनिषद् और शास्त्र

पहले 'शास्त्र'शव्दका अर्थ समझ लेना चाहिए। शास्त्र-शव्दकी दो व्याख्याएँ हैं : **शासनात् शास्त्रम्** । अर्थात् जो आज्ञा दे कि 'यह करो, यह मत करो' वह शास्त्र है। पूर्वमीमांसा-दर्शन इसी व्याख्याको मानता है। पूर्व-मीमांसाके आचार्य जैमिनिजीने तो कहा है कि 'सम्पूर्ण वेद कर्मके लिए हैं; अतः जो वचन कर्मका प्रतिपादन नहीं करता, वह निरर्थक है।' लेकिन उत्तर-मीमांसा वेदान्त कहता है कि शास्त्रकी परिभाषा इतनी ही नहीं है। जो किसी वस्तुके स्वरूपको ठीक-ठीक समझा दे वह है शास्त्र। अर्थात् जो सत्यका ज्ञान कराये, उसे शास्त्र कहते हैं : **शास्त्रत्वं शंसनादपि'** । एक उद्देश्य-विशेषसे जो सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान कराये, वह है शास्त्र। यहाँ शास्त्र-शव्दका यही अर्थ समझना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस परिभाषाके अनुसार न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि शास्त्र हैं; क्योंकि मोक्ष या धर्मके उद्देश्य-विशेषसे ही वे समस्त पदार्थोंका निरूपण करते हैं। इसी प्रकार वेदान्त भी शास्त्र है; क्योंकि यह आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानको उद्देश्य बनाकर विश्वके विषयोंका विवेचन करते हुए अपने सिद्धान्तकी स्थापना करता है। लेकिन यह वेदान्त-शास्त्र विधि-निषेधका विधान या शासन करनेवाला शास्त्र नहीं है। यह तो सत्यको बतानेवाला शास्त्र है।

यह माण्डूक्योपनिषद् शास्त्र है या नहीं, यह प्रश्न उठा। माण्डूक्योपनिषद् शास्त्र नहीं है। यह वेदान्तशास्त्र, उपनिषद् शास्त्रका एक प्रकरणमात्र है। जो शास्त्रके एकदेशसे सम्बन्ध रखता हो, वह प्रकरण कहलाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंका विवेक करके आत्माके अद्वितीय शुद्ध स्वरूपका बोध करा देनामात्र इसका उद्देश्य है। संसारके जो दूसरे सब विषय हैं, उनकी विवेचना इसमें नहीं है; क्योंकि यह काम, अर्थ या धर्मका शास्त्र नहीं है। यह तो केवल मोक्षशास्त्रका एक प्रकरण है।

इस प्रकरणका सम्बन्ध, विषय, प्रयोजन क्या है? इसका अधिकारी कौन है? क्योंकि प्रयोजनके बिना प्रवृत्ति होती नहीं देखी जाती। ब्रह्म और आत्माकी स्वतःसिद्ध एकता-ज्ञान कराना ही इसका प्रयोजन है।

सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति, परमात्माकी प्राप्तिका साधन है ब्रह्मज्ञान। उस ब्रह्मज्ञानरूप साधनका अभिव्यञ्जक होने, उसे प्रकट करनेवाला होनेके कारण शास्त्रका उससे अभिधान-अभिधेयरूप सम्बन्ध है। अभिधेयका अर्थ है विषय, जिसका वर्णन किया जाय। अतः इसका विषय हुआ ब्रह्म। शास्त्रसे ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होगी। परमात्माकी प्राप्तिका साक्षात् साधन हुआ ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानमें कारण होनेसे शास्त्र परमात्माकी प्राप्तिमें परम्परा या साधन हो गया। विषय हुआ ब्रह्म और सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति हुआ प्रयोजन। अतः ब्रह्मके साथ इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ब्रह्म-ज्ञान द्वारा है, परम्परासे है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके बिना अनर्थकी निवृत्ति नहीं हो सकती। एक उस परमात्माको जानकर ही जीव मृत्युका अतिक्रमण करता है। परमात्माके ही ज्ञानसे और किसीके ज्ञानसे नहीं। कर्म, उपासनादिसे नहीं, केवल सत्यके ज्ञानसे मृत्युका अतिक्रमण हो ही जाता है—यह फल सर्वथा निश्चित है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

इस श्रुतिमें आया हुआ 'एव' शब्द 'तमेव विदित्वा'—उसीको जानकर, 'विदित्वा एव'—जानकर ही और 'मृत्युमत्येति एव'—मृत्युका अतिक्रमण करता ही है, तीनोंके लिए अवधारण है। इसी-लिए श्रुतिमें फलितार्थ भी कह दिया कि 'दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'

कुछ लोग डरते हैं, यह कहनेमें लज्जा करते हैं कि 'मैं नहीं जानता'। ऐसा कहनेमें अज्ञान हो जायगा और 'जानता हूँ' यह कहनेमें अभिमान हो जायगा, अतः कुछ कहते उन्हें संकोच होता है। उनका यह संकोच देहकी दृष्टिसे होता है। वेदके मन्त्र-द्रष्टा ऋषिको ऐसा कोई संकोच नहीं है, क्योंकि वह देहाभिमानसे रहित है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्ताद्।

आदित्यवर्ण अर्थात् स्वयंप्रकाश, अविद्याके प्रकाशक इस भूमा पुरुषको अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष आत्माको मैं जानता हूं। फल व्याप्तिसे नहीं, वृत्ति-व्याप्तिसे जानता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥—श्वेताश्व०

कोई चर्मकी भाँति समस्त आकाशको लपेट ले, यह सम्भव हो सकता है, किन्तु परमात्माको जाने विना दुःखका अन्त असम्भव है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः—परमात्माको जान लेनेपर सम्पूर्ण क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है।

ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति वेदान्तडिण्डिमः—वेदान्तका यह भेरीघोष है कि ज्ञानसे ही कैवल्यप्राप्ति होती है। यह ब्रह्मज्ञान शास्त्रके श्रवण, मनन आदिसे ही होता है; दूसरेके द्वारा नहीं होता : **शास्त्रादिनैव जन्यम्** ।

इसका प्रयोजन क्या है? इस प्रश्नका तात्पर्य यह है कि अनर्थ-निवृत्ति अथवा परमानन्दप्राप्तिरूप प्रयोजन जो बताया गया, वह तो नित्य है। मोक्ष यदि नित्य है तो साधनजन्य नहीं होगा, क्योंकि नित्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिए साधन आवश्यक नहीं होता। जैसे मिट्टी, आकाशादि नित्य हैं तो इन्हें उत्पन्न करनेके लिए साधन नहीं करना पड़ता। अतः नित्यमोक्षकी प्राप्तिके लिए तो ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्र अनावश्यक हैं। यदि मोक्षको अनित्य कहो तो अनित्यसे वैराग्य होना चाहिए। अनित्य मोक्षकी आवश्यकता ही नहीं। इससे भी शास्त्रका प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ये बातें मनमें लेकर ही कोई प्रयोजन क्या है, यह प्रश्न उठा है। इसका उत्तर देते हैं :

रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता ।

मोक्ष नित्य है। फिर भी इसके लिए जो साधन हैं, वे व्यर्थ नहीं हैं। मोक्ष नित्य है, नित्यप्राप्त है, यह समझकर जो लोग यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सोचते हैं : 'मैं मुक्त हो गया; किन्तु संसारके लोग बद्ध हैं, उन्हें उपदेश करके मुक्त करें', ऐसे लोग—जो स्वयं मुक्त नहीं हैं—तो केवल वाचामुक्त, वाचिकज्ञानी हैं। अपनी ओरसे किसीको मुक्त होनेका उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो कोई बद्ध है ही नहीं। दूसरेके बन्धनकी सत्ता ही नहीं है।

जब कोई अपनेको दुःखी, बन्धनमें समझकर प्रार्थना करे कि 'आप कृपा करके हमें मुक्तिका उपदेश करें!' तब उसे कहना चाहिए कि 'नारायण! तुम तो नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो। अपनेमें बन्धनकी कल्पना करके क्यों दुःखी हो रहे हो? रोग फैलाकर उसकी दवा करने बैठना वेदान्त शिष्टपरम्परा नहीं मानता। सहज स्वभावसे, भ्रमवश कोई अपनेको रोगी मान रहा है, दुःखी हो रहा है और रोगसे छूटना चाहता है तो उसको उपदेश करके उसके भ्रमको दूर करता है।

यदि मोक्ष अन्यरूप होता; यदि हवा, मिट्टी आदिके समान उसमें इन्द्रियद्वारा भोग्यत्व होता तो बात भिन्न होती। किन्तु मोक्ष तो आत्माका स्वरूप ही है। हम कहीं बँधे नहीं हैं। बन्धन एक कल्पना, एक भ्रम है। विचार करके देखो कि बचपनसे अबतक हम कितनोंके साथ बँधे और छूटे। जिनके साथ बँधे, वह चला गया। मकानके साथ, मोटरके साथ, कपड़ेके साथ बँधे तो एक गया, दूसरा आता गया। स्त्री, पुत्र, मित्र सबके साथ अपनेको बँधा समझते रहे, किन्तु सब परिवर्तित होते रहे। इनके आनेपर बन्धनका भ्रम होता है, पर हम तो ज्यों-के-त्यों हैं। हमें कोई बाँध नहीं सकता। जलकी लहरों अथवा स्वप्नोंके समान ये आते-जाते रहते हैं, लेकिन मोक्ष अपना सहजस्वरूप है। अपने स्वरूपभूत मोक्षकी प्राप्तिमें जो प्रतिबन्ध है, बन्धनका जो भ्रम है उसे दूर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करनेके लिए साधनकी आवश्यकता-सार्थकता है। किन्तु मोक्ष उत्पन्न करनेके लिए साधनकी आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न की जाती है, वह तो नष्ट हो जाती है। साधनसे मोक्ष उत्पन्न हो तो नश्वर होगा। अतः मोक्ष उत्पाद्य नहीं, स्वरूप है।

स्वास्थ्य अपना स्वरूप है। अब सर्दी-गर्मीसे, वात-पित्त-कफके प्रकोपसे किसी प्रकार रोग आ गया तो हम उस रोगको दूर करनेके लिए औषधि सेवन करते हैं। स्वस्थ तो हम रोग होनेसे पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे। इसी प्रकार मोक्ष अपना स्वरूप है। उसमें जो बन्धनका भ्रम आ गया, उसे दूर करने के लिए ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता है। ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मविचारकी आवश्यकता है और शास्त्र ब्रह्मविचाररूप है, अतः शास्त्रकी आवश्यकता है।

सीधा प्रश्न है—तुम दुःखी हो या नहीं? यदि तुम अपनेको दुःखी नहीं समझते तो तुम्हारे लिए किसी साधनकी कोई आवश्यता नहीं है। स्वस्थ पुरुषके लिए कोई दवा नहीं है। दवाकी आवश्यकता रोगीके लिए है। यदि तुम्हें लगता है कि 'मैं दुःखी हूँ' तो दुःखमें किसीका राग नहीं है। दुःख सबके लिए द्वेष्य है। सब चाहते हैं कि हमें कभी दुःख न हो। हमें सुख हो, दुःख हमें कभी न हो—यह सबकी भावना है। तुम भी दुःख मिटाना चाहते हो तो उसके लिए साधनकी आवश्यकता है।

अहम्-प्रत्ययका विषय यह आत्मा अपनेको दुःखी मान रहा है। कभी विचार किया है कि यह मानना सच है या झूठ? यदि आत्मा दुःखी है तो मैं दुःखी हूँ या दुःखी था, इसका साक्षी कौन है? दूसरेके विषयमें कोई बात जाननी हो तो जैसा लिखा हो, वैसा मानना पड़ता है, किन्तु अपने विषयमें कुछ जानना हो तो वहाँ अपना अनुभव मुख्य होता है। अतः सोचो कि कहीं लिखा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं कि तुम दुःखी हो, इसलिए अपनेको दुःखी मानते हो या अपने दुःखीपनेके तुम साक्षी हो ? कहीं लिखा होने या किसीके कहनेसे तुम अपनेको दुःखी मान नहीं सकते। तब अपने दुःखी होनेके तुम साक्षी हो। यह नियम है कि जो जिसका साक्षी होता है, वह उससे भिन्न होता है। जैसे हम घडे या देहको जानते हैं तो घड़े या देहसे भिन्न हैं। इसी प्रकार तुम अपने दुःखीपनको जानते हो, उसके साक्षी हो तो उस दुःखीपनसे तुम पृथक् हो। यदि अपने दुःखीपनको हम नहीं जानते, तो दुःखी नहीं हैं और यदि जानते हैं तो भी दुःखी नहीं हैं।

विकारके बिना कोई दुःखी नहीं होता। जब विकृति या सड़न उत्पन्न होती है—चाहे वह शरीरमें हो या इन्द्रियोंमें अथवा मनमें, तब मनुष्य दुःखी होता है। विकारका अर्थ है सड़न, एकसे दूसरे रूपमें परिवर्तन। परिवर्तनके बिना कोई दुःखी नहीं हो सकता। हमारी जो वस्तु जैसी थी, वैसी नहीं रही, इसीसे हम दुःखी हुए। जो परिवर्तनशील है, वह साक्षी नहीं है और साक्षीमें विकार नहीं है।

बुद्धि दिनमें सहस्र-सहस्र रूप बदलती है। यह प्रिय और यह अप्रिय, यह मेरा और यह तेरा, यह सुख और यह दुःख आदि रूपोंको यह बदलती ही रहती है। बुद्धिके इन सहस्र-सहस्र रूपोंका मैं साक्षी हूँ, अतः निर्विकार हूँ। निर्विकारमें तो दुःख होता नहीं, तब यह दुःखीपन, कहाँसे आया ? यह भूलसे माना हुआ दुःख है।

प्रज्ञापराध एव एष दुःखीमिति यत्।

हम जिसे दुःख कहते हैं, वह प्रज्ञाका अपराध, समझका दोष है। जैसे कोई व्यापारी अपना पिछला हिसाब तो देखे नहीं, केवल आजका हिसाब देखकर घाटा मान ले और दुःखी हो जाय, तो वह उसकी समझका दोष होगा। इसी प्रकार हम अनादि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनन्त अपनी आत्माको तो देखते नहीं कि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म ही है, प्रत्युत एक शरीरके ही विचारसे अपना पूरा हिसाब लगाते हैं—यही समझकी भूल है।

समझकी भूलका दुःख न होता तो समझदारीसे, ज्ञानसे वह दूर भी नहीं होता। दुःख वास्तविक होता तो उपायोंसे न मिटता; किन्तु समस्त दुःख समझदारीसे, ज्ञानसे मिट जाते हैं। जो वस्तु ज्ञानसे दूर हो जाय, वह थी ही नहीं। जैसे रस्सीमें हम साँप समझ रहे थे, किन्तु जब साँप समझ रहे थे तब भी तो वहाँ साँप नहीं था। यह हमारा दुःख भी वस्तुतः है नहीं, केवल दुःखी होनेका भ्रम है। अतएव वेदान्त ज्ञानको भी कल्पित मानता है। जैसे अविद्या कल्पित है, वैसे ही ज्ञान भी कल्पित है। जैसे बन्धन कल्पित है, वैसे ही मोक्ष भी कल्पित है। कल्पितकी निवृत्ति कल्पितसे ही होती है।

न निरोधो न चोत्पत्तिः।

किसी भी वस्तुका वर्णन करो तो कहना पड़ेगा कि 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है।' इसके अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं है। सृष्टिका कारण, प्रलयका स्वरूप, ईश्वर, प्रकृति किसी भी विषयका निरूपण करो—कहना यही पड़ेगा कि 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है।' बन्धन भी प्रतीत होता है और मोक्ष भी। सुख भी प्रतीत और दुःख भी। शास्त्र भी प्रतीत होता है। इस प्रतीतिको जब हम सच मान लेते हैं, तभी सुखी या दुःखी होते हैं। हम पहले भेद-प्रतीति, ज्ञानको सच्चा मान लेते हैं। फिर अच्छा-बुरा मानते हैं। उसके पश्चात् प्रिय-अप्रिय मानते हैं। तब प्राप्ति और त्यागका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम भेद-प्रतीतिमें इतने निमग्न हो जाते हैं कि वह सत्य बन जाती है। राग-द्वेष बद्धमूल हो जाते हैं। आत्मदेव तो सर्वथा शुद्ध और सुखस्वरूप ही हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आनन्द

आनन्दके सम्बन्धमें पाँच बातें मनमें बैठा लो :

१. आनन्दका कोई कारण नहीं है अर्थात् आनन्द उत्पन्न नहीं होता। जो उत्पन्न होगा, वह नाशवान् होगा।

२. आनन्दका कोई कार्य अर्थात् फल नहीं है। सबका फल है आनन्द।

३. आनन्दका कोई शत्रु, प्रतिस्पर्धी नहीं। जिसका कारण नहीं, वह नित्य है। जिसका फल, परिणाम नहीं, वह निर्विकार है और जिसका प्रतिस्पर्धी नहीं, वह अद्वितीय है। क्योंकि जो उत्पन्न होगा, वह विकारी होगा और जिसका प्रतिस्पर्धी होगा, वह अपूर्ण होगा।

४. आनन्द दो नहीं हैं अर्थात् उसमें प्रतिस्पर्धी यानी विजातीय भेद तो है ही नहीं, सजातीय भेद भी नहीं है। खट्टा खानेका आनन्द एक और मीठा खानेका दूसरा—ऐसा नहीं है। विषय-भेदसे आनन्दमें भेदका आरोप होता है, आनन्द तो एक ही है। आनन्दमें तारतम्य नहीं होता अर्थात् स्वगत-भेद भी नहीं होता। कम आनन्द, अधिक आनन्द, गाढ़ा आनन्द, हल्का आनन्द आदि तारतम्य तो वृत्तिका है। यह कम-अधिक, गाढ़ा-हल्कापन वृत्तिमें है, आनन्दमें नहीं। अब अन्तिम एक बात आनन्दके सम्बन्धमें और।

५. आनन्द कभी परोक्ष नहीं होता। अज्ञात रूपसे आनन्द कभी नहीं होता। जब होगा, प्रत्यक्ष या अपरोक्ष होगा। आनन्दकी अज्ञात सत्ता नहीं होती अर्थात् अज्ञानसे वह ढकता नही। आनन्द सबसे बड़ा प्रेमस्पद है। सब आनन्दसे ही प्यार करते हैं। तुम सबसे अधिक जिससे प्यार हो, वही तुम्हारा आनन्द है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबसे अधिक प्यार अपने अतिरिक्त किसीसे नहीं होता। प्रेमका लक्षण है :

तस्मिंस्तत्सुखे सुखित्वम्।

अर्थात् 'उसके सुखी होनेसे मैं सुखी होता हूँ' यहाँ भी अपने सुखी होनेकी बात ही मुख्य है। सुख सदा आत्मगामी है और सुख ही प्रिय है। अतः अपना आपा ही सुख है। आनन्द अन्य नहीं है। अब सोचो कि पुरुषार्थ कहाँ है? अपना पुरुषार्थ स्वयं आप हैं। अपने आपको छोड़कर आपको और कुछ पाना नहीं और अपने आपको तो पाना क्या है? वह तो नित्य प्राप्त है। किन्तु यही ज्ञात नहीं था, यही भूल थी। यह जान लेनेपर पुरुषार्थकी परिसमाप्ति हो जाती है।

अपनेमें यह द्वैतरूप प्रपञ्च आ गया है। प्रपञ्चका अर्थ क्या है? पाँचका बखेड़ा! **पञ्च विस्तारे**। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन्होंने यह जाल फैलाया है। श्रवणने कहा : 'यह शब्द अच्छा, यह बुरा। यह तुम्हारी स्तुति, यह निन्दा।' नेत्रने कहा : 'यह सुन्दर और यह कुरूप। यह तुम्हारे अनुकूल संकेत है, यह प्रतिकूल।' इसी प्रकार पाँचोंने जो बखेड़ा फैलाया है, यही प्रपञ्च है और यह प्रपञ्च, यह द्वैत अपनेसे पृथक् सत्य-सा प्रतीत होता है।

इसी प्रकार 'आत्मा' शब्दका अर्थ समझ लो। आत्माका अर्थ है 'मैं'। अब पहले कहो 'मैं' का अर्थ शरीर है। लेकिन शरीरको 'मेरा' भी कहते हैं। स्वप्नका विचार करोगे तो स्थूलशरीर मेरा हो जायगा। सुषुप्तिका विचार करोगे तो सूक्ष्मशरीर भी मेरा हो जायगा। शुद्ध 'अहं' का विचार करो तो कारणशरीर भी मेरा हो जायगा। इस प्रकार जहाँ भी तुम 'मैं' शब्दका उपयोग करते हो, वहाँ 'आत्मा'पदका अर्थ ध्यानमें बैठाने लगो तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धीरे-धीरे उसका अर्थ ध्यानमें आ जायगा। वैसे आत्मा शब्दके चार अर्थ होते हैं :

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

यच्चाप्नोति—अर्थात् जो सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंके द्वारा शब्द स्पर्श, रूप आदि विषयोंका ज्ञान प्राप्त करता है। **यदादत्ते**—जो सब कर्मेन्द्रियों द्वारा वस्तुओंके लेने-देनेका व्यापार करता है, **यच्चात्ति**—जो प्रियता एवं अप्रियताके संस्कारसे विशिष्ट मनोवृत्ति द्वारा विषयभोग करता है। जो सभी देश, काल, वस्तु, वृत्ति, अवस्था आदिमें एकरस व्याप्त रहता है, उसीको व्याप्ति, आदान, भोग एवं एकरस उपस्थितिके कारण 'आत्मा' कहते हैं।

जहाँ अपनेसे भिन्न द्वारा आनन्द लेना होता है, वहाँ कारण-की, इन्द्रियोंकी आवश्यकता होती है। किन्तु—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।

अर्थात् स्वरूपभूत आनन्दके आस्वादनके लिए करणकी आवश्यकता नहीं है। शान्त, विक्षिप्त, सविषयक, निर्विषयक आदि वृत्तियोंकी भी आवश्यकता नहीं है। वह तो सबका प्रकाशक है। वृत्तियाँ तो सभी उसी आत्माके प्रकाशमें नृत्य कर रही हैं। अतः आत्मानन्द करणसापेक्ष नहीं है। अतएव उसके लिए प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं।

ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मामें दुःख कहाँसे आया? भूलसे। आत्मा या ब्रह्मकी भूलसे नहीं, मनुष्यकी भूलसे। यह मनुष्य देहमें अभिमानवाला अज्ञानी हो गया है। यदि वह अपनी भूल, भ्रम दूर कर दे तो स्वयं आनन्दस्वरूप ही है।

'यह रोग, यह अभाव, यह मौत मुझसे कुछ भिन्न है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेरा कुछ नष्ट कर सकते या कर रहे हैं' ऐसा अपनेसे भिन्न 'कुछ' मानना भ्रम है। यही द्वैत-प्रपंच है। इसका उपशम होना चाहिए। इस उपशममात्रके लिए साधन हैं। उपशम होते ही स्वस्थता प्राप्त हो जायगी। अपने स्वरूप-निर्माणके लिए कोई साधन नहीं है। **अद्वैतभाव: प्रयोजनम्**—अपने अद्वैत स्वरूपका बोध ही इसका प्रयोजन है।

प्रयोजनके निरूपणमें बताया गया कि द्वैत प्रपञ्चका उपशम हो जानेपर जो स्वस्थता या अद्वैत-बोध है, वही इस ग्रन्थका प्रयोजन है। यहाँ प्रश्न उठा कि द्वैतप्रपञ्चका उपशम क्या कर्म, उपासना, योग आदिके द्वारा नहीं हो सकता? इसके लिए ब्रह्मविद्याप्रतिपाद प्रकरणकी ही आवश्यकता क्यों? द्वैत-प्रपञ्च अहङ्कारादि रूप है जो वस्तु सत्य होती है, वह कभी भी ज्ञानसे निवृत्त नहीं होती। इस प्रकार यदि यह द्वैत-प्रपञ्च सत्य वस्तु है तो जाननेमात्रसे इसका उपशम नहीं हो सकता। सत्य वस्तुको या तो तोड़कर मिटाना पड़ता है या उधरसे नेत्र हटा लेना पड़ता है। इसलिए द्वैत-प्रपञ्चका उपशम सत्य हो तो कर्मके द्वारा उसे मिटानेसे होगा या योग अथवा उपासनाद्वारा उधरसे मन, नेत्र हटा लेने होंगे। इसमें ज्ञान क्या करेगा? इसके लिए ब्रह्मविद्याके निरूपणकी क्या आवश्यकता है?

इन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहते हैं कि तुम्हारी बात तब ठीक होती, जब 'द्वैत-प्रपञ्च' शब्द वस्तु होता; परन्तु यह द्वैत प्रपञ्च अविद्याकी कृति है, अतः विद्यासे इसका उपशम हो जायगा। यह अविद्याका बनाया कैसे है? यहाँ अविद्याका व्याख्या-भेद सामान्य रूपसे समझ लेना चाहिए। योगदर्शन, वेदान्तदर्शन, सांख्य तथा पौराणिकोंकी अविद्याकी व्याख्याओंमें कुछ-कुछ अन्तर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है; किन्तु अविद्याकी निवृत्ति सभीको किसी न किसी रूपमें स्वीकार करनी ही पड़ती है।

दुःख दो प्रकारका है। एक तो वस्तुके अल्पाधिक्यका अर्थात् कोई वस्तु नहीं है या कम है—इसका दुःख, और दूसरा मनकी परिस्थिति बदलनेका। इसमें भी सभी विचारवान् यह मानते हैं कि वस्तु सुखद या दुःखद नहीं होती। भूमि, धन, स्त्री, पुत्र, शरीरादि प्राकृत पदार्थ हैं। इनमें न दुःख है, न सुख। ये तो स्वयंप्रकाश हैं ही नहीं। न अपनेको जानते हो, न दूसरेको। न अपनेको सुख-दुःख देते हो, न अन्यको। ज्यों-के-त्यों पड़े हैं ये सब। ऐसी अवस्थामें दुःख कहाँसे होता है? अविद्यासे। इनमेंसे जब किसीको हम अपना मान लेते हैं, तब उसके रहने, जाने या परिवर्तनमें हमें सुख-दुःख होने लगता है। क्या मकान हमें सुख-दुःख देता है? पता नहीं, कितने मकान बनते-गिरते हैं। आपने आज एक मकान खरीद लिया। अब वह आपका हो गया तो उसके बनने-गिरनेसे आपको सुख-दुःख होगा। अविद्याके कारण हम जिस वस्तुसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, वही सुख-दुःख देती है।

अब इसे विस्तारसे समझो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं। ये न सुखद हैं, न दुःखद। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, ये भी सुखद या दुःखद नहीं है। इनका कारण-भूत तामस अहंकार भी सुख-दुःखका हेतु नहीं है। नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी सुख-दुःख नहीं देतीं। पंचप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान) भी सुख-दुःख नहीं देते। इन सबका व्यवस्थापक अहंकार भी सुख-दुःखका कारण नहीं। ये सब-के-सब प्राकृत हैं, प्रकृतिकी वस्तुएँ हैं। बुद्धि भी केवल समझती है कि यह सुख है, यह दुःख है। वह सुख-दुःख देती नहीं। इसी प्रकार प्रकृति भी सुख-दुःख नहीं देती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब प्रकृति और प्रकृतिके समस्त विस्तारमें कोई दुःख नहीं देता तो दुःख आता कहाँसे हैं ? वही उत्तर है—अविद्यासे। अविद्याका अर्थ है—अज्ञान, नासमझी, मूर्खता। वही दुःखकी सृष्टि करती है। जब हम किसी वस्तुको ठीक नहीं समझते, तभी दुःखी होते हैं।

अहंता अर्थात् प्राकृत अहंकार तो सुषुप्तिमें भी रहता है। उस समय श्वास चलती है, रुधिराभिसरण होता है, नख-केश बढ़ते हैं, अन्न पचता है। अहंकार उस समय भी क्रियाशील रहता है। यह अहं दुःखका हेतु नहीं है। दुःखका हेतु तो अस्मिता है। आत्मा है चेतन-द्रष्टा और अहंकार है प्राकृत। जब हम दृश्य और द्रष्टाका ठीक-ठीक अलगाव नहीं कर पाते, और चित्स्वरूप होनेपर भी अविद्याके कारण अहंकारके साथ ऐसे एक हो जाते हैं कि अहंकारको ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं, तो इसीको 'अस्मिता' कहते हैं। यही चिज्जड़-ग्रन्थि है। इस अस्मितारूपी ग्रन्थिसे ही फिर राग-द्वेष और अभिनिवेशरूपी क्लेश होते हैं। असलमें दुःख देता है राग-द्वेष। प्रकृतिसे जैसे पुष्प उगता, बढ़ता-खिलता है वैसे ही शिशु भी पैदा होता और बढ़ता है। उसमें 'मैं' पना कर लिया तो उससे अनुकूल-प्रतिकूलका भाव, राग-द्वेष आया। तब जिससे राग हो, वह हमसे दूर होगा तो दुःख और जिससे द्वेष हो, वह पास आया तो दुःख होगा। इस राग-द्वेषमें हम इतने डूब गये हैं कि देह, पुत्र, और घरको अपना अंग, अपनेसे अभिन्न मानने लगते हैं। उनकी तनिक भी हानि हमें अपनी हानि लगने लगती है। यह अभिनिवेश हो गया। इस प्रकार हमारे दुःख-का कारण अविचार है। अविचारमें हम इतने खो गये हैं कि अपने मुक्तस्वरूप, द्रष्टास्वरूपको भूल गये।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, ये दुःखके पाँच कारण योगदर्शनके अनुसार हैं। योगी कहते हैं कि अविद्याके इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिवारका नाश कर दो। इसका नाश विवेकख्यातिसे होगा। चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर समाधिमें द्रष्टा जब अपने स्वरूपमें स्थित होगा, तब उत्थान-दशामें जान जायगा कि संसारकी किसी वस्तुसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर वह वस्तु आये या जाय। योगदर्शन कहता है कि दुःख और क्लेश तो आविद्यक हैं, अतः अविद्याकी निवृत्ति कर दो, तुम्हारा क्लेश मिट जायगा। किन्तु संसार प्राकृत है, अतः वह ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। वह न सुख देता है, न दुःख। वेदान्त-दर्शन कहता है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक जीव-सृष्टि और दूसरी ईश्वर-सृष्टि। पृथ्वी, जलादि पंचभूत, शब्द-स्पर्शादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि ईश्वरकी बनायी सृष्टि दुःखद नहीं होती। 'यह मैं हूँ और यह मेरा है, यह मैं नहीं और यह मेरा नहीं' यह जीवकी बनायी सृष्टि है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

ईश्वर तो आनन्दघन है, आनन्दस्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि-का उपादान-कारण भी वही आनन्द है जब यह सृष्टि लीन होती है, तब भी उसी आनन्दमें लीन होती है। सृष्टि आनन्दसे निकली, उसीमें लीन होती है और उसीमें स्थित है। अतः सृष्टि तो आनन्द-रूप ही है।

दुःखकी सृष्टि

'इतना मेरा, इतना तेरा' यह जो जीवने मान लिया, इसी जीवसृष्टिसे दुःख निकल पड़ा। मनुष्यने कभी विचार नहीं किया कि 'मैं, मेरा' कहाँसे हुआ। यह विचार न करना ही अज्ञान अविद्या है। वेदान्तकी यह अविद्या योगदर्शनकी अविद्यासे कुछ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भिन्न है। यहाँ भेद इतना ही है कि योगदर्शनमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्यांको वस्तु-सत्य माना है; किन्तु वेदान्त सृष्टिको परमाणुसे या प्रकृतिसे वनी नहीं मानता। दूसरेसे सृष्टि वनी है, इसका निषेध करनेके लिए कहता है कि ईश्वरसे वनी है। यहाँ ईश्वरसे सृष्टि वननेका अध्यारोप ही है, सृष्टि वननेके समर्थनमें तात्पर्य नहीं। अन्य-कारणवादके निषेधमें यहाँ तात्पर्य है। तत्त्व-दृष्टिसे तो सृष्टि वनी ही नहीं, इसका निरूपण श्रीगौड़-पादाचार्य स्वयं आगे इसी ग्रन्थमें करेंगे।

कर्मसे सृष्टि माननेमें प्रश्न उठता है कि पहले कर्म था या शरीर? शरीर पहले था तो कर्मके विना वह वना कैसे? यदि पहले कर्म था तो शरीरके विना कर्म हो नहीं सकता और दोनोंको साथ माननेसे उनमें कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। दोनोंको अनादि माननेसे भी कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। अतः ये अनादि रूपसे कल्पित हैं। अनादि ब्रह्म वास्तविक है और अनादि कार्य-कारण-वाद कल्पित है, यही मानना पड़ेगा। यह सृष्टि अविद्यासे ही दुःख देती है, यह वात सांख्य और योग कहते हैं; किन्तु वेदान्तके मतमें तो सृष्टि अविद्यासे ही वनी है। अपनी आत्मासे भिन्न सृष्टिको हम अधिष्ठानके प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे ही मान रहे हैं। आत्माको ब्रह्मस्वरूप जानते ही सृष्टि रह नहीं जाती। अपनी आत्मासे भिन्न सृष्टि है, यह विचार अपने आपको ब्रह्मस्वरूप न जाननेसे ही है।

अच्छा, अव इस सम्बन्धमें एक-दो वातें देखो। कालके सम्बन्धमें निर्णय यह है कि भूतकाल अनादि होता है; क्योंकि वह कव प्रारम्भ हुआ, कहा नहीं जा सकता और भविष्यकाल होता है अनन्त; क्योंकि उसकी कहीं समाप्ति नहीं है। इस अनादि-अनन्त कालके मध्य अपनी आयुके जो सौ-पचास वर्ष तुम मानते हो, वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कालका कौन-सा भाग है ? कहना होगा कि ये सौ-पचास वर्ष तो प्रतीतिमात्र है अनादि-अनन्त कालमें।

अब देशको लो। देश अनन्त है या नहीं ? जब कोई देशकी सीमा नहीं तो उसका भाग हमारे शरीरने घेर रखा है, यह कैसे बताया जा सकता है ? विस्तारकी दृष्टिसे भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अनन्तमें केवल प्रतीत हो रहे हैं।

कारण-सत्ताकी दृष्टिसे देखें तो जो पूर्णसत्ता होती है, उसमें कोई भी परिच्छिन्न-सत्ता रह नहीं सकती; क्योंकि एक परिच्छिन्न-सत्ता जहाँ होगी, वहाँ पूर्णसत्ताको वह परिच्छिन्न बना देगी। अतः उस अनन्तके अज्ञानसे ही हम इन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको सत्य मान रहे हैं।

अब 'त्वं'-पदार्थको लेकर विचार करें। रूपमें नेत्र प्रमाण है, नेत्रमें मन, मनके लिए बुद्धि और बुद्धिकी सत्ताके लिए 'मैं' प्रमाण हूँ। मैं बुद्धिके भाव-अभाव दोनोंका साक्षी हूँ। देश, काल, वस्तु इन सबकी प्रतीति बुद्धिके द्वारा होती है। अतः बुद्धि तथा उसके द्वारा प्रतीत सभी दृश्य होनेके कारण स्वप्नके समान मिथ्या हुए। इस प्रकार अनन्त देश-कालकी वास्तविक सत्ता ही नहीं हैं। समाधिमें—शान्त चित्तमें सृष्टिकी प्रतीति ही नहीं होती। विक्षिप्त-चंचल चित्तमें ही सृष्टि प्रतीत होती है। पागलपनमें किसीको कुछ प्रतीति हो तो वह सत्य होगी या मिथ्या ? इसलिए समाधि, तथा सुषुप्तिमें सृष्टिका अभाव होनेसे, केवल विक्षिप्त चित्तमें प्रतीति होनेसे, दृश्य होनेसे, विकारी होनेसे, परिच्छिन्न एवं ज्ञाननिवर्त्य होनेसे सृष्टि सिद्ध ही नहीं होती। यह न तो सत्ताकी दृष्टिसे ही सत्य है, न ज्ञान-दृष्टिसे और न अनादि-अनन्त दृष्टिसे ही। यहाँ-तक कि यह अदृष्टसे भी नहीं बनी और न स्थित है; क्योंकि अदृष्ट-की भी प्रतीति नहीं हो सकती। यह तो केवल विपरीत दृष्टिसे है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन विद्यते ॥—पञ्चदशी

अविद्यामें बैठकर ही अविद्याकी कल्पना की जाती है। ब्रह्म-दृष्टिसे तो अविद्या त्रिकालमें नहीं है। अविद्यमान होनेपर भी मनुष्यकी अपने अज्ञानी होनेकी जो अनुभूति है, उसके बलपर अविद्याकी कल्पना करनी पड़ती है।

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप उसे कहते हैं जो दूसरेको जाने। लेकिन दूसरा है ही नहीं तो ब्रह्म किसको जानेगा? अपने आपको? किन्तु ब्रह्म अनन्त है। यदि अपनेको वह पूर्णतः जान ले तो उसे अपना अन्त मिल जायगा। ब्रह्मका स्वभाव है जानना, और अनन्तका स्वभाव है जाननेमें न आना। जैसे आँखका स्वभाव है देखना और आकाशका स्वभाव है पूर्णतः दृष्टिमें न आना। इसका फल यह होता है कि वह आकाशमें नीलिमा-क्षितिज देखने लगते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मका देखना स्वभाव है—ज्ञान स्वभाव है और दृश्य न होना भी स्वभाव है। ज्ञानस्वरूप होनेसे वह ज्ञेय नहीं बनता। अब देखे बिना मानता नहीं और स्वरूपका ग्रहण होता नहीं तो आकाशमें नीलिमाके समान अन्यथा-ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार अपने आपको न देख पानेके कारण वह एक अपरिच्छिन्न चेतनको ही अनेक और परिच्छिन्न जड़के रूपमें देखने लगता है। अपनेको ही अन्यरूपसे देखता है।

यह परमात्माका स्वभाव है। इसलिए ऐसा दीखना कोई अपराध नहीं। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है, पर भानका विरोधी नहीं। इसीसे प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्च, जिन्हें सांख्य और योग नित्य मानते हैं, रहेगा। अर्थात् इसकी प्रतीति तो रहेगी, केवल इसमें जो सत्यत्वकी भ्रान्ति है—आत्मासे भिन्न जो इसे सत्य वस्तु माने बैठे हैं, वह मिट जायगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रपञ्चको भ्रान्ति कहनेका कारण है। ज्ञान-ब्रह्ममें जहाँ आना-जाना माना, वहाँ भ्रन्ति हुई। जब ऐसा माना कि ज्ञान अन्तःकरणकी प्रमाण-वृत्तिपर आरूढ़ होकर प्रमेय-देशमें जाता है, बस वहीं भ्रम हो गया। भ्रमण ही भ्रान्ति है; क्योंकि ज्ञान देश-परिच्छिन्न नहीं है। अतः एक देशसे दूसरे देशमें उसके जानेकी आवश्यकता भी नहीं। ज्ञान कालपरिच्छिन्न भी नहीं है कि एक क्षण यहाँ फिर वहाँ रहे। विषयमें रहकर 'इदम्' और देहमें रहकर 'अहम्' बन जाय, ऐसा भी ज्ञान नहीं है। इसलिए जहाँ ज्ञानका आना-जाना माना, वहीं भ्रम हो गया।

जैसे नेत्रवृत्ति जाकर पदार्थसे टकराकर जब लौटती है तब उस पदार्थका ज्ञान होता है। दर्पणसे नेत्रवृत्ति टकराकर लौटती है तब अपना मुख दीखता है। शीशेमें कुछ लगा न हो और नेत्र-वृत्ति शीशेको पारकर जाय तो मुख नहीं दीखेगा। इसी प्रकार ज्ञान वृत्त्यारूढ़ होकर कहीं जाय और टकराकर किसीसे न लौटे तो बुद्धिमें ज्ञेयकी उपस्थिति ही नहीं होगी। ज्ञेयसे टकराकर लौटनेपर ही बुद्धिमें ज्ञेयकी उपस्थिति होती है। यह टकराकर लौटा हुआ ज्ञान विपरीत ज्ञान हो गया। विपरीत ज्ञानका अर्थ है कि हम जो कुछ देखते हैं, ज्ञानके विपरीत देखते हैं। यही भ्रान्ति-ज्ञान है।

द्वैतप्रपञ्चस्य अविद्ययाकृतत्वात्।

अर्थात् यह द्वैत-प्रपंच अविद्यासे बना है और सत्य प्रतीत होता है। तब क्या अद्वैत-ज्ञान होनेपर यह प्रपंच मिट जायगा? नहीं, यह संसार, ये कल-कारखाने, यह घर-द्वार, स्त्री-पुत्र सब ज्यों-के-त्यों रहेंगे। यह प्रपंच अविद्यासे बना है, अतः विद्यासे वह मिटेगा **विद्यया तदुपशमः स्यात्**। वस्तुसे बनी वस्तु कर्मसे मिटती है। अज्ञानसे हुई वस्तु ज्ञानसे मिटेगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मविद्याका अर्थ है अनन्तविषयक विद्या। अनन्तका ज्ञान न होनेसे प्रपंच ठोस सत् प्रतीत हो रहा है। अनन्तका ज्ञान हो जाय तो पता लग जायगा कि कोई भी वस्तु परिच्छिन्न नहीं है। हम जो वस्तुओंको परिच्छिन्न देखते हैं, यह भ्रम है। किसीकी उत्पत्ति या नाश भी नहीं है :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

जो वस्तु विद्यमान है, उसका कभी नाश नहीं होता और जो नहीं है, वह कभी उत्पन्न ही नहीं होती। इस प्रकार जन्म-मृत्यु दोनोंका निषेध कर दिया। न सत्से सत्की उत्पत्ति होती है और न असत्की। विना हुए ही यह उत्पत्ति-नाश दीख रहा है। कारण यह अनिर्वचनीय है। हम इसको अविद्यासे सत्य मानते हैं। इस अविद्याको मिटानेके लिए स्वरूपज्ञान आवश्यक है। अतः स्वरूपभूत ब्रह्मज्ञान प्रकाशित करनेके लिए इस प्रकरणको आरम्भ किया गया है।

अब इसमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं :

यत्र हि द्वैतमिव भवति, यत्र वाऽन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत् अन्योऽन्यद्विजानीयात्। (बृह. उ.)

अज्ञानसे जो वस्तु होती है, वह वस्तुतः होती ही नहीं। जैसे सूखे-कटे पेड़के ठूँठमें चोर, प्रेत या और कुछ दीख रहा हो तो वह कुछ भी नहीं है, केवल दीख रहा है। अज्ञानमें यही होता है कि दूसरा दूसरे जैसा—वास्तविकसे सर्वथा भिन्न दीखता है। जिसे सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ कौन किसे दीखेगा? यह विद्यादशामें ही होना सम्भव है। जब हम समझ गये कि आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं तब उस समय किस करणसे किसे दीखेगा? उस समय न तो देखनेका अन्य कोई करण है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न देखनेका अन्य कोई विषय। जितना भेदज्ञान है, सारा औपाधिक होता है। जो समीप रहकर अपने गुण दूसरेमें कर दे, उसका नाम है उपाधि। जैसे दर्पण या स्फटिकके पास लाल फूल रख दें तो दर्पण या स्फटिक लाल दीखने लगेगा। यह लाल फूल जो स्फटिकको लाल दिखा रहा है, उपाधि हो गया। स्फटिकमें यह रोग आ गया—उपाधिकी व्याधि हो गयी। इसी तरह समाधि क्या है? कार्यको कारणमें लीन कर देना। शरीर जो मिट्टीसे बना था, मिट्टीमें गाड़ दिया तो देहकी समाधि हो गयी!

एक ही वस्तुको नेत्र लाल कहता है, नासिका सुगन्धित कहती है, जिह्वा कषाय बतलाती और त्वचा कोमल कहती है। वस्तु तो एक है, पर पाँच इन्द्रियाँ उसे पाँच प्रकारका बताती हैं। अब यदि इन्द्रियाँ न रहें तो वस्तुका पता कैसे लगे। अब इन्द्रियाँ भी हैं और प्रतीति भी हो रही है; किन्तु जान लिया कि यह तो एक चैतन्य-वस्तु ही इन्द्रिय-करण तथा वस्तुके रूपमें भास रही है। तो देखनेका अभिमान कैसे होगा? इस प्रकार अनेक श्रुतियोंसे यह तत्त्व समझ लेना चाहिए। जैसे: भूमिमें धन गड़ा है और हम उसपर घूम रहे हैं; किन्तु जानते नहीं कि हमारे पैरोंके नीचे धन है, अतः अपनेको दरिद्र मान रहे हैं, दरिद्रताका दुःख भोग रहे हैं। किसीने हमें बता दिया और हम धनी हो गये। इसी प्रकार श्रुति उपलब्ध आत्मा, ब्रह्ममें जो अप्राप्तिकी भ्रान्ति है, उसे दूर करती है।

चारों प्रकरणोंका सार

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार ब्रह्मविद्याका निरूपण करनेके लिए यह जो माण्डूक्योपनिषद् ग्रन्थ प्रवृत्त हुआ, इसमें चार प्रकरण हैं। मूल उपनिषद् तो वारह मन्त्रोंका है। कारिकाके जो श्लोक हैं, वे सब किसी-न-किसी मन्त्रसे सम्बद्ध हैं। भाष्यकारने चार प्रकरणके इस ग्रन्थका विषय-विभाजन किया है। तदनुसार इस ग्रन्थका प्रथम प्रकरण ओंकार-निर्णयके लिए है। ऐसा क्यों? आत्मतत्त्वका ठीक-ठीक अनुभव प्राणियोंको हो जाय, इसलिए इसमें ओंकारका ठीक-ठीक स्वरूप समझ लेना सहायक है।

यह ओंकारनिर्णय आत्मतत्त्वकी प्रतिपत्तिमें उपाय है। प्रतिपत्तिका अर्थ है ग्रहण। जहाँ जड़ पदार्थकी प्राप्ति होती है, वहाँ 'प्राप्ति' शब्दका प्रयोग होता है; किन्तु जहाँ ज्ञानस्वरूप वस्तुकी प्राप्ति होती है, वहाँ वह प्राप्ति अनुभवरूप ही होती है। अतएव उसे 'प्रतिपत्ति' कहते हैं।

यह 'अनुभव' शब्द भी बड़ा विलक्षण है। यह शब्द 'भू' धातुसे बना है, अतः इसे सत्तावाचक होना चाहिए; किन्तु 'अनु' उपसर्ग लगनेके कारण यह ज्ञानवाचक हो गया। इसका अर्थ हुआ कि सत्ता और ज्ञान दोनों दो वस्तुएँ नहीं, एक ही हैं। सत् और चित् एक ही हैं, यह अभिप्राय अनुभव शब्द सूचित करता है। दूसरी विशेषता इस शब्दकी है कि यह कार्य-कारण दोनों है। 'भव' का अर्थ संसार है और शिव भी। भव-कारण ईश्वरका वाचक है तथा कार्य-संसारका भी वाचक। अनुभव अर्थात् भवके पीछे, कार्य-कारणरूप जगत्के जो पीछे स्थित है। कर्म, योग, उपासनादिके पीछे जो है, वह अनुभव है। यह दृश्य नहीं, दृश्यसे विलक्षण है। कार्यका नाश होनेपर कारण रहता है और कारणके भी पीछे अधिष्ठानरूपमें जो वस्तु है, वह ब्रह्म ही अनुभवस्वरूप है। आत्मतत्त्वकी प्रतिपत्ति या अनुभवका उपाय है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ओंकार-निर्णय। ग्रन्थके सभी चारों प्रकरण उपाय ही हैं, लेकिन यह प्रथम प्रकरण 'आगमप्रधानम्'—श्रुतिके अर्थके विवेचनके रूपमें है। यह युक्तिप्रधान या खण्डनप्रधान नहीं है।

आगमका अर्थ है आया हुआ—जो हमें सम्प्रदायाविच्छेद या परम्परासे प्राप्त अपौरुषेय ज्ञान है, वह। अब प्रश्न होगा कि जो वेदको अपौरुषेय नहीं मानते, क्या उनको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता? बिल्कुल नहीं, यह युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है।

*वेदका अर्थ है ज्ञान

जो लोग ज्ञानकी उत्पत्ति और विनाश मानते हैं, उनके मतमें ज्ञानके पूर्व तथा पश्चात् जड़तत्त्व ही रहेगा, अतः वे नास्तिक होंगे। चार्वाक् और कार्लमार्क्स, डार्विन, हैकले आदि पाश्चात्त्य जड़वादी दार्शनिक जगत्के मूलमें जड़तत्त्व मानते हैं, अतः वे ज्ञानको उत्पन्न एवं विनाशी ही मानेंगे। इस प्रकार जो नास्तिक हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं होगा—यह कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं। ब्रह्मज्ञान तो उन्हें अपने मनसे ऊपर उठकर वेदान्तमें आनेपर ही होगा।

ज्ञान अपौरुषेय है। यह किसीका बनाया नहीं है। ज्ञानके स्वतःसिद्ध होनेके कारण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तथा ज्ञानस्वरूप आत्माका ऐक्य अपरोक्ष रूपसे जान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञानकी अपौरुषेयता समझने योग्य है ईश्वरने पहले जिन्दावेस्ता, बाइबिल या कुरान बनाया और फिर उसे मन्सूख करके दूसरा 'इल्हाम' भेजा। इस प्रकार अपने ज्ञानको ही ईश्वरने कभी ठीक

---

* वेदकी अपौरुषेयताको जिन्हें समझना हो, वे 'वेदकी अपौरुषेयता-का अभिप्राय' नामक निबन्ध पढ़ें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और कभी गलत बनाया—ऐसी बात वेदके सम्बन्धमें नहीं है। वेद नित्य हैं। ईश्वरका ज्ञान नित्य और सदा भ्रान्तिरहित है। पुस्तकोंकी बात छोड़ दी जाय, किन्तु ज्ञानकी एकरसता तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। उसमें उत्पत्ति-विनाश कथमपि नहीं है।

यह ओंकार-निर्णय लौकिक दृष्टिसे विचार करनेकी वस्तु नहीं है। वैदिक दृष्टिसे इसके विचारकी आवश्यकता है। वेदके आविर्भाव-तिरोभावका अर्थ भी समझना चाहिए। सुषुप्तिमें आत्म-चैतन्यका स्पष्ट भान नहीं होता; क्योंकि करण बुद्धि है उस समय नहीं रहती। वहाँ चैतन्यका लोप नहीं है। चैतन्यको प्रकट करनेके कारण न होनेसे ही उसका भान नहीं होता। इसी प्रकार प्रलयमें बुद्धि आदिका लय हो जानेसे वेदका तिरोभाव हो जाता है। ज्ञानका स्वरूपतः तिरोभाव नहीं होता।

अब द्वितीय प्रकरणका परिचय देते हैं। द्वैत-प्रपंचके उपशान्त हो जानेपर अर्थात् उसकी आत्म-ब्रह्मसे भिन्न सत्यरूपसे प्रतीति मिट जानेपर—प्रतीति होनेपर भी उसमें सत्यत्वकी भ्रान्ति न रहनेसे—उस प्रतीतिमें हेय-उपादेय, राग-द्वेष, प्रिय-अप्रियादि भाव नहीं रहते। इसे ही 'उपशान्ति' कहते हैं। आकाशमें नीलिमाके समान प्रपंच दीखता तो है; किन्तु वह जन्म-मरणादि अनर्थका हेतु नहीं बनता। इस प्रकार द्वैतरूप प्रपंचकी उपशान्ति हो जानेपर अद्वैतकी प्रतिपत्ति होती है, जैसे कि रस्सीमें सर्पादि विकल्पका उप-शम हो जानेपर रज्जुकी प्रतिपत्ति होती है। यह द्वैत जैसा दीख रहा है, वैसा नहीं है। जड़ दीख रहा है, किन्तु है चेतन। अनेक दीख रहा है, पर है एक। परिच्छिन्न दीख रहा है, किन्तु है अपरि-च्छिन्न। इस प्रकार यह जो वैतथ्य यानी तथ्यके विपरीत दीख रहा है, उसका प्रतिपादन करनेके लिए दूसरा प्रकरण है। प्रथम प्रकरण आगमप्रधान है तो द्वितीय प्रकरण है युक्तिप्रधान।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीसरा प्रकरण भी युक्तिप्रधान हैं। दूसरे और तीसरे प्रकरण-का अन्तर यही है कि दोनों युक्तिप्रधान होनेपर भ. दूसरे प्रकरणमें द्वैतके मिथ्यात्वका प्रतिपादन है और तीसरे प्रकरणमें अद्वैत जैसा अनुभवमें आता है, वैसा ही है—वह वैतथ्य नहीं है, यह बताया है। द्वैत दृष्टिमें आता है, किन्तु जिस प्रकाशकके प्रकाशसे वह दृष्टिमें आता है, वह प्रकाशक एक है। शंका करें कि द्वैतसे द्वैत दीखता है, ऐसा ही क्यों न मानें? तो ऐसा माननेमें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिकापत्ति, अनवस्था आदि अनेक दोष आयँगे। अतः अद्वैतसे ही द्वैत प्रकाशित हो रहा है, यही मानना पड़ेगा।

चतुर्थ प्रकरणका अभिप्राय बतलाते हैं। अद्वैतको जैसा कि वह है, उस रूपमें अनुभव करनेमें जो बाधा डालते हैं, वे प्रतिपक्ष-रूप वादान्तर बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय आदि हैं। साथ ही वे परस्पर विरोधी हैं। एक दूसरेका आपसमें ही खण्डन करते हैं। उनका प्रतिपादन ठीक नहीं; वे 'अतथार्थ'-प्रतिपादन करते हैं। अतः इस चतुर्थ प्रकरणमें उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन किया गया है। ये चारों प्रकरण ठीक उसी ढंगसे हैं, जिस ढंगसे मूल उपनिषद्में विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयका वर्णन है। जाग्रत्-अवस्थामें वेदकी प्रधानता तो स्वप्न-सुषुप्तिमें मन एवं स्थितिकी प्रधानता है। इसीलिए दोनों युक्तिप्रधान हैं। इनमें अन्वय-व्यतिरेकसे द्वैतके मिथ्यात्व एवं अद्वैतके सत्यत्वका प्रतिपादन है। तुरीय वस्तु अनिर्देश्य है, अलक्षण है और है अचिन्त्य। इसलिए आगम, युक्ति और स्थिति तीनोंके द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। तब उसका प्रतिपादन करनेवाले मतोंमें परस्पर असंगति दिखाकर ही 'अमत' का निरूपण किया जा सकता है : **यस्यामतं तस्य मतम्**। प्रतिपादनकी यह शैली देखकर जिनको यह भ्रम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता है कि यह बौद्धागमकी शैली है, कहना पड़ेगा कि वे वेदान्त-प्रतिपाद्य तुरीयतत्त्वके ज्ञानके सम्बन्धमें अभी बालक ही हैं।

वेदका परम तात्पर्य अद्वैत है और अवान्तर तात्पर्य है अन्तः-करणकी शुद्धि तथा उसमें उसके साधनोंका विधान। पहले मूलमें जो 'प्रतिपत्ति'शब्द आया है, उसमें 'प्रति' उपसर्गका अर्थ है प्रत्यक्। अतः प्रतिपत्तिका अर्थ हुआ—अपने हृदयमें, आत्मामें जो उपलब्धि हो वह। प्रत्यक्का अर्थ है भीतर। जो बाहर दीखता है वह तो है पराक्।

पूछें—खंडनकी आवश्यकता ही क्या ? बात यह है कि अद्वैत-ज्ञान सम्पन्न महापुरुषको तो कोई आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है जिज्ञासुको। अद्वैत-तत्त्वकी दृष्टिसे तो सृष्टि हुई ही नहीं। सृष्टि कैसे हुई ? यह प्रश्न जिज्ञासु ही करेगा। अब जिज्ञासुसे ही पूछा जाय कि तुम्हें कैसे सृष्टि हुई जान पड़ती है ? जिज्ञासुकी बुद्धिमें जितने कारण हैं या हो सकते हैं, उनका वर्णन करके उनमें जो असंगतियाँ हैं, उन्हींसे उन कारणोंका खंडन कर दिया। जैसे किसीने कहा : 'शून्यसे सृष्टि हुई।' तो उसे समझा दिया कि भला अभावसे भावकी उत्पत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार जितने मत वह उपस्थित करता गया, उन मतोंमें परस्पर एक दूसरेका खंडन ही है। उन्हीं युक्तियोंसे उन सब मतोंका खण्डन कर दिया और जिज्ञासुकी बुद्धिके भ्रमोंका निराकरण हो गया। चतुर्थ प्रकरणमें यही किया गया है।

ओंकार निर्णय

अब प्रश्न होता है कि ओंकारके निर्णयसे आत्मज्ञान होता है, ऐसा क्यों कहते हो ? जिसका निर्णय होगा, उसका ज्ञान होगा, दूसरेके निर्णयसे दूसरेका ज्ञान तो हुआ नहीं करता। ओंकार-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निर्णयसे ओंकारविषयक बुद्धि होगी, ब्रह्म विषयक निश्चय कैसे होगा ? यह प्रश्न ग्रन्थके प्रथम प्रकरणके सम्बन्धमें हैं।

अनुमानसे भी ज्ञान होता है। अनुमान एकको देखकर दूसरेका ज्ञान करा देता है—यह तो एक युक्ति है। किन्तु अनुमान भी असम्बद्ध वस्तुका ज्ञान कभी नहीं कराता। अनुमान तीन प्रकारका होता है : १. कार्यको देखकर कारणका अनुमान। २. कारणको देखकर कार्यका अनुमान। ३. सृष्टिमें जैसा सामान्य रूपसे दीखता है उसका अनुमान। सबेरे पूरी धरती भीगी देखी तो इस कार्यसे रातमें बादल होकर वर्षा होनेका अनुमान हो गया। दूरपर बादल खूब चढ़े हैं, झुके हैं तो वहाँ वर्षा होगी, यह कारणको देखकर कार्यका अनुमान हुआ। रोगी कराहता है, यह सामान्य रूपसे देखा जाता है : अब कोई कराहता दीखे तो रोगी होगा, यह सामान्य अनुमान हुआ। ओंकार ब्रह्मका कारण है या कार्य ? जहाँ आत्मा है वहीं ओंकार और जहाँ ओंकार है वहीं आत्मा—ऐसा साहचर्य भी नहीं दीखता। अतः ओंकार-निर्णयसे आत्मज्ञान कैसे होगा ?

किन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमानके बलपर ओंकार-निर्णयसे आत्मज्ञान होता है, यह बात कही नहीं जा रही है। यह बात श्रुतिके बलपर कही जा रही है। अतएव श्रुति-प्रमाण देते हैं।

इन श्रुतियोंको समझनेके लिए कठोपनिषद्की कथाको थोड़ेमें समझ लेना चाहिए—

नियम यह है कि अपने पास जो उत्तम वस्तु हो वह देवताकी सेवामें लगनी चाहिए। किन्तु होता प्रायः उलटा हैं : **सड़ी सुपारी देवताको**। इसी प्रकारका एक ब्राह्मण था। वह दानमें ब्राह्मणोंको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बूढ़ी, रोगी, वन्ध्या गायें दे रहा था और उत्तम गायें बचा लेता था। उसका पुत्र नचिकेता था। पिताके अन्यायको वह सह नहीं पाया। कहने लगा : 'पिताजी, बूढ़ी गायें आप दान कर रहे हैं और अच्छी बचा रहे हैं, किसके लिए? मेरेलिए ही तो। अतः मैं आपको बहुत प्रिय हुआ। मुझे, अपनी सबसे प्रिय वस्तुको आप किसे देंगे?' पिता कुछ नहीं बोले, तो नचिकेताने अपना प्रश्न फिर दुहराया। तीसरी बार जब वही प्रश्न नचिकेताने किया तो पिता चिढ़कर क्रोधमें बोल बैठे : 'तुझे मृत्युको दूँगा।'

पिताने बात क्रोधमें कहीं; किन्तु नचिकेताने सोचा कि मेरे पिताकी बात झूठी नहीं होनी चाहिए। अतः वह मृत्युके द्वारपर जाकर बैठ गया।

ऐसा समझो कि समस्त विषयोंको त्याग यमलोकके द्वारपर अनशन करने बैठ गया। महाप्रलयका चिन्तन करने लगा। उस अवस्थाका चिन्तन करो जब शरीर भस्म हो जायगा। उसके कारणात्मक होनेका चिन्तन करो तो मृत्युके द्वारपर पहुँच जाओगे और वहींसे ज्ञानोपदेश प्राप्त होगा।

नचिकेताने तीन दिनोंतक अन्न-जल कुछ भी नहीं लिया। यमराज उसके सामने आये अर्थात् मृत्यु प्रत्यक्ष दीखने लगी। अब उसे लगा कि अन्नमय-कोष छूट जायगा। प्रलोभन आये कि जीवित रहोगे तो राज्य मिलेगा, सुख मिलेगा, भोग मिलेंगे। लोक तथा परलोक, स्वर्गादिके सुख भी जीवनके कार्योंसे पा सकोगे। लेकिन नचिकेताका वैराग्य दृढ़ रहा। अर्थात् वह स्थिर चिन्तनमें लगा रहा कि मृत्युके पश्चात् क्या रह जाता है; कार्य-कारणसे, कृत-अकृतसे, पाप-पुण्यसे, धर्म-अधर्मसे, भूत-भविष्यसे विदित-अविदितसे—इन सबसे परे क्या है? नचिकेताके इन प्रश्नोंके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उत्तरमें यमराजने अनुभवकी वस्तु बतायी : "सारे भेद, सारी तपस्या और समस्त साधन केवल ॐ के लिए हैं।"

ॐका उच्चारण करो तो अकार, उकार, मकारका उच्चारण हुआ। इस उच्चारणके समय तो कोई विषय-स्फुरणा होती नहीं। अन्तःकरणमें जो समस्त बाह्य विषयोंका ज्ञान है, ओंकारके उच्चारणके समय उधरसे वृत्ति लौट आती है। केवल शब्द विषय हो रहा है। इसके भी चार भेद हैं : १. दृश्य भी है और शब्द भी। २. दृश्य नहीं है, शब्द है। ३. शब्द नहीं है, परन्तु दृश्य है। ४. शब्द और दृश्य दोनों नहीं हैं। उच्चारणके प्रारम्भमें शब्द और दृश्य दोनों रहते हैं। दूसरी अवस्थामें आकृति दीखती है। तीसरी दशामें केवल शब्द सुन पड़ता है। मकारके सिरेपर पहुँचकर तो स्वर भी समाप्त हो जाता है। प्राण शान्त हो जाता है, एक निःशब्दावस्था रहती है।

ओंकारने क्या किया? उसने दूसरे सब शब्दोंका उच्चारण समाप्त कर दिया। अकार, उकार, मकारके उच्चारणको समाप्त कर शान्तावस्थामें पहुँचा दिया। इस प्रकार चैतन्यमें स्फुरित यह निर्विषय ॐ क्या है? यह देश, काल और विषयकी स्फुरणा तो है नहीं। अतः यह चैतन्य है, ब्रह्म-चैतन्य।

ज्ञान दो प्रकारसे होता है : एक स्वरूप-लक्षणसे और दूसरा तटस्थ-लक्षणसे। आकाशमें सबसे बड़ा प्रकाश-पिंड जो रात्रिमें दीखता है, वह है चन्द्रमा। यह चन्द्रमाका स्वरूप-लक्षण हुआ। द्वितीयाका चन्द्रमा दीखता नहीं, अतः बताया कि 'उस वृक्षसे दो हाथ ऊपर चन्द्रमा है।' यह तटस्थ-लक्षण हुआ। यहाँ वृक्षसे दो हाथ ऊपर मापनेमें तात्पर्य नहीं है, एक संकेत देनेमें तात्पर्य है। इसी प्रकार प्रणव 'शाखाचन्द्र' न्यायसे, तटस्थ-लक्षणसे परमात्माका बोध कराता है। इसे 'जहल्लक्षणा' कहते हैं। अर्थात् जो शब्द

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहा गया, उसके मुख्यार्थको छोड़कर उससे सम्वद्ध वस्तु या अर्थ-का ज्ञान कराना।

एतदालम्बनम्। (क० उ० १.२.१७)

जैसे मन्दिरमें पाषाण-मूर्ति है। उसे कारीगरने टाँकीसे बनाया और मूल्य देकर वह खरीदी गयी। वह मूर्ति देवता नहीं है। उसमें देवता-बुद्धि की जाती है। देवताकी भावनाके लिए वह मूर्ति आलम्बन है। इसी प्रकार प्रणव आलम्बन है ब्रह्म-बुद्धि बनानेका। **अवति इति ओम्**—जो अविद्या और उसके कार्यसे हमारी रक्षा करे, उसका नाम है ओम्। तटस्थवृत्ति या जहल्लक्षणासे ॐ परमात्माको, ब्रह्मको लक्षित कराता है।

एतद्वै सत्यकाम। (प्र० उ० ५.२)

प्रश्नोपनिषद्में जो सत्यकामका प्रसंग है, वहाँ भी ओंकारका वर्णन है। वहाँ अपर रूपसे परमात्माका वर्णन है। **सच्च त्यच्च**—ईश्वर सत्य भी है और यह कार्य-कारणरूप प्रपंच भी वही है। यह कार्य-कारणरूप ईश्वरका अपर रूप है और जो सबमें व्याप्त रूप है, वह है पर रूप। इसका अर्थ है कि कार्य-कारणरूप प्रपंच तथा उसमें व्याप्त चेतन दोनों एक ही सत्ता है। अब केवल ओंकारकी ही उपासना यदि पर-अपर रूपसे की जाय तो पूर्ण बुद्धिसे जो प्रणवकी प्रतिपत्ति है, उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपासनाके सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न होते हैं। पर-अपर रूपात्मक प्रणवकी उपासना भी एक सम्प्रदाय है। 'तुम्हीं माता, तुम्हीं पिता, तुम्हीं हमारे सर्वस्व !' इस प्रकार सर्वात्मना प्रणवकी शरण-ग्रहण करके भी उपासना होती है।

ओमित्यात्मानं युञ्जीत (मैत्र्यु० ६.३)

जब प्रणवका उच्चारण धर्मके अंग रूपमें, क्रियाके अंगरूपमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता है तब उस धर्म या क्रियाके लिए आवश्यक पवित्रता एवं विधि अपेक्षित होती है। स्थूलशरीरसे प्रणव-सेवन, सूक्ष्म-शरीरसे प्रणव-सेवन, कारण-शरीरसे प्रणव-सेवन और तुरीय रूपसे प्रणव-सेवन—इनमें जितना सूक्ष्म सेवन होगा, उतना सर्वावस्थामें रहेगा और जितना स्थूल सेवन होगा, उतना सर्वावस्थामें प्रविष्ट नहीं होगा।

नाम-बुद्धिसे प्रणवका सेवन और मन्त्र-बुद्धिसे सेवन, यह भी भिन्न-भिन्न बात है। समाधिनिष्ठ पुरुष प्रणवका उच्चारण करता है तब अकारका उकारमें, उकारका मकारमें और मकारका अमात्रमें लय करके स्वरूपमें स्थित हो जाता है। स्थूलदृष्टि अकारका सूक्ष्मदृष्टि उकारमें और उसका कारणरूप मकारमें लय कर; मकारका अमात्रमें लय—अर्थात् अ, उ, म कुछ नहीं, केवल आत्मतत्त्व रह जाता है।

ओमिति ब्रह्म। (तै० उ० १.८.१)

बाध-सामानाधिकरण्यसें ओंकार परमात्माका बोधक है।

सूर्यका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ा और जलसे उस प्रतिबिम्बका आभास पड़ा दीवालपर। अब दीवालपर पड़नेवाले प्रकाशकी खोज करो तो वह जलमेंसे आया है। जलमें वह आकाशस्थित सूर्यसे आया है। इसी प्रकार हमें जो बाहर ज्ञान होता है, वह इन्द्रियोंसे आता है। इन्द्रियोंमें मनसे आता है। इस प्रकार खोज करें तो आत्मचैतन्य ही ज्ञानस्वरूप मिलता है। यह ज्ञान न इन्द्रियोंका है न मनका। इस रीतिसे आभासका बाधकर और कूटस्थकी प्रतपत्ति होती है। इसी प्रकार यह प्रणव ब्रह्म है। प्रणव ब्रह्म कैसे? इसमेंसे शब्दका बाध कर दो। शब्द जिसमें प्रतीत होता है और जिसको प्रतीत होता है, वह क्या है? यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार प्रणव-ब्रह्मको प्रतिपत्तिका उपाय है। ऐसे उपाय सभी शब्द हो सकते हैं; किन्तु शब्दमात्रका अन्तर्भाव ओंकारमें होता है।

उपादायापि ये ह्येया उपायास्ते प्रकीर्तिता: ।—वाक्यपदीय

मनुस्मृतिमें कहा गया है कि भूत, भविष्य, वर्तमान सब वेदोंसे ही प्रसिद्ध होता है। वेदके शब्दोंसे ही संसारके सब शब्द बने हैं। अत: वेदमें समस्त शब्दोंका अन्तर्भाव है और वेदका अन्तर्भाव है गायत्रीमें। वेदमाता गायत्रीका अन्तर्भाव प्रणवमें होता है। अत: ॐका अर्थ है समस्त विश्वकी सम्पूर्ण शब्दसृष्टि। केवल मनुष्योंके ही शब्द नहीं, प्राणिमात्रके शब्दोंकी समष्टि। अतएव शब्दमात्रके बाधसे बाध-सामानाधिकरण्यका तात्पर्य है। बात केवल शब्दकी ही नहीं लेनी है। वह तो केवल उपलक्षण है। श्रोत्रमें सुननेकी शक्ति कहाँसे आयी? नेत्रमें देखनेकी शक्ति कहाँसे आयी? इस प्रकार पृथक्-पृथक् जो शक्तियाँ भास रही हैं, उनका बाध कर देनेपर एक अखण्ड चैतन्य शेष रह जाता है, इसीको लक्षित करानेमें यहाँ तात्पर्य है।

ओंकार एवेदं सर्वम्। (छा० उ० २.२३.३)

सम्पूर्ण शब्दसृष्टिका आस्पद ओंकार है और सम्पूर्ण सृष्टिका आस्पद ब्रह्म है। अत: ब्रह्म और ओंकार पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। दोनों एक हैं। अतएव जिसको ओंकारकी प्रतिपत्ति, उपलब्धि या अनुभव हो जायगा, उसको ब्रह्मकी भी प्रतिपत्ति, उपलब्धि और अनुभव हो जायगा।

इत्यादिश्रुतिभ्यः। इस प्रकारकी और भी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि ओंकार ब्रह्मकी प्रतिपत्तिका उपाय है। इस प्रकार इन श्रुतियोंसे सिद्ध हुआ कि ओंकार-निर्णय आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका उपाय है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रस्सीमें सर्पका, सीपमें चाँदीका विकल्प होता है। इस विकल्पका आस्पद है रस्सी या सीप। विकल्पका अर्थ है विविध कल्पना अथवा विपरीत कल्पना। देह, प्राण, मन, बुद्धि, पंचकोष, जाग्रतादि अवस्था, विश्व-तैजस-प्राज्ञ—ये सब विकल्प हैं। इन विकल्पोंका आस्पद है अद्वय आत्मा।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।—योगदर्शन

वस्तु तो कोई हो नहीं; किन्तु नाम ऐसे रख दें कि बहुत-सी वस्तुएँ जान पड़ें, तो उसे विकल्प कहते हैं। जैसे एक सोनेमें पृथक्-पृथक् आभूषणोंके विकल्प होते हैं। इसी प्रकार एक शुद्धात्मामें सब-के-सब विकल्प हैं। जैसे मिठाइयोंके सब नाम एक शर्करामें हैं, जैसे मिठाई और चीनी आदि भिन्न नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा और दृश्य जगत् दो भिन्न वस्तु नहीं हैं। परमात्मासे पृथक् करके जगत्को समझानेका प्रयत्न भ्रान्त प्रयत्न है। जगत् तो ब्रह्म है। इसमें जो भेद-बुद्धि है, वही भ्रान्ति है। वेदान्त इस भ्रान्तिको मिटाता है, संसारको नहीं। भेद भ्रम है, यह बात व्यवहारतः भी सत्य है। एक व्यक्तिने दूसरेको मारा। यह आघात जिसने किया, उसके सिरपर भी उतना ही आयेगा। आज पता न लगे तो दस दिन बाद लगेगा। यह कर्मका सिद्धान्त है। इसका अर्थ है कि पूरा विश्व एक शरीर है। हाथको चोट लगनेपर हृदयको कष्ट होता है।

श्रीमद्भागवतमें राजा भरतकी एक सुन्दर कथा है। वे जो भी कर्म करते, भगवान्को अर्पित कर देते थे। उनके अर्पणकी रीति अद्भुत थी। राजा भरतकी बुद्धि सोचती थी, चिन्तन करती थी कि **इन्द्राय स्वाहा** की आहुतिमें न मैं कर्ता और न इन्द्र भोक्ता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक ही परमात्मा यहाँ यजमानका अन्तर्यामी होकर कर रहा है और देवताका अन्तर्यामी होकर वही भोग रहा है। इसलिए कर्मका कर्ता और फलका भोक्ता दोनों वही परमात्मा है। कर्ता ही भोक्ता होता है। यजमान करे और इन्द्र भोगे, यह असम्भव है।

जन्म-जन्मके कर्मोंका फल कर्मके कर्ताके पास ही आता है। कर्ताको भोक्ता बनना ही पड़ता है। उपनिषदोंमें तो यहाँतक वर्णन है कि यदि जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप बन्धनसे मुक्त हो जाये तो भी उसके कर्म नष्ट नहीं हो जाते। **तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति** इत्यादि। उसके पुत्रों (सम्बन्धी-जनों) को उन कर्मोंका भाग प्राप्त होता है। जो उसकी निन्दा करेंगे, उन्हें उसके पाप और जो प्रशंसा करेंगे, उन्हें उसके पुण्य कर्मोंका फल मिलेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञानी मर जायगा तो उसके श्रद्धालु शिष्योंको उसके पुण्य-कर्मका फल तथा निन्दकोंको पापकर्मका फल प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि कर्म करके हम बच नहीं सकते। कर्मका कर्ता-भोक्ता एक ही रहेगा।

अद्वय-द्वैतरहित, शुद्ध ज्ञानस्वरूप, आत्मा इदम्-अहम्के भेदसे शून्य है। यह आत्मा ही परमार्थ है। यही परम पुरुषार्थ है। यह आत्मा ही देह, प्राण, मन, बुद्धि आदि सम्पूर्ण विकल्पोंका आस्पद है। ओङ्कारसे समस्त वाणी आच्छन्न है :

ओङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा।

यहाँ प्रश्न हुआ कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, सबका आस्पद आत्मा है और सबका आस्पद ओङ्कार भी है तो दो आस्पद हो गये या नहीं? इसके उत्तरमें कहा गया कि दो आस्पद नहीं हुए। ओङ्कार तो आत्माका स्वरूप ही है, क्योंकि वह तो आत्माका ही नाम है। जैसे घट, कलश, कुम्भ आदि एक ही वस्तुके कई नाम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। कोई यह न जानता हो कि ये पर्यायवाची शब्द हैं तो उसे घट और कुम्भमें दो वस्तु होनेका भ्रम हो सकता है। लेकिन नामके भेदसे उतनी भ्रान्ति नहीं होती। हार और कुण्डल दोनों सोनेके हैं, किन्तु उनमें रूपका भेद है। इसलिए बच्चेका यह भ्रम कठिनाईसे मिटेगा कि दोनों एक वस्तु हैं, किन्तु घोड़ा और अश्व वह दो समझता हो तो सरलतासे उसका भ्रम दूर किया जा सकता है। इसीसे भक्तिशास्त्रने भी रूप-ध्यानकी अपेक्षा नामको श्रेष्ठ साधन माना है।

शब्दमात्र अपने वाच्यके विषयमें उतना असन्दिग्ध नहीं होता, जितना वक्ताके विषयमें असन्दिग्ध होता है। हम जो शब्द बोलते हैं, वह निरर्थक या उलटे अर्थमें बोला जा सकता है; पर उसका बोलनेवाला तो है ही। कहनेवाला न हो तो शब्द आये कहाँसे ? शब्दका लय भी वक्तामें होगा। अतः शब्द वाच्यका स्वरूप नहीं, वक्ताका स्वरूप हुआ, क्योंकि वक्तामें ही उसका उदय एवं विलय है। वक्ताका स्वरूप शब्द आत्मामें ही अध्वस्त हुआ है। अतः **स चाऽऽत्मस्वरूपमेव**—'वह आत्माका स्वरूप ही है' यह कथन सर्वथा उपर्युक्त है। दूसरे शब्द दूसरी वस्तुओंके वाचक होते हैं, अतः उनके उच्चारणोंसे वृत्तिमें उनके वाच्यका उदय होता है, किन्तु ओङ्कारके विषयमें तो यह बात नहीं है।

तदभिधायकत्वात्।—ओङ्कार तो आत्माका ही अभिधायक, वर्णन करनेवाला है। अतः वह आत्मासे अभिन्न है। जहाँ वाक्यका वाच्यार्थ वक्ता ही हो, वहाँ वाक्य निर्भ्रान्तरूपसे वक्ताको ही सिद्ध करता है।

क्या केवल ओङ्कार ही आत्माका स्वरूप है ? शब्द तो दूसरे और भी बहुत-से हैं। सभी शब्द वक्ताके स्वरूप हैं ? इसके उत्तरमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहा कि समस्त शब्द ओङ्कारके विकारमात्र हैं। मूल शब्द ओङ्कार ही है। जितने भी व्यंजन हैं, सब अकार-संयुक्त हैं। 'अ' के बिना 'क्' 'च्' 'ट्' आदिका उच्चारण नहीं हो सकता और जितने स्वर हैं इ, उ, ए आदि, वे 'अ' के ही रूप हैं। 'अ' के ही उच्चारणके प्रयत्न-भेदसे अनेक रूप होकर सब स्वर बन जाते हैं। कंठ-प्रधान उच्चारणसे वही स्यर 'अ' है और तालु-प्रधान उच्चारणमें वही स्वर 'इ' हो जाता है। इस प्रकार कण्ठ, तालु आदिके भेदसे एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रूपोंमें उच्चरित होता है।

जैसे समस्त शब्द ओङ्कारके विकार हैं, वैसे ही प्राणादि-विकल्प भी ओङ्कारके विकारभूत शब्दोंसे ही वर्णित हैं। नामके अतिरिक्त यह सब कुछ भी नहीं है। इसके लिए श्रुति देते हैं।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(बृ० उ० ६. १. ४)

समस्त शब्द कल्पनामात्र हैं। ओङ्कारके विकार हैं। अतः ओङ्कार-से भिन्न नहीं हैं।

विकार किसे कहते हैं? नाममात्र विकार है। कोई वस्तु नहीं हैं। घड़ा, सकोरा आदि नाममात्र हैं। इन सबमें वस्तु तो मिट्टी ही है। घड़ेकी जो आकृति है, वह इन्द्रियोंसे प्रतीत हो रही है। घड़े-का व्यवहारमें उपयोग भी सकोरेसे भिन्नहै; किन्तु घड़ा, सकोरा आदि विकार हैं—केवल मिट्टीके नाम?

आजकलके लोग भी मानते हैं कि वस्तु वह है जिसमें कुछ भार हो। जिसमें भार नहीं है, वह वस्तु नहीं है। घड़ेमें जो भार है, वह घड़ेका है या मिट्टीका? मिट्टीको छोड़कर घड़ेमें कुछ भार है? इसका अर्थ है कि घड़ा पदार्थ नहीं है, पदार्थ मिट्टी है। घड़ा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो ऐन्द्रियक-प्रतीतिजन्य आकृति तथा व्यवहार-निर्वाहके लिए रखा एक नाममात्र है। इसी प्रकार संसारमें जितने आकार दीखते हैं, वे नाममात्र हैं। वे घट हैं। अर्थात् बनाये हुए—घटित हैं। ये केवल आकृतियाँ हैं और ये आकृतियाँ जिसमें बनी हैं, वह सत्य वस्तु है। अब अलग-अलग आकृतियोंके उपादान एक या अलग-अलग हैं? विशेषता तो आकृतिमें होती है—घड़ा अलग, सकोरा अलग। मनुष्य पशु, वृक्षादिकी पृथक्ता, विशेषता आकृतिके कारण ही है। यह विशेषता नहीं रही तो निर्विशेष वस्तु, उपादानमें तो भेद है ही नहीं। इसीलिए कहा: **विकारो नामधेयम्**—विकार नाम-मात्र है।

वेदवाणी एक लम्बी ताँतकी रस्सी है और उसमें भिन्न-भिन्न नाम छोटी-छोटी रस्सियोंके समान हैं। दामका अर्थ है रस्सी। जैसे 'मनुष्य' यह शब्द एक लम्बी रस्सी है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि छोटी-छोटी रस्सियाँ हैं। इन रस्सियोंमें सब बँधे हैं। मनुष्यके साथ मनुष्यके कर्तव्यका बन्धन और ब्राह्मणादिके साथ उनके कर्तव्योंका बन्धन लगा है। ब्राह्मण यह नाममात्र तो है, किन्तु ब्राह्मणत्वके साथ सन्ध्यावन्दन, वेद पढ़ने आदिके बन्धन भी हैं। अपने कर्तव्यका पालन न करें तो अपराध होता है। अब जिन्होंने ब्राह्मणत्वका अभिमान छोड़ दिया, वे ब्राह्मणके कर्तव्य, बन्धनसे छूट गये। ब्राह्मण नहीं रहे, संन्यासी हो गये। अब संन्यास-आश्रमके कर्तव्यका बन्धन हो गया। लेकिन इन सब अभिमानोंको छोड़कर जब अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूपमें स्थित हो गये तो कोई बन्धन नहीं रहा।

यह सब केवल नाम है। समस्त व्यवहार नामसे चल रहा है। वही पृथ्वी, वही आकाश, वे ही नदियाँ; किन्तु कुछ वर्ष पूर्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक देश था, पर अब वीचमें नामकी एक दीवार खड़ी हो गयी—यह हिन्दुस्तान और यह पाकिस्तान ! शत्रुता-मित्रता आदि सब क्या हैं ? केवल नाम ही हैं।

इत्यादिश्रुतिभ्यः। इन सब तथा और भी अनेक श्रुतियोंसे जो वात सुनिश्चित होती है, वह यही है कि ब्रह्म तथा ओंकार एक ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहला मन्त्र

अत आह—

ओमित्येतदक्षरमिद्ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकाद् ओङ्कार एवेदं सर्वम्। परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योङ्कार एव। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्य अक्षरस्य ओमित्येतस्योपव्याख्यानम्।

ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वादब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः।

भूतं भवदभविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योङ्कार एव, उक्तन्यायतः। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ ब्रह्म

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ-समूह है, वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अभिन्न होनेके कारण यह सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय रूप (वाच्य-वाचक रूप) उपायके द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए वह भी ओंकार ही है।

अकारादि - हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वमात्मानं समुपास्महे॥

'अ' से लेकर 'ह' तक वर्णमाला है। जितने शब्द बनेंगे वे 'अ' से 'ह' पर्यन्त वर्णमालाके अक्षरोंसे ही बनेंगे। उन सब शब्दोंका संक्षिप्त नाम हुआ 'अ-ह' अर्थात् 'अ' से 'ह' तक। इसीको 'अहं' कहते हैं। हम जिस किसी शब्दका उच्चारण करते हैं और उसके द्वारा जिस किसी पदार्थकी ओर संकेत करते हैं, अपना ही नाम लेते और अपनी ही ओर संकेत करते हैं। 'अहं' शब्द संस्कृत भाषाका अद्भुत शब्द है। ब्रह्मज्ञानके लिए यह एक शब्द पर्याप्त है। **न हन्यते इति अहम्**—अर्थात् अविनाशी। **न जहाति**—यह सबमें अनुस्यूत होनेके कारण किसीका परित्याग नहीं करता और इसको कभी छोड़ा भी नहीं जा सकता : **न हीयते**। जैसे पृथ्वी-बीज है 'लं', जल-बीज है 'वं', अग्नि-बीज है 'रं', वायु-बीज है 'यं', इसी प्रकार आकाश बीज है 'हं'। अर्थात् आकाश बीज 'हं' से आकाशसे व्यतिरिक्त 'अहं' हुआ।

इस प्रकार वस्तुसे अपरिच्छिन्न, देशसे अपरिच्छिन्न, कालसे अपरिच्छिन्न स्वरूपभूत प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ही नाम 'ॐ' है। श्रुति कहती है : **अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च**। अर्थात् प्रकाशमान दिन एवं काली अहंकारमय रात्रि दोनों ही 'अहः' पदार्थ हैं। जिसमें रात और दिन दोनों कल्पित हैं, वही अद्वितीय ब्रह्म 'अहः' पदवाच्य है। उसीको लौकिक भाषामें 'अहं' कहते हैं। इसमें बाध्य-बाधकभाव बिल्कुल नहीं है—**न हन्ति, न हन्यते**। बाध्य बाधक-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाव साधन है, सिद्ध नहीं। इसी अबाध्यभावका सूचक 'अहं'-शब्द है।

इस प्रकार अहं अविनाशी और अविनाशक है, सर्वस्वरूप और सर्वातीत है। स्वयंप्रकाश एवं प्रकाश्य है। अहंका अर्थ है प्रत्यगात्मा और सर्वातीत प्रत्यगात्मा प्रिय है। इस रीतिसे अहंके अर्थपर विचार करें तो ब्रह्मके अतिरिक्त उसका कोई अर्थ हो ही नहीं सकता।

ज्ञान भगवान् विष्णुके समान है और उसका वाहन गरुड़ है शब्द। आप बोलें या सोचें, विचार भी शब्दोंमें ही आयेगा। हमारे हृदयमें जो भाव आते हैं, उनका भी यह कारणरूप शब्द वहाँ स्थित है, जिसे व्याकरणशास्त्र 'स्फोट' कहता है। शब्द ही प्रपंचके रूपमें विवर्तित हो रहा है :

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

× × ×

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रवृत्तिर्जगतो यतः॥—वाक्यपदीय

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्,
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।

जहाँ भी कार्य होता है, वहाँ स्पन्दन होता है। जहाँ स्पन्दन, कम्प होगा वहाँ शब्द होगा। अतः संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें शब्द अनुगत न हो। कोई ऐसी वस्तु नहीं जो बिना शब्दके हो। नाम जितने होंगे, शब्द जितने होंगे, ओंकारसे बने होंगे। क्योंकि अकाररहित कोई शब्द हो नहीं सकता। अतः **ओंकार एवेदं सर्वम्** जो कुछ 'इदम्' रूपमें प्रतीत हो रहा है, सब ओंकार ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इदम् सर्वम् तो ओंकार हो गया, किन्तु परमात्मा ? वह ओंकारसे पृथक् है या नहीं ? इसका उत्तर देते हैं :

शब्दके विना तो ब्रह्म परमात्माका भी ज्ञान सम्भव नहीं है। शब्द-उच्चारणपूर्वक ही ब्रह्मज्ञान कराया जा सकता है। महा-वाक्यादि कुछ-न-कुछ तो बोलना पड़ेगा ही। जब भी बोलेंगे तो वह शब्द होगा और वह शब्द हुआ अभिधान, नाम। नामके विना ब्रह्मज्ञान कैसे होगा ? नाममात्र ओंकार है, अतः परमात्मा, ब्रह्म भी ओङ्कारसे बोधित होता है। स्पन्द-कारिकामें कहा है कि सर्वदेश तथा सर्वकालमें भोक्ता ही भोगके रूपमें उपस्थित है। जो खानेवाला है, वही खाया जाता है। मिट्टी ही खाती है और मिट्टी ही खायी जाती है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मकी समस्त चेष्टाएँ हैं और ये प्रतीतियाँ ब्रह्मसे ही हो रही हैं। इस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए नाम और नामी, अभिधान-अभिधेयका व्यवहार करना पड़ता है। इसलिए यह भी ओङ्कार ही है।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।
तेन शब्दार्थचिन्तासु न स शब्दो न यः शिवः॥

यह पर और अपर, परोक्ष और अपरोक्षरूप ओङ्कार ही है। यही कारण-ब्रह्म है और यही कार्य-ब्रह्म। यही जगत् है, यही जगत्का कारण है और यही अक्षर है। अस्मितासे लेकर इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले जितने व्यवहार हैं, सबके मूलमें यही अक्षर है। न क्षरति यानी अविनाशी, अतः अक्षर। अक्षर शब्दका अर्थ ही है सबके प्रलयका अधिष्ठान। **अश्नुते-व्याप्नोति—**सबमें व्याप्त। कारणरूपसे स्थित, प्रलयमें सबको अपनेमें लीन करके विद्यमान, स्वयं अविनाशी, समस्त इन्द्रियोंको योग्यता-शक्ति प्रदान करनेवाला यह अक्षर है। ऐसे इस ॐका अब उपव्याख्यान करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मप्रतिपत्ति या ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय होनेके कारण ओङ्कारका उपव्याख्यान किया जा रहा है। ब्रह्मका अर्थ है, अनन्त। अनन्ताकाशमें जैसे अणु उत्पन्न होते और लीन होते रहते हैं, वे अणु जैसे उस अनन्त आकाशको एक नहीं देख पाते, वैसे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस अनन्तमें उदय-अस्त हो रहे हैं, उसपर दृष्टि न जानेके कारण इन ब्रह्माण्डोंके उदय-विलयमें राग-द्वेष हो जाता है। यदि अनन्त शक्ति, अनन्त सत्य, अनन्त ज्ञानकी अनुभूति हो जाय तो वह दूसरा नहीं, अपना स्वरूप ही है। वही ब्रह्म है। ब्रह्मप्रतिपत्तिका अर्थ यह है कि खण्डपरसे दृष्टि हटाकर ब्रह्मका आत्मरूपसे बोध स्वरूप प्राप्ति कराना। इसका उपाय ॐ है। यह प्रणव ब्रह्मके समीप है। इसका उपव्याख्यान (उप=समीप, वि=विशिष्ट, आ=प्रकृष्ट, ख्यान=कथन या वर्णन) अर्थात् समीपसे, विशिष्ट एवं प्रकृष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

पहले वर्णित कारणोंसे यह बात सिद्ध हुई कि भूत, वर्तमान, भविष्य जो कुछ काल-परिच्छेद्य है, वह सब ओङ्कार है।

जैसे भगवान् नारायणकी मूर्तिको श्रीनारायण मान लेना एक बात है और साक्षात् श्रीनारायणका दर्शन दूसरी बात है वैसे ही समस्त जगत् ओङ्काररूप है, यह विश्वास कर लेना एक बात है और इसे ठीक-ठीक समझ लेना दूसरी बात। एक शब्द है पुष्प। इसमें पुष्प-शब्द मुखमें है, पुष्प पदार्थ बाहर है और पुष्पका ज्ञान हृदयमें है। समाधिमें पुष्प शब्द, पुष्प पदार्थ तथा पुष्प ज्ञान एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा शब्द, अर्थ एवं ज्ञान—तीनों पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते। इसका अर्थ हुआ कि विक्षेपमें भेदज्ञान है और स्थिरता-समाधिमें भेदज्ञान नहीं। विक्षेप सहजस्थिति नहीं है। विक्षिप्त चित्तका ज्ञान सत्य नहीं हो सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काल-परिच्छिन्न वस्तु तो पहले नहीं थी, अब है, आगे नहीं रहेगी, उसीमें भेद होता है। प्रागभाव प्रध्वंसाभाव—यह काल-परिच्छेद है। अत्यन्ताभाव देशपरिच्छेद है। अन्योन्याभाव वस्तु-परिच्छेद है। घट अपने अभावका प्रतियोगी है; किन्तु ब्रह्म किसीका प्रतियोगी नहीं है और न कोई ब्रह्मका ही प्रतियोगी है। जैसे रज्जुमें प्रतीत सर्प। वहाँ रज्जु न अनुयोगी है, न प्रतियोगी, सर्प तो केवल अध्यस्त है, वैसे ही ब्रह्ममें प्रपंच अध्यस्त है।

बौद्धोंके शून्य तथा ब्रह्ममें अन्तर है। शून्य तो एक अवस्था है। प्रपंचकी स्थिति शून्यकी प्रतियोगी है। इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्ति मानना हम ठीक नहीं मानते। हमारी परिभाषा-के अनुसार अभाव या भाव कोई ब्रह्मका प्रतियोगी नहीं है। ब्रह्म किसीका अभाव नहीं तथा कोई भाव इसका प्रतियोगी नहीं।

बिना विषयके कालकी प्रतीति नहीं हो सकती। जब कोई वस्तु होगी, तब उसके वर्तमानकी कल्पनासे उसके भूतकाल तथा भविष्यकी बात उठेगी। वस्तुमें जो क्रमकी संवित् है, उसीका नाम काल है। वस्तुमें स्थानकी संवित्का नाम देश है। द्रव्यके परि-णाम, परिवर्तनको कालका सूचक और द्रव्यके परिमाण, उसके दैर्घ्य-विस्तारको देशका सूचक तथा स्वयं परिणम्यमान द्रव्यको विषय समझो। ये तीनों कभी पृथक् नहीं रहते। जहाँ विषय-पदार्थ होगा, वहाँ उसका समय भी होगा और स्थान (देश) भी होगा। देश, काल, वस्तु ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं। लेकिन ये तीनों एक ही प्रकाशमें, एक ही अधिष्ठानमें दीख रहे हैं। अतः यह सब देश, काल, वस्तु ओङ्कार ही है।

जब हम ॐ का उच्चारण करते हैं, तब 'उ' में स्थित होनेपर 'अ' भूतकाल, 'म' भविष्य तथा 'उ' वर्तमान हो गया। इस प्रकार ॐ की तीनों मात्राएँ तीनों कालोंकी सूचक हो गयीं। समस्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काल ओंकाररूप हो गया। जिस देशमें प्रणवका उच्चारण हो रहा है, वह देश भी प्रणवरूप है और जिस मनमें वह भासित हो रहा है, वह मन भी ओंकाररूप है।

लेकिन काल सर्वत्र तो है नहीं। स्वप्नमें दूसरा ही काल कल्पित हो जाता है। सुषुप्ति तथा समाधिमें कालकी कल्पना ही नही है। कितनी देर सोये, इसका कुछ पता नहीं चलता। जहाँ प्रकृति है, वहाँ बुद्धि भी नहीं है। प्रकृतिसे बुद्धिरूप कार्य उत्पन्न होता है। बुद्धिके कारणकी कल्पना भी बुद्धिसे ही होती है। महान्, महत्तत्त्वसे संवत्सरकी उत्पत्ति हुई। महान्के पूर्व संवत्सर नहीं था। सप्ताह, मास, वर्ष, दिन आदिका यह क्रम बुद्धि ही बनायेगी। अतः बुद्धिके परे भी काल नहीं था। बुद्धिने ही कालकी परिच्छिन्नताकी कल्पना की। अतः बुद्धिका काल और बुद्धिके कारणमें स्थित कालकी कल्पना करनी पड़ती है। तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणकी उपाधिसे कालकी कल्पना होती है; किन्तु आत्मामें काल नहीं है। यह आत्मा भी ओङ्कार है। तब जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब ओङ्कार हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

कार्य-कारणवादपर जब कभी विचार करना हो तो उनका विभाग किया जा सकता है। शून्यवादी निरुपादानवादी हैं; क्योंकि वे कहते हैं कि जगत्का कोई उपादान नहीं है। वे असत्से सत्, अभावसे भावकी उत्पत्ति मानते हैं। इनके बाद उपादान-वादी हैं, जिनके दो भेद हैं—एक बहिरङ्ग उपादानवादी और दूसरे अन्तरंग उपादानवादी। बौद्धमतके विज्ञानवादी हैं, वेदान्तके दृष्टिसृष्टिवादी, योग और सांख्य—ये सब अन्तरंग उपादानवादी हैं।

योग और सांख्य अव्याकृतवादी हैं। बुद्धिसे अन्तरंग प्रकृति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और प्रकृतिसे अन्तरंग पुरुष हैं। इस प्रकार सांख्यके अनुसार बुद्धि और पुरुषकी सन्धिमें जो वस्तु है, वह अव्याकृत है। वेदान्तमें साभास अज्ञानको ही अव्याकृत कहते हैं। प्रकृति नामकी कोई नितान्त जड़वस्तु वेदान्तमें स्वीकार्य नहीं है। परमात्माके आभाससे युक्त अज्ञानको ही अव्याकृत कहते हैं। मायामें जो ब्रह्मका आभास है, उसका नाम ईश्वर और अविद्यामें जो आभास है, उसका नाम जीव है। जब माया और अविद्या पृथक्-पृथक् न कहना हुआ तो उसे 'प्रकृति' कह दिया। इस प्रकार ईश्वर-कारण-वाद तथा अव्याकृत-कारणवाद दोनों अन्तरंग कारणवाद हुए। जैनों एवं पूर्वमीमांसकोंका कर्म-प्रकृति-कारणवाद भी अन्तरंग कारणवाद हैं। चार्वाकके चार भूत तथा वैशेषिकोंके परमाणु भी बहिरंग कारण हैं। अन्तरंग कारणवादीके भी दो भेद हैं: १. चैतन्य-कारणवाद, २. जड़-कारणवाद। ईश्वर, प्रकृति तथा कर्मको सृष्टिका कारण माननेवाले तीनों ही अन्तरंग-कारणवादी हैं; क्योंकि कर्म भी कर्ताके भीतर संस्काररूपमें रहेगा *।

* वेदान्तोंमें चैतन्यकारणवादकी ही प्रधानता है। जड़कारणवादका स्पष्टतः निषेध किया गया है। इसका अभिप्राय जड़के कारणत्वके निषेधमें ही है, चैतन्यके कारणत्वके विधानमें नहीं। चैतन्यमें कारणता आरोपित करनेका प्रयोजन यह है कि मूलतत्त्वका अद्वितीयत्व सिद्ध हो। जड़कारणवादसे वस्तुकी अद्वितीयता सिद्ध नहीं हो सकती। उसका साक्षी-चैतन्य पृथक् ही बना रहेगा। चैतन्यका कारण माननेपर कार्य-कारणकी वास्तविकता भी स्वयं भग्न हो जाती है। क्योंकि चैतन्य परिणामी नहीं हो सकता। जिन लोगोंने जगत्‌के उपादान कारणको तो चैतन्य माना, परन्तु उसको परिणामी माना, उनका मत स्वयंमें ही असंगत है। चैतन्य कारणवादके निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

१ जगत्‌का कारण जड़ नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन सब दर्शनोंकी प्रक्रियाओंमें भी बड़ा भेद है और इस भेदका प्रभाव इनके आधारपर चलनेवाली साधनाओंपर पड़ता है। जैसे परमाणुवादमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही परमाणुजन्य हैं। आकाश तो परमाणुरूप है नहीं। सांख्य-मतमें प्रकृतिसे महान्, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे पंचतन्मात्राओं-की उत्पत्ति मानी जाती है। पंचतन्मात्राके सात्त्विक अंशसे मन आदि अन्तःकरण उत्पन्न हो गये और पंचतन्मात्रा शब्द, स्पर्शादि स्वरूप है, अतः मनकी उत्पत्तिके पूर्व ही शब्दादि उत्पन्न हो गये। किन्तु वेदान्तमें पहले मनकी उत्पत्ति, मनसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे पंचभूतोंके गुण शब्दादिकी उत्पत्ति मानते हैं। न्यायके मतमें आकाशादि पंचमहाभूतोंके गुण हैं शब्दादि; किन्तु सांख्यके मतमें पंचमहाभूतोंका कारण शब्दादि-तन्मात्राएँ हैं। वेदान्तमें शब्दादि ऐन्द्रियक हैं, अर्थात् कान हैं, इसलिए शब्द सुनायी पड़ता है। इस प्रक्रिया-भेदका प्रभाव साधनपर बहुत पड़ता है। नैयायिक लोग ईश्वरकी प्रार्थनासे सन्तुष्ट हैं। योगी चित्तवृत्तिका निरोध करके सबको मिटाना चाहते हैं। सांख्यवादी सबसे असंग होनेका उपदेश करते हैं और वेदान्ती द्वैतका केवल बाध करना चाहते हैं।

---

२. जगत्का कारण चैतन्य अद्वितीय है।

३. चैतन्य अपरिणामी है।

४. चैतन्य केवल प्रत्यगात्मा ही है। यदि अपनेसे भिन्न कोई दूसरा चैतन्य होगा तो वह अनुभवका विषय होनेपर दृश्य अथवा जड़ हो जायगा। यदि अनुभवका विषय न मानें तो नितान्त अज्ञात एवं कल्पित हो जायगा। इसलिए स्वयं प्रकाश सर्वावभासक प्रत्यगात्मा ही एकमात्र चैतन्य है। इसका परिणाम होना अनुभव-विरुद्ध है। इसलिए यह विवर्ती कारण है, परिणामी नहीं। फलितार्थ यह है कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकृति तो किसीने देखी नहीं। केवल कार्यको देखकर उसके कारणकी कल्पना होती है। तीनों गुण भी दीखते नहीं। जीव भी दिखायी नहीं देता।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यदेतद् दृश्यते किञ्चित् तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

गुणोंका परम रूप दृश्य नहीं होता। यह सूक्ष्मकी बात हुई; किन्तु स्थूलमें कभी मिट्टी देखी है? मिट्टीका अर्थ है पृथ्वी, जो गन्धका आश्रय द्रव्य है, नेत्रोंसे दीख नहीं सकता। नेत्रसे तो पृथ्वीका रूप दीख रहा है। यह रूप अग्निसे आया है। मिट्टीका जो स्पर्श होता है, वह वायुसे मिलता है। मिट्टीमें जो स्वाद है, वह जलका है। केवल गन्ध पृथ्वीकी है। इसी प्रकार जलादि सभी तत्त्वोंकी दशा है। वस्तुतः तत्त्व तो एक ही है। इन्द्रियोंके भेदसे उसमें रूप-रसादिकी भिन्न-भिन्न अनुभूति होती है।

सर्वमैन्द्रियकं मृषा। इसलिए कहा जाता है कि इन्द्रियोंसे जो यह प्रपञ्च दीख रहा है, वह सारा मिथ्या है। वास्तविक सत्ता एक-अद्वैत चित्-सत्ताकी ही है। प्रकृति आदि जितने सारे तत्त्व हैं, जो कालसे नहीं कटते, अपने कार्यसे ही ज्ञात होते हैं। वे अव्याकृत, महत्तत्वादि सब ओङ्कारस्वरूप हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब एक ही सत्तामें अभिधान और अभिधेय—नाम और रूप दोनों कल्पित हैं, तो कहना चाहिए कि दोनों एकरूप हैं। सबको ओङ्कार क्यों कह रहे हो? इसका उत्तर देते हैं कि जिसका नाम है और जो नाम है, दोनों एक ही हैं, तथापि अभिधानकी प्रधानतासे यहाँ वर्णन कर रहे हैं :

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽपि अभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमि'त्याद्यभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुन-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

र्भिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः। इतरथा ह्यभिधानतन्त्राऽभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति। तथा च वक्ष्यति—'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' (मा० उ० ८) इति तदाह।

एकबार नामकी प्रधानतासे कह दिया कि सब ओङ्कार है और फिर जिसका नाम है, उस अभिधेयकी प्रधानतासे कहा कि सब एक हैं, तो इससे अभिधान और अभिधेय दोनों एक ही हैं—यह बात सिद्ध हो जायगी। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है :

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।

'मैं ब्रह्म हूँ', 'ब्रह्म मैं हूँ' यदि इस प्रकार दोनों प्रकारसे नहीं कहेंगे तो यह भ्रम हो सकता है कि एक साधन है, गौण है और दूसरा साध्य, मुख्य है। दोनों ओरसे दुहराकर न कहनेमें अभिधान (नाम) के द्वारा अभिधेय (पदार्थ) की प्राप्ति होती है, इसलिए अभिधेयको अभिधान कहना अर्थात् वस्तुके केवल नामको वस्तु कहना गौण हो जायगा। अतः जो नाम है, वह वस्तु और जो वस्तु है वही नाम—इस प्रकार कहा गया। इस एकत्व प्रतिपत्ति का प्रयोजन यह है कि इसी एकत्वके ज्ञानसे अभिधान और अभिधेयका प्रविलापन हो जायगा और उनसे विलक्षण ब्रह्मका यथार्थ बोध होगा।

यहाँ थोड़ा विचार करना है। रज्जुमें जो सर्पका भ्रम है, यह रस्सीको तो है नहीं। भ्रान्ति देखनेवालेको है। देखनेवालेके अन्तःकरणमें सर्पका भ्रम है, अतः उसके अन्तःकरणसे इस भ्रमको मिटाना हमारे प्रयत्नका फल है, रस्सीसे साँपको मिटाना हमारे प्रयत्नका फल नहीं है। ज्ञानका यह फल नहीं कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रस्सीमें सर्प नहीं था। उसका परिणाम यही है कि हृदयमें सर्पका भ्रम न रह जाय। इसी प्रकार ज्ञानका परिणाम यह नहीं है कि ब्रह्ममें संसार न दीखे। ज्ञानका फल यही है कि संसारमें हमें वास्तविकताकी भ्रान्ति न हो। यह आत्मरूप ही है, ऐसा प्रतीत हो।

रस्सीमें सर्पकी भ्रान्तिका अधिष्ठान रज्जु या रज्जुसे उपहित चैतन्य नहीं है। इस भ्रान्तिका अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित चैतन्य ही है। अपनेमें यह भ्रान्ति न रहे तो रस्सी सर्पकी भाँति भले ही दीखती रहे, हमारी कोई हानि नहीं। अब रस्सीका अधिष्ठान रस्सी-उपहित चेतन और रस्सीमें सर्प-भ्रान्तिका अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित चेतन, दोनोंको मिलाकर देखें तो चेतन चेतनमें भेद है ही नहीं। रस्सीसे उपहित चेतन तत्-पदार्थ और सर्पकी भ्रान्तिका अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित चेतन 'त्वं'-पदार्थ है। क्योंकि रस्सीमें सर्प मिथ्या है, अतः सर्पकी भ्रान्ति भी मिथ्या है। मिथ्या मिथ्याका अधिष्ठान एक है। यह अहं ब्रह्मास्मि महा-वाक्यका अर्थ हो गया। इस प्रकार एक ही प्रयत्नसे अभिधान और अभिधेयका प्रविलापन कर देनेसे इन दोनोंसे विलक्षण ब्रह्मकी प्रतिपत्ति हो जाती है। इसलिए कहते हैं :

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये जो चार पाद हैं वे प्रणवके अकार, उकार, मकार तथा अमात्ररूप हैं और मात्राएँ पादरूप हैं।

यही बात अब मूल उपनिषद्में कही जा रही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दूसरा मन्त्र

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा ॥ २ ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मेति । सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद् ब्रह्म । तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—'अयमात्मा ब्रह्मेति । अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाऽभिनयेन निर्दिशति—अयमात्मेति । सोऽयमात्मा ओङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात् कार्षापणवन्न गौरिवेति । त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः । तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥२॥

ओङ्कारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता

यह जो कार्य और कारणरूपमें भासमान है, सबका सब ब्रह्म ही है।

वेदान्तकी दृष्टिसे विचार करें तो उसका तात्पर्य कार्य-कारणके विचारमें नहीं है। वेदान्तविचारका मुख्य तात्पर्य द्रष्टा-दृश्यके विचार द्वारा प्रत्यक्चैतन्यकी ब्रह्मतामें है। यदि कार्य-कारणका ही विचार करते रहेंगे तो केवल विषयका विवेक होगा, विषयीका नहीं। विषयीसे तात्पर्य है वह, जिसमें कार्य और कारण दोनों भासमान हैं। जैसे स्वप्नमें पिता-पुत्र प्रतीत होते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि पिता कारण है और उससे कार्य-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु स्वप्नमें उनकी आयुमें अन्तर कहाँ है ? सत्य तो यह है कि न पिता है, न पुत्र। पिता-पुत्रका सम्बन्ध ही भ्रम है। यह तो स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टिमात्र है। इसी प्रकार प्रपञ्चमें जो कार्य-कारणभाव प्रतीत हो रहा है, वह द्रष्टाकी दृष्टिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब संसारके कार्य-कारण भावको, जो सुनिश्चित जान पड़ता है, देखो। यह शरीर कार्यरूप है और इसका कारण है कर्म, किन्तु कर्मसे पहले शरीर न होता तो वह कर्म होता ही कैसे ? इस प्रकार न कर्म कारण सिद्ध होगा और न शरीर कार्य। यदि इनको अनादि कहें तो अनादित्व यह निश्चय कैसे किया गया ? यदि अनादि होनेका किसीने अनुभव किया तो वह अनादि नहीं रहा, और विना अनुभवके निश्चय किया गया तो कल्पना हुई। 'विना अनुभव, बिना देखे मानते हैंका अर्थ हुआ— अज्ञानसे मानते हैं। कर्म और शरीरमें एक अनादि है या दोनों ? दोनों अनादि हैं तो उनमें कार्य-कारणभावका ज्ञान कैसे हुआ ? दोनोंमेंसे एकको अनादि कहते भी नहीं बनेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जगत्का मूल अपना जो शुद्ध एवं अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप है, उसके अज्ञानसे ही हम कार्य-कारणकी अनादि-परम्परा स्वीकार किये हुए हैं। किसी-न-किसी कक्षामें अज्ञानको स्वीकार किये बिना अनादित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि कार्य-कारणभाव आरोपित है। यथार्थ तो ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। समस्त नाम-रूपात्मक प्रपंच ब्रह्ममें ही कल्पित है। इसका आश्रय ब्रह्म है। अज्ञानका आश्रय भी ब्रह्म ही है और उसका विषय भी ब्रह्म। इसलिए यह सब ब्रह्म ही है।

सृष्टिका मूलतत्त्व एक है, भेद तो केवल आकृतियोंमें है। जैसे एक स्वर्णखण्डसे एक पक्षीकी मूर्ति वना दी और एक मनुष्यकी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण एक है, पर मूर्तिकी आकृतियोंमें भेद है। यह भेद निर्माताके अन्तःकरणके संस्कारसे आया है। इसी प्रकार तोता, कबूतर, मयूरादि पक्षियोंके अंडोंमें जो जल है, वह एक-सा रहता है, किन्तु उसमें भिन्न-भिन्न संस्कार होनेसे उससे भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी अंडेमें जो जल है, उसे 'नार' कहते हैं। उस नार (जल) में जो चेतन पहलेसे प्रविष्ट है, उसे 'नारायण' कहते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके कारण-वारिमें जो चेतनाशक्ति है, उसीका नाम है नारायण। अब जल तथा चेतनाशक्तिको अलग करें तो चेतन ब्रह्म है और जल उसमें आरोपित है।

कहो कि चेतनसे कारणरूप वारि उत्पन्न हुआ, तो कहना होगा—चेतन पानीके रूपमें परिणामको प्राप्त हुआ। किन्तु जो परिणामको प्राप्त होता है, वह तो चेतन नहीं होता। चेतन तो साक्षी रहता है। जिसका परिणाम होगा वह नाशवान् होगा। फिर भी चेतनका परिणाम मानें तो वह चेतन होता है या जड़? यदि चेतनका परिणाम चेतन होता है तो दोनों चेतनोंमें कोई भेद नहीं बनेगा और भेद न बननेसे वह परिणाम भी सिद्ध नहीं होगा। चेतनका परिणाम जड़ मानो तो भी बात नहीं बनेगी; क्योंकि चेतनमें जड़ता है नहीं तो वह आयेगी कहाँसे? अतः चेतनमें जड़का विवर्त हो गया—यही कहना पड़ेगा।

परिणाम सदा सजातीय होता है। सोनेसे गहना बना तो सोना ही रहा। मिट्टीसे घड़ा बना तो मिट्टी ही रही। अतः चेतनका परिणाम कभी अचेतन नहीं होगा। रस्सीमें सर्पकी भाँति चेतनमें प्रपंच दीख रहा है। कार्यरूप और कारणरूपसे भी दीख रहा है। यह कार्य, कारण दोनों विवर्त हैं। विवर्तका अर्थ है अतात्त्विक, अन्यथाभाव। अतः कार्य-कारणरूपमें जो कुछ दीख रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहले कहा गया है कि सब ओङ्कार ही है वही यह ब्रह्म। पहले परोक्ष रूपसे बताया। जैसे : रस्सीमें सर्प दीख रहा है। देखनेवालेको रस्सी नहीं, सर्प दीखता है; किन्तु कहते हैं कि जिसे तुम सर्प देख रहे हो, वह सर्प नहीं, रस्सी है। यह परोक्ष बताना हुआ। अब उसी परोक्षरूपसे वर्णित वस्तुको प्रत्यक्षरूपसे बतला रहे हैं। जैसे बच्चेको सोना लानेको कहें और वह हार, कंगन आदि देखकर भी कहे कि 'सोना तो कहीं है नहीं।' इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी नाम-रूपपर अटक गयी है। हम नाम-रूपसे चलनेवाले व्यवहारको देखते ,हैं सत्य वस्तुको नहीं देख पाते। लेकिन बच्चेको जैसे समझाया जाय कि 'अरे यह हार ही सोना है' तो यह प्रत्यक्ष स्वर्णको समझाना हुआ। ऐसे ही इस नामरूपमें जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसे समझाते हैं : **अयमात्मा ब्रह्म**।

यह अथर्ववेदका महावाक्य है और माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय है, अतएव प्रत्यक्ष रूपसे **अयमात्मा** निर्देश कर रहे हैं। 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा अभिनयपूर्वक हृदयपर हाथ रखकर कह रहे हैं। अभिनय भी एक प्रमाण है।

चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। बौद्ध-दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानता है। वैशेषिक दर्शन और जैन-दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। पूर्वमीमांसकोंके दो भेद हैं। उनमेंसे आचार्य प्रभाकर एक और अर्थापत्तिरूप पाँचवाँ प्रमाण मानते हैं और आचार्य कुमारिल भट्ट छठाँ। अनुपलब्धि नामका एक और प्रमाण मानते हैं : **व्यवहारे भट्टनयः**। वेदान्ती भी छः प्रमाण मानते हैं। ऐतिहासिक लोग ऐतिह्यको एक प्रमाण और मानते हैं, इस प्रकार सात हो गये। पौराणिक 'सम्भव' नामका एक प्रमाण अधिक मानते हैं। सम्भव-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का तात्पर्य है कि यह हुआ या नहीं, यह विचार मत करो; हो सकता है या नहीं, यही विचार करो। सम्भव प्रमाणका अर्थ है कि पुराणोंमें अनेक कल्पोंकी कथाएँ हैं। उनमें अनेक कथाओंमें परस्पर विरोध जान पड़ता है, वहाँ यह विवाद कामका नहीं कि घटना ऐसी हुई या नहीं। घटना इस प्रकार सम्भव है या नहीं, यही देखने की बात है। क्योंकि पुराणका तात्पर्य यह बताना नहीं कि कार्य कैसे हुआ, कार्य कैसे होना चाहिए यह उसे बताना है। जैसे परीक्षित्‌ने शरीर कैसे छोड़ा, यह वर्णन महाभारत और श्रीमद्भागवतमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे है। मृत्यु आसन्न ज्ञात होनेपर, शरीर कैसे छोड़ना चाहिए यही बतानेमें भागवतका मुख्य तात्पर्य है। इस तरह पौराणिकोंके आठ प्रमाण हो गये। नवाँ प्रमाण नाट्यशास्त्र मानता है, अभिनय। अभिनयका अर्थ है, संकेतसे ही वस्तुको बता देना। **अयमात्मामें** 'अयम्' यह अंगुलीसे निर्देश अभिनय है।

महावाक्य

अयमात्मा ब्रह्म यह महावाक्य है। यहाँ यह विचार कर लो कि महावाक्य किसे कहते हैं। भगवान् श्रीशंकराचार्यने जिनको महावाक्य माना है, उनको श्रीरामानुजादि दूसरे सम्प्रदायाचार्योंने महावाक्य नहीं माना है। अतः यह महावाक्य क्यों है, यह बता देना आवश्यक है। कारण, कार्य, माया, अविद्या, समाधि, व्यष्टि आदि उपाधियोंके तथा इनके द्वारा उपहित चैतन्यके प्रतिपादनमें संलग्न तथा उपाधियोंके निरशनमें तात्पर्य रखनेवाले जितने भी पद-समुदाय हैं वे केवल 'वाक्य'के अन्तर्गत हैं। किन्तु उपाधियोंके निरसनके अनन्तर अवशिष्ट जो स्वतःसिद्ध चैतन्य है, उसकी एकता एवं अद्वितीयताका बोध करनेवाले वाक्यको 'महावाक्य' कहते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। जैसे **यदल्पं तन्मर्त्यम्** यह जगत्का प्रतिपादक वाक्य है। **नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।** यह त्वं-पदार्थका प्रतिपादक वाक्य है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यह तत्पदार्थका बोधक वाक्य है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** यह अन्य कारण निषेध-परक वाक्य है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्** यह कार्यसे कारणकी अनन्यताका बोधक वाक्य है। **नान्यत् किञ्चन मिषत** यह परमात्मासे अन्यका निषेध करनेवाला वाक्य है। इसी प्रकार ब्रह्मके सिवा जिस किसी पदार्थका वर्णन करनेवाला वाक्य **नेति नेति** इस वाक्यके केवल 'इति' पदका अर्थ बताता है और अन्ततोगत्वा 'न' पद द्वारा उसका निषेध सम्पन्न हो जाता है। जैसे कहीं भी स्वर्ग और उसके साधन 'योग' का वर्णन आया तो वह केवल **इति** पदका अर्थ है, अर्थात् वह 'ब्रह्म' नहीं है। किन्तु महावाक्य वही है जो आत्मा और ब्रह्मको एक बताये—अविद्या तथा उसके परिवारको पूर्णरूपसे भस्म कर दे। जो एक विषयका ही प्रतिपादक हो, उसे वाक्य कहते हैं। लेकिन महावाक्यमें अपने लौकिक-पारलौकिक समस्त शास्त्रोंकी संगति और अन्तर्भाव हो जाता है।

यदि हम योग-सिद्धान्तको स्वीकार करें तो 'त्वम्'-पदार्थकी दृष्टिसे निरूपण ठीक निकल आयेगा; किन्तु ईश्वरका ठीक-ठीक निरूपण नहीं हो सकेगा। यदि हम पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त लें, तो कर्म-सिद्धान्तका प्रतिपादन हो जायगा, किन्तु आत्मा-परमात्माका प्रतिपादन नहीं होगा। इसी प्रकार जो अन्य वाक्य हैं, वे सभी केवल आत्मा या परमात्माका अलग-अलग प्रतिपादन करते हैं। तीन पदार्थोंके निरूपणमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य है। संसारके जितने मत हैं, वे या तो जीवका विचार करनेके लिए हैं या ईश्वरका विचार करनेके लिए अथवा जगत्का विचार करनेके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिए। महावाक्य वह है, जो केवल जीव, केवल ईश्वर या केवल जगत्‌का विचार करनेके लिए नहीं है। इसमें तीनोंका निरूपण हो जाता है।

अयमात्मा ब्रह्म—यह महावाक्य है। इसमें 'आत्मा' से जीवात्माका और 'ब्रह्म'से परमात्माका विचार हो गया। दोनोंकी एकताके प्रतिपादनसे उपाधिका निदर्शन हो गया; क्योंकि उपाधिका बाध किये बिना दोनोंके एकत्वकी प्रतिपत्ति नहीं होती।

हमारा यह शरीर है। इसके निवासके लिए, सर्दी-गर्मी, वर्षासे रक्षाके लिए मकान आवश्यक है। मकान निर्माणके लिए स्थापत्य-वेद आवश्यक हुआ। शत्रुसे शरीररक्षा आवश्यक है। उसके लिए धनुर्वेद आवश्यक हुआ। शरीर है तो रोग भी होंगे ही। उनके निवारणके लिए आयुर्वेद और देहको निश्चिन्त, आनन्दोन्मुख करनेके लिए गान्धर्ववेद बना। ये चारों उपवेद हैं। ये सब वाक्यके विषय हैं।

लेकिन मनुष्यकी जिज्ञासा पूछती है कि यह शरीर कहाँसे आया? शरीर छूटनेपर क्या शेष रहता है? वह कहाँ जाता है? बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज, यह अनादि परम्परा है। हम बीजको भून दें तो अनादि होनेपर भी परम्परा सान्त हो जायगी। किन्तु इससे वृक्षोंकी सब परम्परा तो नहीं मिट जायगी। इसी प्रकार शरीरकी आकृति बनती-मिटती है; किन्तु शरीरमें जो तत्त्व हैं, वे तो अनादि-अनन्त कालसे प्रवाहित हो रहे हैं। शरीरकी आकृति तो कर्मसे बन गयी; किन्तु इसमें जो कर्ता-भोक्ता तत्त्व है, वह तो अनादि और नित्य प्रवाहरूपसे चला आ रहा है। इससे यह ज्ञात हो गया कि शरीरसे आत्मा भिन्न है। अब देहसे भिन्न आत्मातक पहुँचकर यह विचार होगा कि यह कर्ता-भोक्ता किसमें है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस प्रकारकी श्रुतियाँ केवल परमात्मा-का प्रतिपादन करती हैं। लेकिन शरीरमें अन्नमय, प्राणमय आदि कोषोंकी उपाधि-सहित जो जीवात्मा है, उसका विवेक करना है तो यह विवेक सम्पूर्ण रूपमें केवल महावाक्य द्वारा ही होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्र घूम-फिरकर महावाक्यमें समन्वित हो जायँगे। सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार महावाक्यमें संगृहीत है।

अयमात्मा ब्रह्म

इसमें **अयम्** कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा **इदं** के रूपमें बाहर नहीं, भीतर है। परोक्ष नहीं है—**अयम्** यह अपरोक्ष है। घड़ी, पुस्तकादि जो नेत्रादि इन्द्रियोंसे विदित तत्त्व हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष कहते हैं और जो देश या कालके कारण अन्तरित हैं—दूर हैं, उन्हें हम परोक्ष कहते हैं। किन्तु आत्मा तो घड़ी आदिके समान प्रत्यक्ष नहीं है और स्वर्गादिके समान परोक्ष भी नहीं है। वह अपरोक्ष है, अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनोंसे विलक्षण है। जैसे अपना मन, अपना हृदय अपनेसे अपरोक्ष है। मनको या सुख-दुःखको देखनेके लिए इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं।

अब मन और आत्माका अन्तर देखना चाहिए, क्योंकि दोनों अपरोक्ष हैं। मन सुषुप्तिमें सो जाता है; किन्तु आत्मा कभी सोता नहीं। मनके लय तथा जागरणका साक्षी आत्मा है। अतः आत्मा साक्षात् अपरोक्ष हुआ। बिना किसी करणके, बिना बुद्धि आदिके, बिना अविद्यावृत्तिके इसका साक्षात्कार होता है। इसमें कोई व्यवधान नहीं, यह अपना आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। **अयमात्मा ब्रह्म**—यह आत्मा ब्रह्म है। यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि ब्रह्म कोई अज्ञात—अद्भुत वस्तु है और वह मैं हूँ। ब्रह्म-शब्दका अर्थ है सब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकारके भेदों-छेदोंसे रहित, द्वैतसे सर्वथा असंस्पृष्ट अद्वितीय तथा अपनी आत्मासे अभिन्न तत्त्व। अवतक जो तुम अपने आपको एक देहसे सम्वद्ध, परिच्छिन्न समझ रहे थे—यह अज्ञान है। तुम परिच्छिन्न नहीं हो, पूर्ण हो, अद्वितीय हो—यह ज्ञान है।

'पंचदशी' और 'विचारसागर'की जो आभासवादकी प्रक्रिया है, उसका भी कुछ रहस्य यहाँ समझ लेनेयोग्य है। इस प्रक्रियामें कार्यकी उपाधिसे जीव और कारणकी उपाधिसे ईश्वर कहा गया है, यह वात समझनेयोग्य है। कार्यकी उपाधि जीवकी होती है, ईश्वरकी नहीं। अन्तःकरण कार्य है, अतः ईश्वरके साथ अन्तःकरण नहीं होता। अन्तःकरण न होनेसे ईश्वरको विशेष ज्ञान नहीं होगा। यह पापी, यह पुण्यात्मा, पूर्व-पश्चिमादि दिशा आदि विशेष ज्ञान है। जव आप देहके रूपमें वैठे तव आपमें पूर्व-पश्चिम हुआ, पर ईश्वरके लिए पूर्व-पश्चिम क्या है? सर्वव्यापक वह कहाँ पूर्व और कहाँ पश्चिम समझेगा? दिन-रात हमारे आपके लिए, सूर्यकी अपेक्षासे हैं। पर ईश्वरके लिए क्या दिन-रात सम्भव है? ईश्वरके लिए आजका पापी और हजार वर्षका पापी और दोनोंके कर्म वर्तमानके समान हैं। पापी-पुण्यात्माका भेद तो वर्तमान कर्म देखनेवालेकी दृष्टिमें होता है। इस प्रकार भेदमात्र अन्तःकरणसे ग्रहण होता है। अन्तःकरणके विना भेदका ग्रहण नहीं होगा। ईश्वरका ज्ञान सत्य है। यदि ईश्वरको जगत् दीखे, ईश्वरकी दृष्टिमें जगत् हो, तो जीवको जगत्का दीखना कभी निवृत्त नहीं होगा। अतः मायोपहित चैतन्य, कारणोपाधिक चैतन्य जगत्को कभी देख ही नहीं सकता।

कारणकी उपाधिसे ईश्वर और कार्यकी उपाधिसे जीव, इन दोनोंकी एकता वतलानी है। कार्य और कारण दोनों वस्तुएँ हैं। वस्तु-प्रधान उपाधिसे जीव-ईश्वरकी एकता वतानेके लिए आभास-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाद है। वस्तु-प्रधान उपाधिसे बाध-सामानाधिकरण्यसे जीव-ईश्वरकी एकता होगी। विषयका बाध कर देना और आभासका बाध कर देना तथा इसके बाद कूटस्थ और ब्रह्मको एक जानना—यह है बाध-सामानाधिकरण्य।

अवच्छेदवादकी प्रक्रिया इससे भिन्न है। इसमें आभासको आत्मा नहीं मानते, कूटस्थ ही आत्मा है। व्यष्टि-देशमें जो चैतन्य है, वह आभास नहीं; कूटस्थ है और समष्टि देशमें जो चैतन्य है, वह ब्रह्म है। दोनोंकी एकता देशकी उपाधिसे बतायी। आकाशमें ही देशकी कल्पना होती है। आकाशमें कभी परिच्छिन्नता नहीं होती। यहाँ मुख्य-सामानाधिकरण्य होगा। आकाशमें परिच्छिन्नता न होनेसे कूटस्थ और ब्रह्मका एकत्व सिद्ध है।

अब दृष्टि-सृष्टिवादको लीजिए। अविद्या-कालमें हम जिस ब्रह्मको अपनेसे अलग और अज्ञात मानते थे, वह ब्रह्म अविद्याकालमें भी प्रत्यग्-आत्मस्वरूप ही है। यहाँ **अयमात्मा ब्रह्म** यह महावाक्य कहता है कि अज्ञान-कालमें जिसे तुम अपनेसे भिन्न मानते हो, वह वास्तवमें तुम्हारी आत्मा ही है। इस प्रकार दृष्टि-सृष्टिवादमें कालकी उपाधिसे महावाक्यका अर्थ होता है।

जब आप घड़ा लेकर चलते हैं तो घड़ेके भीतरका आकाश घड़ेके साथ चलता है या नहीं? घड़ेमें फूल हो, जल हो, अग्नि हो तब तो वह घड़ेके साथ चलेगा। लेकिन आकाश तो घड़ेके भीतर, बाहर तथा घड़ेकी दीवारमें भी है। आकाशमें ही तो घड़ा स्थित है। अतः घड़ेके चलनेसे आकाश नहीं चलता। यह शरीर भी तो घट है—घटित हुआ, बना है। इसके चलनेसे भीतरका मुखाकाश, हृदयाकाश नहीं चलता। आकाश जहाँ-का-तहाँ रहता है। उसे न आना-जाना है और न घटना-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बढ़ना। जब हृदयाकाश और घटाकाशका ही यह स्वरूप है तो चित्ताकाश और चिदाकाशका स्वरूप कैसा होगा, स्वयं विचार कर लें।

अपंचीकृत पंचमहाभूतमें जो आकाश है, क्या वह पंचीकृत होनेपर स्थूल हो गया? नहीं। अतः देहमें परिच्छिन्न आकाश नामकी कोई पृथक् वस्तु नहीं रही। इस प्रकार केवल आकाशपर विचार करनेसे अपनी देह-परिच्छिन्नता कट जाती है। मन आकाश-से बड़ा है; क्योंकि अहं-तत्त्व ही मन है। तब आकाशसे भी बड़ा मन परिच्छिन्न कैसे होगा?

अपनेको आकाशरूप अनुभव करो या मिट्टीरूपमें; किन्तु सम्पूर्ण तत्त्वके रूपमें अनुभव करो। मिट्टी हो तो समस्त शरीर, भूमि, पर्वत, सब तुम ही हो। तत्त्वकी दृष्टिसे न देखनेके कारण ही तुम अपनेको शरीर मानते हो। लेकिन वस्तुतः तत्त्वोंमें सबसे सूक्ष्म आकाशसे भी मन सूक्ष्म है; क्योंकि स्वप्नमें मन ही आकाश बनता है। सुषुप्तिमें मन उस स्वप्नके आकाशको अपनेमें लय करके सो जाता है। इस मनके उदय-अस्तको जानने वाला, मन द्वारा कल्पित देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न कैसे हो सकता है? अतः यह आत्मा ब्रह्म है। यह प्रत्यगात्मा कार्यकारणरूप नहीं है। यह अनन्त है।

पहले ब्रह्मका परोक्षरूपसे वर्णन किया था, अब उसका प्रत्यक्ष रूपसे वर्णन कर रहे हैं। **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म**के साथ **अयमात्मा ब्रह्म** कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि "त्वं' तथा 'तत्'-पदका लक्ष्यार्थ एक है और जगत् कुछ दूसरा है" इस भ्रमका निराकरण हो जाय। आत्मा और ब्रह्म एक हैं; किन्तु प्रपंच अनात्मा, अतएव त्याज्य है, कोई भिन्न वस्तु है—यह मानना भ्रम है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जबतक जगत्को दुःखरूप समझेंगे, तबतक उससे वैराग्य होगा। जबतक इसे जड़ समझेंगे तबतक यह दृश्य और हम द्रष्टा रहेंगे। किन्तु जब हम अपनेको सत् और जगत्को असत् समझ लेंगे तो जगत् भिन्न वस्तु कैसे रहेगा ? असत् वस्तु अधिष्ठान-से भिन्न नहीं होती। अतः यह सम्पूर्ण जगत् सत्-स्वरूप अपनी आत्मासे भिन्न नहीं हैं।

पहले यह विवेक करना चाहिए कि हमारा प्रेम किससे है ? किसी अन्य विषय, वस्तु या व्यक्तिसे है या अपने आपसे ? असलमें सबका सच्चा प्रेम अपने आपसे होता है :

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।

इसलिए आत्मा आनन्दस्वरूप है। इस विवेकका फल है विषयसे वैराग्य। दूसरा विवेक है सम्पूर्ण विषय जड़-दृश्य, अनात्मा है और मैं उसका द्रष्टा, स्वयंप्रकाश चेतन हूँ। दृश्यमें चाहे कुछ भी हो, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। न मैं कारण हूँ और न कर्ता न भोक्ता हूँ। देश, काल, वस्तुके परिच्छेद भी तो मेरा स्पर्श नहीं करते। मैं सम्पूर्ण परिच्छेदोंका साक्षी, असंग चेतन हूँ। इस विवेकका फल है, असंगता। तीसरा विवेक है जो कुछ मुझ आनन्दसे भिन्न है, वह दुःख है; जो कुछ मुझ चेतनसे भिन्न है वह जड़ है और जो कुछ मुझ सत्से भिन्न है, वह असत् है। सम्पूर्ण परिच्छेद और परिच्छेदोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित मैं ही अबाधित सत् हूँ। मुझ सत्से पृथक् असत्की तो कोई सत्ता ही नहीं है। इसलिए मैं अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ। अधिष्ठानमें उससे पृथक् अध्यस्तकी किंचित् भी सत्ता नहीं होती। इसलिए मुझसे भिन्न प्रपंचकी कोई सत्ता नहीं।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म यह श्रुति यही बात कह रही है कि 'इदम्' प्रत्ययका जो विषय प्रपंच है, वह सब ब्रह्म है और इसी प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अयमात्मा ब्रह्म में 'अयम्' पदसे अभिनय द्वारा संकेतित प्रत्यगात्मा, निजस्वरूप ब्रह्म है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।

आत्मा और ब्रह्म तो एक हैं, चेतन हैं। और जगत् ? जगत् भी ब्रह्म ही है। जगत् ब्रह्मसे भिन्न हो तो ब्रह्म अद्वितीय ही नहीं रह जायगा।

अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम् । अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ।

मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही भोग्य हूँ। इदम् और अहम् दोनों ब्रह्म हैं। वेदान्तका यह दृढ़ निश्चय है कि आत्माके रूपमें ब्रह्मका साक्षात्कार ही ठीक है, क्योंकि जब-जब 'इदम्'की प्रतीति होगी 'अहं' को ही होगी। 'मैं' के बिना 'यह' की प्रतीति नहीं हो सकती और 'यह' के बिना भी 'मैं' रहता है। अब यदि ब्रह्मको हम 'इदम्' के रूपमें जानेंगे तो जब 'इदम्' नहीं रहेगा, तब ब्रह्म भी नहीं रहेगा। किन्तु आत्माके रूपमें जाननेपर आत्माके अभाव का अनुभव कभी नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक महावाक्य आत्माके साथ ही ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करता है।

जगत्के विवेकके लिए दो प्रक्रियाएँ स्वीकृत हैं : एक तो यह कि अपने शरीरका विवेक अलग करो और शेष संसारका विवेक अलग। इसमें पंचकोषका विवेक करते हुए द्रष्टारूपसे आत्माका विवेक होगा और पंचभूतोंके साक्षीरूपसे ब्रह्मका विवेक होगा और तब महावाक्यके द्वारा पंचकोषके साक्षी एवं जगत्के साक्षी दोनों-की एकताका प्रतिपादन होगा। दूसरी प्रक्रिया यह है कि प्रारम्भ-में ही अपनी देहके पंचभूतोंको समष्टि पंचभूतोंसे एक कर दो। सब पंचभूत एक ओर और सबका साक्षी 'मैं'। इसमें प्रारम्भमें ही अनेक जीववाद समाप्त हो जाता है। आभासवाद, अवच्छेदवाद,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिबिम्बवाद कोई भी वाद इस दूसरी प्रक्रियामें नहीं रहेगा; केवल 'दृष्टि-सृष्टिवाद' रहेगा। प्रारम्भमें ही पंचभूतोंका एकीकरण न करना हो तो ऐसा सोचो कि परमात्मामें तो यह प्रपंच विवर्त है और अपने आपमें अन्तःकरणकी उपाधिसे दीख रहा है। अब ये सब कार्य एवं कारण समष्टिरूपसे जिस चेतनमें विवर्त हैं, अध्यस्त हैं, उसमें इनका अत्यन्ताभाव होनेसे ये मिथ्या है। अध्यस्त अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता, अतः चेतनसे जगत् भिन्न नहीं है।

यह दृश्य जगत् ब्रह्म है, ऐसा तो उपासक भी मानते हैं। श्रीमध्वाचार्य जैसे द्वैतवादी भी जीव और ईश्वरको तो भिन्न मानते हैं, किन्तु जगत्को वे भी परमात्माकी शक्तिका ही विलास मानते हैं। ईश्वर और जगत् की भिन्न-भिन्न सत्ताको वे भी नहीं मानते। उपासक ईश्वरकी कृपासे जीवका मोक्ष मानते हैं; किन्तु वे कैवल्य नहीं मानते। उनके मोक्ष पाँच प्रकारके हैं: १. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य, ४. सायुज्य और ५. सार्ष्टि। सालोक्यका अर्थ है, अपने इष्टदेवके लोकमें रहना। सामीप्यका अर्थ है, इष्टदेवके आभूषण, माला, वस्त्र आदि बनकर सदा उन्होंके श्रीविग्रहके समीप रहना। सारूप्यका अर्थ है, इष्टदेवके समान रूप धारण करके उनके पार्षद बन जाना। सायुज्यका अर्थ है, इष्टदेवसे भेद-सहिष्णु अभेद प्राप्त कर लेना। तनिक-सा स्वगत-भेद रखकर इष्टमें एकत्व प्राप्त कर लेना। जैसे दीपक और दीपककी प्रभा, दीपककी लौ न हो तो प्रभा नहीं रहेगी और लौमें जलानेकी शक्ति है, प्रभामें नहीं है—यह भेद-सहिष्णु अभेद हुआ। जैसे विदेह-कैवल्यका उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि विदेह कैवल्यके बाद देह रहती नहीं, वैसे ही सायुज्यका भी उदाहरण नहीं हो सकता; क्योंकि सायुज्यके बाद पुनरावर्तन नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। सृष्टि, स्थिति, प्रलयका आंशिक सामर्थ्य प्राप्त कर लेना—कभी ब्रह्मा आदि हो जाना यह सार्ष्टि मुक्ति है।

इन पाँचों मुक्तियोंको माननेवाले उपासनामार्गी आचार्य यह तो मानते हैं कि जीव ईश्वरमें किंचित् भेद रह जाता है, परन्तु जगत् ईश्वरसे भिन्न है, यह वे भी नहीं मानते। वे परमात्माको ही जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं। उन्हें भी **वाचारम्भणं** आदि श्रुति तथा **तदनन्यत्वं** आदि सूत्रका भाष्य करना ही पड़ता है। **प्रकृतिश्च** इस ब्रह्मसूत्रकी व्याख्यामें भी प्रतिज्ञा-दृष्टान्तके उपरोधके भयसे सभीको यह जगत् ब्रह्माभिन्न मानना पड़ता है। यह बात भी ध्यान देनेयोग्य है कि 'जगत् जब परमात्माका स्वरूप ही है तब देह, अन्तःकरणादि भी परमात्माके स्वरूप ही हैं' तो जीवमें ही ऐसी क्या विलक्षणता है कि वह परमात्मासे भिन्न हो।

इस निरूपणसे यह सिद्ध हुआ कि जगत् बाधित होकर ब्रह्मस्वरूप ही है। हमें तो प्रत्यगात्माके रूपमें ब्रह्मको जानना है। 'यह', 'वह'के रूपमें तो ब्रह्मको उपासक भी जानते हैं। जो ब्रह्मको 'इदम्' के रूपमें जानेगा, वह सदैव उससे पृथक् ही रहेगा। 'अहम्' का लय 'इदम्'में होना कभी सम्भव नहीं। अतः उपासकको द्वैत-भेद स्वीकार करना ही पड़ता है। लेकिन हम जब 'स्व' के रूपमें परमात्माको स्वीकार करते हैं, तब द्वैत माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

यदि निर्गुण परमात्मासे एकता होगी, तो उसमेंसे निकलनेके लिए कोई भी गुणका भेद नहीं रहेगा जो उसे निकाले। सगुण परमात्मामें जब अन्य भेदोंका लय होगा, तो गुणका भेद होनेसे सगुण परमात्मा स्वेच्छासे अपनेमें अन्तर्हित वस्तुको कभी बाहर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी निकाल सकता है। यहाँ मोक्षको भी ईश्वरके वशमें और ईश्वरेच्छासे मुक्त पुरुषका भी आवागमन मानना होगा।

जो लोग मोक्ष मानते हैं, वे कर्मसे मानते हैं, उपासनासे मानते हैं या ज्ञानसे मानते हैं—यही देखनेकी बात है। जो ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं, उनके मतमें तो मोक्ष अपना स्वरूप ही है। अज्ञान-कालमें भी हम मुक्त हैं। ज्ञानसे तो केवल सिद्ध मुक्तिका ही बोध होता है। इस मुक्तिके मिटनेका कोई कारण नहीं। लेकिन जहाँ ईश्वरकी कृपासे मोक्ष प्राप्त होगा, वहाँ ईश्वरकी अप्रसन्नता या ईश्वरके इच्छा-विशेषसे मुक्ति भी खण्डित हो जायगी, क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् है। जहाँ कर्मसे मोक्ष माना जाता है; वहाँ मोक्ष सीमित हो जाता है। कर्मसे मोक्ष माननेवालोंने मोक्षकी भी सीमा मान ली। कैवल्य मोक्ष तो अपनी आत्मा ही ब्रह्म है—इसी ज्ञानसे होगा। अतः मोक्षका हेतु होनेसे **अयमात्मा ब्रह्म** यह महावाक्य है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'अयम्'का अर्थ है वह, जिसका हम चतुष्पाद विभाग करके अभी वर्णन करेंगे। वह अपना प्रत्यगात्मा है। वेदान्तमें निवृत्ति प्रमुख है। भगवान् शङ्कराचार्यका यह दृढ़ सिद्धान्त है कि बिना निवृत्तिके परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

प्रवृत्ति क्या है? हमारी हृदयस्थ चेतना मनमें आयी और मनसे नेत्रोंमें होकर बाहर आयी। बाहर उसने पुस्तक देखी। यह प्रवृत्ति हुई। 'अहम्'का 'इदम्'में आना प्रवृत्ति है। जहाँ अपनेसे भिन्न कोई ईश्वर है, वहाँ प्रवृत्तिसे ईश्वरप्राप्ति हो सकती है; किन्तु जहाँ प्रत्यगात्मा ही परमात्मा है, वहाँ तो प्रवृत्तिके उलटे चलना होगा। विषयसे इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंसे मनमें, मनसे बुद्धिमें और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बुद्धिसे साक्षीरूपमें जाकर स्थित हो जाओ। बाहरसे भीतर लौटना, यह निवृत्ति है। संसारके जितने साधन हैं, सब निवृत्तिके अंग हैं। पुण्य किसे कहते हैं? पापसे निवृत्तिका नाम पुण्य है। पुण्यसे निवृत्ति पाप नहीं है। पुण्यसे निवृत्ति तो अपने स्वरूपमें अवस्थान है। धर्म छोड़कर अधर्म करना प्रवृत्ति हुई। इसमें निवृत्ति कहाँ है?

चित्तनदी उभयतो वाहिनी वहति पापाय वहति पुण्याय च।

चित्त-नदी दोनों ओर वहनेवाली है। पापकी ओर भी और पुण्यकी ओर भी। क्लिष्ट-वृत्ति पापके लिए प्रवाहित होती है और अक्लिष्ट-वृत्ति पुण्यके लिए प्रवाहित होती है। इन क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों वृत्तियोंका निरोध करना होगा। पुण्य-वृत्ति अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश इन पंचक्लेशोंको शमन करनेवाली है और पाप-वृत्ति इन क्लेशोंको बढ़ानेवाली है। इनमें पापसे निवृत्त होना पुण्य है और पुण्य तथा पाप दोनोंसे निवृत्त होकर एक लक्ष्यमें स्थित होना—उपासना है। उस एक वृत्तिको भी छोड़कर स्थित होना समाधि है। समाधिको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होना : **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**—यह निवृत्ति हुई। इस प्रकार धर्म, उपासना, योग आदि संसारके सब साधन निवृत्ति के अंग हैं।

जो अपने हृदयमें बैठे परमात्माको नहीं पहचानेगा, वह बाहर-के परमात्माको कभी पहचान ही नहीं सकता। इस छोटे-से शरीरमें ही परमात्मा हैं, उसीको नहीं जानते तो विराट्में परमात्माको कैसे जान सकोगे? हम बाहरकी वस्तुओंको भोग्य भी मानें, मूल्य-वान् भी मानें, उनके चिन्तनमें भी लगे रहें और उस चिन्तनका प्रकाशक परमात्मा प्राप्त भी हो जाय, ऐसा कैसे होगा? एकबार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो वृत्तियोंको निवृत्त करके ही परमात्माको जानना होगा। अतएव **अयम्** यह अभिनय, अंगुल्यानिर्देश है, **अयमात्मा ब्रह्म** इस महावाक्यमें। यह चेष्टा-प्रमाण है। यदि चेष्टा नहीं होगी तो अयम्का अर्थ नहीं भासेगा। अतः गुरु प्रत्यक्ष निर्देशसे इसका अर्थ-बोध करावे तब इसका पता चलेगा।

आत्माका पाद-विभाजन

यह वही आत्मा है, जिसको ओङ्कार कहा गया है। पर और अपर अर्थात् कारणरूप और कार्य-रूप अथवा परका अर्थ अन्यरूप और अपरका अर्थ स्वरूप, यह आत्मा ऐसा है। **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म** यह पर रूप, जगत् रूपसे वर्णन हो गया और **अयमात्मा ब्रह्म** यह अपर अर्थात् परसे विलक्षण अपने स्वरूपके रूपमें वर्णन हो गया। इस प्रकार कार्य और कारण तथा 'इदम्' एवं 'अहम्' इन दोनों रूपोंमें आत्माका प्रतिपादन हो गया। यह आत्मा चतुष्पाद है। निरवयव आत्मामें तो एक पाद भी सम्भव नहीं, तब उसे चतुष्पाद क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि वक्ता अपने रूपमें ही परमात्माका वर्णन करता है, यह वेदान्तकी रीति है। तैत्तिरीय उपनिषद्में वक्ता तीतर पक्षी है अतः पक्षी-रूपमें परमात्माका वहाँ वर्णन है। दक्षिण पक्ष, उत्तर पक्ष तथा **ब्रह्मपुच्छम् प्रतिष्ठा**[1]

---

१. ऋग्वेदमें एक मण्डूक सूक्त है, उसमें वसिष्ठ ऋषि मण्डूकोंकी स्तुति करते हैं। बात यह हुई—देशमें दुर्भिक्ष-अकाल पड़ा। वसिष्ठने वर्षाके लिए अनुष्ठान किया। वर्षाके पूर्व ही मण्डूकोंने अपनी ध्वनि प्रारम्भ कर दी। वसिष्ठजी यह शुभ शकुन देखकर बहुत प्रसन्न हुए और पूरे एक सूक्तमें उन्होंने मण्डूकोंकी स्तुति की। कारणवारिमें मज्जन करनेके कारण ही मण्डूक कहते हैं। ये गर्मीके दिनोंमें मिट्टीमें लीन हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आदि। यह वर्णनकी शैली है। माण्डूक्य उपनिषद्के वक्ता ऋषि मंडूकके वंशज माण्डूक्य हैं। मंडूक कहते हैं मेंढकको। मेंढकके चार पैर होते हैं, अतः वह अपने देहस्थ पादोंका ब्रह्ममें आरोप करता है। ब्रह्ममें चतुष्पात्त्व वास्तविक नहीं है, आरोपित है। एक स्थानपर कहते हैं कि ब्रह्मके तीन पाद अमृत हैं और एक पाद नामरूपात्मक जगत् है।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।

सत्, चित्, आनन्द ये तीन पाद हैं और नाम-रूप चतुर्थपाद है। यह प्रपंच परमात्मासे छोटा है, यह बतानेके लिए ही इसे एक पाद और तीन पादको अमृत-तुरीय कह दिया। ब्रह्मके पादके दोनों वर्णन वेदके हैं। यदि ब्रह्ममें पाद वास्तविक होते तो दोनों स्थानोंपर एकसा वर्णन होता; लेकिन पाद तो अध्यारोपित हैं। अध्यारोपका अर्थ कल्पना और कल्पना एक वस्तुके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी की जा सकती है। जैसे रज्जुमें सर्प अध्यारोपित है—अतः सर्प है, माला है, आदि कई अध्यारोप वहाँ सम्भव हैं। ब्रह्ममें चतुष्पात्त्व अध्यारोपित है, वस्तुतः नहीं है। अतः इसका आग्रह नहीं रखना चाहिए।

जाते हैं वर्षाके दिनोंमें प्रकट हो जाते हैं। ये मत्त रहते हैं—मोदमें रहते हैं—इससे मण्डूक कहते हैं।

मंत्रसंहिताओंमें, ब्राह्मणोंमें, आरण्यकोंमें अनेकबार इनकी चर्चा की गया है। श्रीमद्भागवत और रामायणमें भी इनकी तुलना वेदपाठियोंसे की गयी है, विश्व, तैजस; प्राज्ञ और तुरीय चारो पादोंकी इनकी संगति जैसी बैठती है दूसरेसे नहीं। इसीलिए यह अथर्ववेदीय उपनिषद् माडूक्य-के नामसे प्रसिद्ध है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्ममें चार पाद किस प्रकार हैं ? जैसे गायके चार पैर होते हैं वैसे ? नहीं। क्योंकि गाय सावयव पदार्थ है। उसके अंग हैं, किन्तु ब्रह्म निरवयव है। जैसे रुपयेमें चार चवन्नी होती हैं; वैसे। रुपयेसे न चार चवन्नी निकली हैं, न रुपयेके चार टुकड़े होते हैं। रुपयेके बदले चार चवन्नी हमने मान लीं। इसी प्रकार ब्रह्ममें चार पाद कल्पित हैं।

व्यवस्थितश्चतुष्पात्त्वं कार्षापणवन्न गौरिवेति।

गायकी भाँति नहीं, कार्षापण (सिक्का विशेष) की भाँति ब्रह्ममें चतुष्पात्त्व है।

पाद शब्दका अर्थ क्या है ? **पद्यते अनेन इति पादः** अर्थात् जिसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो—परमात्माकी प्राप्तिका जो साधन हो—यह अर्थ पादका मानें तो चारों पाद साधन हो जायँगे और साध्य ज्ञेय इन चारोंके भीतर नहीं रहेगा। ब्रह्मके चार ही पाद हैं और चारों साधन हैं तो ब्रह्म भी साध्य हो गया, सिद्ध वस्तु नहीं रहा। अतः यह अर्थ ठीक नहीं है।

पद्यत इति पादः—जिसे प्राप्त किया जाय वह पाद, यह अर्थ करनेसे सबके सब साध्य हो गये। साधन नहीं रहा। यहाँ चतुष्पादकी कल्पना तीन पादकी साधन रूपमें और एक पादकी साध्य-तुरीय रूपमें की गयी है। अतः दो प्रकारसे व्युत्पत्ति करनी चाहिए। जिसका निषेधावधि रूपसे वर्णन है, वह तो प्राप्तव्य है और जिनका विधानात्मक वर्णन है, वे साधनरूप हैं।

विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये अवस्था विशिष्ट हैं। तुरीय निषेधकी अवधि है। **तुरीयं त्रिषु सन्ततं** तुरीय शेष तीनोंमें व्याप्त है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ परस्पर व्यावृत्त हैं। एकके होनेपर शेष दो नहीं रहतीं। लेकिन तुरीय इनसे व्यावृत्त नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः जो अविनाशी एकरस वस्तु है, वह प्राप्तव्य है। शेष साधन रूप हैं। अतः **त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वापूर्वप्रविलापनेन** विश्वको तैजसमें, तैजसको प्राज्ञमें विलीन करके तुरीयकी प्रतिपत्ति होती है।

कर्म कैसे होता है? कर—हाथसे। कर्मका साधन हुआ कर, कर ही करण है। इस करसे काम लेनेवाला कौन है? अन्तः-करण। अन्तःकरण और बहिःकरण ये दो भेद हो गये करणों—साधनोंके। कर्म, कर, करण और कर्ता यहाँ तक कर्मकी परम्परा गयी; किन्तु अपना स्वरूप—उसमें न कर्म है, न करण है, न कारण है, न कर्ता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द विचार करनेपर वहीं पहुँचा देता है। अन्तःकरण और बहिःकरण ये भेद अज्ञानीके जीवनमें होते हैं। ज्ञानीके मरनेपर उसका अन्तःकरण क्या स्थूल देहसे पृथक् रह जाता है? यदि ज्ञानीका शरीर और अन्तःकरण पृथक्-पृथक् हो तो उसका भी जन्म-मरण प्राप्त हो जायगा। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इस चर्मके भीतर और बाहर कार्य करनेवाले करणोंमें कोई अन्तर नहीं है। स्थूल तथा सूक्ष्म देहका अन्तर तो अज्ञान दशामें ही है।

पाद शब्दका, **पद्यत इति** जो प्राप्त किया जाय वह पाद—यह अर्थ तुरीयके लिए है।

ब्रह्ममें यह चतुष्पादत्व क्यों है? इसके उत्तरमें आगे उप-निषद्का तृतीय मन्त्र है। ब्रह्म निरवयव है। उसका जो वर्णन हम करते हैं, वह अपने अनुभवके आधारपर करते हैं। जैसे पंच-महाभूतोंकी सत्तामें अनुभव प्रमाण है। वैज्ञानिक जलको मूल पदार्थ नहीं मानते और चार्वाक मतमें आकाश कोई पदार्थ नहीं माना जाता; किन्तु हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनके द्वारा पाँच प्रकारके अनुभव हमें होते हैं। उन अनुभवोंके आधार-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूत हम पंचमहाभूत मानते हैं। यह हमारी पद्धति है। हमारी पद्धति यह है कि हमें सहज स्वभावसे जो साधन प्राप्त हैं, उनसे ही हम वस्तुका विश्लेषण करते हैं। हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं, अतः एक ही सत्ता हमें पंचभूतके रूपमें प्रतीत हो रही है। इन पाँच इन्द्रियोंके भीतर मन एक है। पाँचों इन्द्रियोंसे कार्य लेनेवाला और अनुभव करनेवाला एक है। इसी प्रकार हम अपने जीवनमें तीन अवस्थाओंका अनुभव करते हैं। ये तीनों अवस्थाएँ हमारे जीवनमें आती जाती हैं।

हम सत्यके विचारके समय शरीर द्वारा जो व्यवहार करते हैं, उसको सत्य मानकर उसपर विचार करते हैं; किन्तु विना शरीरके स्वप्नमें जो व्यवहार करते हैं और जब व्यवहार सुषुप्ति-में बन्द कर देते हैं, उनपर विचार नहीं करते, इसीलिए हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। अधूरे ज्ञानका ही नाम अज्ञान है। अज्ञानका अर्थ अल्पज्ञान—विपरीतज्ञान।

पूर्णके ज्ञानके लिए हमारी जो अपनी ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनसे परेकी स्थिति है, उनका ही विचार हमें करना है। इनको ही पादके रूपमें अध्यारोपित किया गया है। अब इनमेंसे प्रथमावस्था जाग्रत्का वर्णन उपनिषद्में करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीसरा मन्त्र

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः। तथा सप्ताङ्गान्यस्य 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० उ० ५.१८.२) इत्यग्निहोत्र कल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः। स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानरः। सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मनश्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात्। 'सर्वभूतानि चात्मनि' 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' (ई० उ० ६) इत्यादिश्रुत्यर्थः उपसंहृतश्चैवं स्यात्। अन्यथा हि स्वदेह परिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्। सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात्।

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० उ० ५.१२.२) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः। उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्' (बृ० उ० २. ५.१) इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव। निर्विशेषत्वात्। एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥ ३ ॥

आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर

परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रथम पैर रखो। प्रथम पैर कहाँ रखना होगा? शरीरमें तो तुम बैठे ही हुए हो, अतः शरीरसे आगे पैर रखा जायगा। इस छोटे शरीरको छोड़कर सम्पूर्ण विश्वको अपना शरीर बना लो, यह प्रथम पाद हुआ। इस नन्हें शरीरके बदले सम्पूर्ण विश्वको अपना शरीर समझने लगो। भौतिकवादियोंका विश्वात्मवाद जो अन्तिम प्राप्य है, अध्यात्मवादियोंका वह प्रथम पाद है।

यह जाग्रत् अवस्था जिसके रहनेका स्थान है, उसका निरूपण करना है इस प्रथमपादमें। जाग्रत् अवस्थाका अर्थ इस शरीरकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवस्था नहीं। "जाग्रत्‌को समझनेके लिए पहले स्वप्नको समझना आवश्यक है। स्वप्नावस्थामें वहाँकी पृथ्वी, आकाश, नदियाँ और पूरा प्राणिसमुदाय जो कुछ दीखता है, सब स्वप्न है। केवल स्वप्नका द्रष्टा उन सबसे विलक्षण है। केवल 'मैं'के विषयमें स्वप्नमें तीन भेद कर लो—१. स्वप्नपुरुष, २. स्वप्नाभिमानी, ३. स्वप्नद्रष्टा।

१. स्वप्नमें मैं अपनेको देखता हूँ कि स्नान करने जा रहा हूँ। यह स्नान करने जानेवाला स्वप्नपुरुष है।

२. जागनेपर मैं सोचता हूं कि यह पूरा स्वप्न मेरे संस्कारसे बना था। यह स्वप्नाभिमानी है।

३. स्वप्नका द्रष्टा और जाग्रत्‌का द्रष्टा एक ही है। स्वप्न-पुरुषका अभिमान भिन्न और जाग्रत्-पुरुषका भिन्न; किन्तु द्रष्टा एक।

जैसे स्वप्नमें समस्त स्वप्न बनानेवाला मैं था, वैसे ही जाग्रत्‌में सम्पूर्ण जाग्रत् बनानेवाला मैं ही हूँ। यह पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, नदी-समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपञ्च वैसे ही हमने जाग्रत्‌में बना लिया है, जैसे स्वप्नमें बना लेते हैं। जाग्रत्‌का अभिमानी स्वप्नाभिमानी नहीं है और स्वप्ना-भिमानी जाग्रत्‌का अभिमानी नहीं है। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। स्वप्नाभिमानीको जाग्रत्‌की स्मृति नहीं होती। जाग्रत् अभिमानीको स्वप्नकी स्मृति होती है। इसका अर्थ हुआ कि जाग्रत्-अभिमानी स्वप्नावस्थामें स्वप्नाभिमानीमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें जाग्रत् तथा स्वप्न दोनोंकी स्मृति नहीं होती। इससे पता लगा कि सुषुप्तिमें विश्व और तैजस दोनों प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं।

अभी यहाँ हमें जाग्रत् पुरुषका ही विचार करना है। यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रथम पाद विश्वसे प्रारम्भ होगा। एक शरीरका अभिमानी जाग्रत् पुरुष है। जैसे स्वप्नपुरुष। सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्थाका अभिमानी विश्व है।

गीतामें भगवान्ने अर्जुनको बताया **न हन्यते हन्यमाने शरीरे** शरीरके मारे जानेपर भी आत्मा मारा नहीं जाता और वह न उत्पन्न होता है न मरता है। इसका अर्थ है कि शरीरमें ही शरीरसे भिन्न कोई आत्मा नामकी ऐसी वस्तु है जो शरीरके जन्म-मरणसे जन्म-मरणको नहीं प्राप्त होती। जाग्रत्स्थानको समझनेके लिए हमें अपनेको देहसे हटाना होगा और उस आत्माकी ओर ध्यान देना होगा। यह जानना होगा कि संपूर्ण दृश्यमान प्रपंच मेरा बनाया है और मुझमें दीख रहा है। इससे यह होगा कि देहकी असक्तिसे होने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, भय आदि सब छूट जायँगे। प्रथम पाद उठानेका अर्थ है कि हम शरीरके गुण-दोष, जन्म-मृत्यु तथा परिच्छिन्नताको छोड़कर विश्वात्मा-स्थूल समष्टिके अभिमानीके साथ एक हो जायँ।

एक व्यक्तिको सुख पहुँचानेमें मत लगो। समाजकी सेवा करो। प्राणिमात्रकी सेवा करो। यह कर्मयोग है।

अपने देहकी सेवामें मत लगो। ईश्वरकी-विश्वात्माकी सेवामें लगो। यह भक्तियोग है।

तुम सब कार्य 'मैं' के लिए करते हो। तुम्हारा स्वार्थ-परमार्थ सब 'मैं'के लिए है; किन्तु अपने 'मैं' को पहचानो तो। यह साढे-तीन हाथका देह तुम्हारा 'मैं' नहीं है। संपूर्ण विश्व तुम्हारा 'मैं' है। विश्वकी सुख-समृद्धि तुम्हारी सुख-समृद्धि है। यह वेदान्त है परिच्छिन्न अहंका विसर्जन, यह प्रथम पाद है।

इस जाग्रत् अवस्थाकी विशेषता क्या है? 'बहिष्प्रज्ञः' अर्थात्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मैं चेतन हूं और यह दृश्यमान जगत् जड़ है। हमारी प्रज्ञा जड़को विषय वना रही है। अपनेसे अन्यको विषयरूपमें ग्रहण कर रही है। यही जाग्रत् स्थानकी विशेषता है।

देहको छोड़ दो संपूर्ण विश्व मेरा शरीर है। विश्वमें जैसे दूसरे शरीर हैं, वैसे ही यह भी एक शरीर है। अपनेको इस चमड़ेके घड़ेकी जेलसे वाहर करो। यह अस्थि, चर्म, मांस, मल-मूत्रका पुतला, कामी-क्रोधी-लोभी, पण्डित-गृहस्थ-संन्यासी, दरिद्र धनी मैं नहीं हूं। मैं विश्वात्मा हूँ। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोमकूपमें हैं, वह विश्वात्मा मैं हूँ। इस जाग्रत् अवस्थामें केवल प्रज्ञा ही वहिर्मुख-सी हो रही है। जव चेतन अन्यकी कल्पना करके उसको प्रकाशित करता है तव उसका नाम प्रज्ञा हो जाता है। लेकिन जव चित्त तथा जगत्को प्रकाशित तो करता है; किन्तु अन्यत्वको प्रकाशित नहीं करता, अपनेसे भिन्न कुछ नहीं देखना, तव उसे ब्रह्म कहते हैं। सविषयक ज्ञानका नाम चित्त है और निर्विषयक ज्ञानका नाम ब्रह्म है। जवतक अपनेको प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयसे सम्वद्ध चैतन्यके रूपमें जानते हैं तवतक भ्रम ही है। वस्तुतः महावाक्यजन्य प्रभावच्छन्न चैतन्य ब्रह्म है क्योंकि वह प्रमा और उसके परिवारके वाधका अधिष्ठान है।

जवतक जगत्को मिथ्या न देखें तवतक कोई अपने सच्चे-पूर्ण स्वरूपको जान गया यह वात झूठी है। यह तो प्रथम पाद है जहाँ प्रज्ञा वाहर है। 'यह मुझसे भिन्न है और मैं इसे जान रहा हूँ।' यह वहिःप्रज्ञा है। यह प्रज्ञा वाहर विषयके समान क्यों हो गयी? अविद्याके कारण। **अविद्याकृतावभासते।** विश्वात्मासे एक होकर सारे विश्वको जान लिया; किंतु अपने आपको नहीं जाना। यह अधिष्ठानका—द्रष्टाका—अपने स्वरूपका अज्ञान ही भीतर-वाहरका भेद उत्पन्न कर रहा है। महापुरुषोंमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाहर-भीतरका भेद नहीं होता। नेत्र बंद करके बैठते हैं तो परमात्माका ध्यान कर रहे हैं और नेत्र खोलकर देखते हैं तो जगत्को देख रहे हैं, ऐसा भेद महापुरुषोंमें नहीं होता। वहाँ तो बाहर-भीतर एक ही परमात्मा है।

जहँ जहँ चलउँ सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत्, भाव न राखउँ दूजा॥

महापुरुष जो कुछ करते हैं, सब ईश्वरकी आराधना है।

लेकिन यह बाहर-भीतरका भेद जहाँ है, वहाँ यह अविद्यासे ही है। अविद्या क्या? अनन्त वस्तुका यह स्वभाव होता है कि वह पूरा दीख नहीं सकती। आकाश पूरा कभी नहीं देखा जा सकता। हम ज्ञान स्वरूप हैं, अतः देखे बिना रह नहीं सकते। ज्ञान-स्वरूप होनेसे हम प्रकाशित किये बिना रह नहीं सकते और अनन्त हैं, अतः पूर्णतः प्रकाशित हो नहीं सकते। यहाँ प्रकाश्य-प्रकाशकभाव परस्पर विरुद्ध हो जाता है। फल क्या होता है कि हम एक होकर भी अपनेको अन्य-रूपसे देखते हैं। जैसे हम नेत्रसे आकाशको यथावत् देख नहीं पाते तो नीला देखते हैं। इसीप्रकार हम जब अपने आपको—चेतनको यथावत् नहीं देख पाते तो अन्य रूपसे जड़ देखते हैं। अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न देखते हैं। अपनेसे विश्वको अन्य देखना—जड़ देखना, यह अपनेको अन्य रूपसे प्रकाश्य बना देनेकी अक्षमताके कारण है। देखना दोष नहीं है। उस नीलिमाको सत्य मान लेना दोष है। इसीप्रकार प्रपंच-दर्शन दोष नहीं है किंतु सत्यत्वकी भ्रान्ति अपराध है। हम इससे—सत्यसे वंचित होगये। अपने आपको ही ज्ञेय बनानेकी चेष्टा करके अपने आपमें अन्यका आरोप—यह अविद्याकृत भ्रांति अथवा अध्यास हुआ। अविद्याका अर्थ है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपनेको ठीक न समझना—नासमझी। भ्रान्ति अथवा अध्यासका अर्थ है अपनेको दूसरा कुछ समझ बैठना।

अब इस जाग्रत् स्थानका विस्तार बतलाते हैं कि यह 'सप्ताङ्ग' है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस सम्बन्धमें इस श्रुतिका उल्लेख किया है।

पृथ्वी पैर है, जल मूत्र स्थान है, अग्नि मुख है वायु प्राण है, आकाश मध्य देह है, सूर्य नेत्र है और देवलोक मूर्धा है, ये अपने सात अंग हैं। विश्वात्माके रूपमें अपनेको देखनेपर अपना यह स्वरूप भासता है। यहाँ अग्नि और सूर्यमें भेद करके वर्णन किया है; क्योंकि अग्नि जठराग्निके रूपमें भोजनको पचाता है, और वाक्को प्रेरित करता है इसलिए उसे मुखमें स्थापित किया और सूर्य देखनेमें कारण है; अतः उसे नेत्र बतलाया।

एक महात्माने मुझे लयका बहुत सुन्दर क्रम बतलाया था। उन्होंने कहा : 'तुम शान्तिसे बैठे हो, इसे आकाश समझ लो। उठकर चल पड़े तो गतिमान् वायु हो गया। चलनेसे देहमें गर्मी आयी तो अग्नि हो गयी। गर्मीसे स्वेद आया, यह जल हुआ। स्वेद जमकर मैल बन गया, यह मिट्टी हुई। इस प्रकार हम अपने दैनिक जीवनमें नित्य आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे मिट्टी बनते देखते हैं। अब ऐसा विचार करो कि सृष्टिमें जितनी मिट्टी है, वह द्रव होकर जल बन गयी। इसका यह परिणाम होगा कि न वन-उपवन रहेंगे, न पृथ्वी-पर्वत रहेंगे, न सूर्य-चन्द्र-तारक रहेंगे। कोई भेद नहीं रह जायगा। केवल जल लहरा रहा है। यह शरीर मेरा और यह तुम्हारा, यह केवल मिट्टीके द्वारा भेद हुआ है। मिट्टी न हो तो शरीरोंका भेद रहेगा ही नहीं। यह सब भेद मनने कल्पित किया है।'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक दूसरे महात्माने बताया : 'जब सोने लगो तो अपने शरीरको भागोंमें विभक्त समझो। मनसे ही सोचो कि पैरसे गुदा पर्यन्त पृथ्वी तत्त्व है। गुदासे मूत्रेन्द्रिय तक जल है। हृदयसे कण्ठतक आकाश है, कण्ठसे भ्रूमध्य तक मन है, मूत्रेन्द्रियसे नाभि तक अग्नि है। नाभिसे हृदय तक वायु है। भ्रूमध्यसे ऊपर परमात्मा है। अब शरीरके पृथ्वी तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको मनमें और मनको परमात्मामें लीन होनेकी भावना करके परमात्मामें सो जाओ। जब प्रातः निद्रा टूटे तो परमात्मासे मन, मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीका भाग प्रकट हुआ—ऐसी भावना करो। यदि कोई छः महीने इस अभ्यासको करे तो जाग्रत् अवस्था स्वप्नके समान हो जायगी और सुषुप्ति समाधि बन जायगी। जाग्रत् अवस्थाके सब दोष काम, क्रोध लोभादि स्वप्नके समान भासने लगेंगे।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे पास मनका बनाया संसार अधिक है और ईश्वरका बनाया संसार कम है। ईश्वरके बनाये संसारसे छुटकारा पानेकी तो आवश्यकता नहीं है; किन्तु अपने मनके बनाये संसारसे छुटकारा पाना आवश्यक है। हम इस परिच्छिन्न शरीरके रूपमें ही हैं, इसी धारणाको दूर करना है और इसलिए यह विचार चल रहा है।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः ॥

यह आत्मा जिसे तुम परोक्ष रूपमें जानते हो, यह तुम्हारा आत्मा ही वैश्वानर है। अत्यन्त तेजोमय द्युलोक तुम्हारा मूर्धा—मस्तक है।

चक्षुर्विश्वरूपः विश्वको रूप दिखानेवाले सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं। जितने भी रूप दिखायी पड़ते हैं, सब प्रकारसे दिखायी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पड़ते हैं। सब रूप किरणोंके ही वक्रीभवन हैं। जैसे वर्षा होते जलमें सूर्यकी किरणें पड़कर जब टेढ़ी हो जाती हैं, तब इन्द्र-धनुष दिखलायी देने लगता है। इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियोंमें आकर वक्रता प्राप्त होनेसे नाना रूप दीखने लगता है। नेत्रमें आया ज्ञान रूप, कानमें आया ज्ञान शब्द, नाकमें आया ज्ञान गन्ध इस प्रकार एक ही ज्ञान अनेक रूप हो जाता है।

जितने भी विषय प्रतीत हो रहे हैं, सब दृष्टिमात्र हैं। दृष्टिसे भिन्न नहीं। इसका यह अर्थ है कि द्रष्टा और घट दोनों एक देशमें हैं। हमको बाह्य घटका ज्ञान नहीं होता। हमको बुद्धि वृत्तिमें जो घटाकार है, उसीका ज्ञान होता है। दृष्टि तो स्वतन्त्र ही है।

यदि एक साथ घट और पुस्तक दोनों प्रतीत हों तो हम कह सकते हैं कि घट पुस्तक नहीं और पुस्तक घट नहीं; किन्तु दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं, अतः दृष्टि ही घट या पुस्तक रूपमें प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंका भेद भी दृष्टिमात्र है। भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न दृष्टि है और काल भी दृष्टिमात्र है। यह सृष्टि हमारी दृष्टिने की और दृष्टिको हमने देहमें परिच्छिन्न कर लिया, अतः हम देह हैं, यह प्रतीत होने लगा। अतः देहसे उठाकर दृष्टिको अब वैश्वानर-विराट्में ले चलना है। यह सूर्य वैश्वानर रूप अपना नेत्र है।

प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा अनेक मार्गसे चलनेवाला वायु प्राण है। **संदेहो बहुलो** यहाँ संदेहका अर्थ है देहका मध्यभाग। वह बहुल-विस्तीर्ण आकाश है। **बस्तिरेव रयिः** रयि कहते हैं अन्नको, अतः अन्नका हेतु जल ही बस्ति अर्थात् मूत्रस्थान है और **पृथिव्येव पादौ** यह पृथ्वी ही पाद चरण है। इसी प्रकार अग्निहोत्रके आहवनीय अग्निकी कल्पनाके रूपमें यह सबका सब निरूपण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। वैश्वानर अग्नि है, अतः वह शेष रहनेसे मुख हो गया। इस प्रकार सात अंगोंवाला यह सम्पूर्ण विश्व हमारा शरीर है।

मूल श्रुतिमें सप्ताङ्गके साथ एकोनविंशतिमुखः कहा है। इन उन्नीस मुखोंका वर्णन करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान प्राप्तिके द्वार हैं। कर्णसे शब्द, नेत्रसे रूप; त्वचासे स्पर्श, नासिकासे गन्ध और रसनासे रसका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय कर्म करनेके द्वार हैं। हाथसे कर्म होता है, पैरसे चलते हैं, मूत्रेन्द्रियसे मूत्र तथा गुदासे मल-त्यागका कर्म होता है और बोलनेके लिए मुख है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मिलकर दस हो गयीं। ये परस्पर पूरक हैं। जैसे नेत्र कुछ देखना चाहते हैं तो पैर वहाँ ले जाते हैं। नासिका कोई पुष्प गन्ध चाहती है तो हाथ वह पुष्प नाकके पास ले जाते हैं। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ एक दूसरेकी पूरक हैं। शरीरके भीतर पाँच प्राण हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनोंके पूरक ये प्राण हैं। प्राण न हो तो न कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी और न ज्ञानेन्द्रियाँ।

अन्तःकरण चतुर्विध है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। आजके मनोवैज्ञानिक तो मनके दो ही भेद मानते हैं : अन्तर्मन और बहिर्मन। फिर ये चार क्यों, यह समझनेयोग्य है। वस्तुतः मनकी चार वृत्तियोंको लेकर ही से चार भेद किये गये हैं। इनमेंसे जब हम जागते रहते हैं, तब मनकी चारों वृत्तियाँ काम करती हैं। संपूर्ण अन्तःकरणको मन मानकर, मनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी इन वृत्तियोंके अनुसार नाम रखें तो १. संकल्पात्मक मन, २. संचालक मन, ३. संस्कारात्मक मन और ४. निर्णायक मन—ये चार नाम होंगे। जाग्रत्-अवस्थामें निर्णायक मन अर्थात् बुद्धिकी प्रधानता होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब हम स्वप्न देखते हैं, तब निर्णायक मन सोता होता है। उस समय केवल संकल्प-विकल्प होते हैं। यद्यपि सोचना तथा निर्णय करना स्वप्नमें भी होता है; किन्तु उस समय प्रधानता अस्त-व्यस्त संकल्पोंकी ही अधिक होती है। जब हम घोर निद्रामें होते है, तब भी कोई हमारा नाम लेकर पुकारे तो हम जाग जाते हैं और दूसरेका नाम लेकर पुकारे तो हम नहीं उठते। यह काम संस्कारात्मक मन करता है। स्वप्नमें बिना देखी-सुनी वस्तुएँ भी संस्कारात्मक मनसे आकर दीखती हैं। सुषुप्तिमें रक्त-प्रवाह चलता है, नख-केश बढ़ते हैं—यह संचालक मनका काम है। समाधिमें सम्पूर्ण मनोनिरोध होनेपर रक्तप्रवाह, श्वासकी गति बन्द हो जाती है, केशादि नहीं बढ़ते। संकल्पात्मक मनको ही 'मन', संस्कारात्मक मनको 'चित्त' निर्णायक मनको 'बुद्धि' और संचालक मनको 'अहंकार' कहा जाता है। समाधि और सुषुप्तिका विचार न करनेके कारण ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक मनके केवल दो भाग करते हैं।

इस प्रकार दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरणके भेद मिलकर उन्नीस हो गये। जैसे हम मुखसे भोजन ग्रहण करते हैं, वैसे ही ये उन्नीस उपलब्धिके द्वार हैं, अतः इन्हें 'मुख' कहा गया है। बहिरंग पदार्थ बाह्य करणों इन्द्रियोंसे, और अंतरंग पदार्थ अन्तःकरणोंसे ग्रहण होते हैं। इनमें भी पंचीकृत पंचमहाभूत और अपंचीकृत पंचमहाभूतका भेद है। पंचीकृत पंचमहाभूतका अर्थ है कि पृथ्वीमें आधा भाग पृथ्वीका और शेष आधेमें जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इसी प्रकार सबमें आधा उसका स्वयंका भाग और शेष आधेमें चार सम्मिलित हैं। यह शरीर पंचीकृत पंचमहाभूतोंसे बना है। इसलिए इन्द्रिय-गोलक नेत्र, कर्ण, जिह्वादि ये पंचीकृत पंचमहाभूतोंसे बने हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गोलकका अर्थ है रहनेका स्थान। इन गोलकोंमें रहनेवाली इन्द्रियाँ और मन अपंचीकृत पंचमहाभूतोंके कार्य हैं। वस्तुतः वृत्तिको ही 'इन्द्रिय' कहते हैं। मन जिस समय जिस इन्द्रिय-गोलकमें आता है, उस समय मनका ही नाम वह इन्द्रिय हो जाता है। मन एक समय एक ही विषयको ग्रहण करता है; किन्तु वारी-वारीसे वह पाँचों इन्द्रियोंके विषय ग्रहण कर लेता है। मनमें यदि पाँचो महाभूत न हों तो वह पाँचों विपय ग्रहण नहीं कर सकता। इन्द्रिय तो केवल अपने विषय ही ग्रहण कर सकती हैं। नेत्र सुन नहीं सकते और कर्ण देख नहीं सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय-गोलकोंमें एक-एक महभूतकी प्रधानता है और मनमें वे पाँचों हैं।

इस प्रकार ये उन्नीस मुख पंचीकृत पंचमहाभूत तथा अपंचीकृत पंचमहाभूत दोनोंसे वने हैं।

इस तरह वर्णित यह वैश्वानर ऊपर वर्णित मुखोंसे शब्दादि स्थूल विषयोंका उपभोग करता है, इसलिए इसे श्रुतिने **स्थूलभुक्** कहा है।

इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरणका यह वर्णन तो व्यष्टिका वर्णन हो गया; किन्तु यहाँ पहले ही सप्ताङ्ग बता आये हैं। अतएव पहले उस सप्ताङ्ग विराट्के रूपमें अपनेको सोचकर देखो कि तुम्हारी इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरणका कैसा रूप है। तब विराट्का वर्णन अपने आप स्पष्ट हो जायगा।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों जैसे व्यष्टिमें होते हैं, वैसे ही समष्टिमें भी होते हैं। पहले जो सप्ताङ्ग वताये गये, वे विराट्के ही अंग हैं। विराट्के साथ स्थूलकी एकता होगी। प्राज्ञकी एकता ईश्वरके साथ होगी। अतः यहाँ सप्ताङ्गके वर्णनसे तो विराट्का वर्णन है और मुखोंके रूपमें हिरण्यगर्भका वर्णन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। ये तैजसके मुख व्यष्टिके नहीं, हिरण्यगर्भके मुख हैं। जैसे जाग्रत्‌का अन्तःकरण और स्वप्नका अन्तःकरण भिन्न नहीं है, वैसे ही विराट् और हिरण्यगर्भ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। यह समूची विश्वसृष्टि वैसे ही विराट् है। यहाँ यह समूची विश्वसृष्टिके प्राण, अपान, इन्द्रियादिका वर्णन है। अतः तैजसका हिरण्यगर्भके रूपमें वर्णन समझना चाहिए।

सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ और स्वप्नका अभिमानी तैजस ये दोनों जाग्रत्-अवस्थामें विश्वसे एक होकर रहते हैं। इसीलिए प्राज्ञके द्वारा अनुभूत सुषुप्ति तथा तैजसके द्वारा अनुभूत स्वप्नका स्मरण विश्वको होता है। बिना कारण-शरीर और सूक्ष्म-शरीर-के स्थूल-शरीर व्यवहार नहीं कर सकता। अतः कारण-शरीर और सूक्ष्म-शरीरकी सब विशेषताएँ स्थूल-शरीरमें जाग्रत् अव-स्थामें रहती हैं। उन विशेषताओंसहित ही स्थूल-शरीरका वर्णन किया जा सकता है। लेकिन जब सूक्ष्म-शरीरका वर्णन करेंगे तो स्थूल-शरीरकी विशेषता छोड़ देंगे। कारण-शरीरके वर्णनमें सूक्ष्म-शरीरकी विशेषता भी छोड़ देंगे।

'स्थूलभुक्' यहाँ जो भोक्ता है, वह वास्तवमें प्राज्ञ ही है। प्राज्ञ ही जाग्रत्‌में विश्वसे एक होकर भोक्ता बना हुआ है। तैजस ही उन्नीस मुखका है। सप्ताङ्ग विश्व तैजसका एक ही है। लेकिन बहिष्प्रज्ञा केवल विश्वमें है, तैजसमें नहीं। विश्व और तैजस दोनोंके सप्ताङ्ग एक हैं, दोनोंके उन्नीस मुख एक हैं। दोनोंमें भेद यह है कि विश्व बहिष्प्रज्ञ है और तैजस अन्तःप्रज्ञ। विश्वमें स्थूल-भूत है और तैजसमें सूक्ष्म-भूत। तैजसका **एकोनविंशति** मुख ही विश्वका मुख है और तैजस हिरण्यगर्भ एक हैं, तब सप्ताङ्ग कह देनेसे तैजस भी व्यष्टि नहीं, समष्टि हो गया—हिरण्यगर्भ हो गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आभासवादकी प्रक्रियासे यहाँ अन्तर पड़ता है; क्योंकि आभासवादमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ व्यष्टिके अभिमानी हैं। लेकिन दृष्टिसृष्टिवाद तो एकजीववादकी प्रक्रिया है। उसमें तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ समष्टि-सृष्टिके लिए हुए हैं।

वेदान्त तो चिन्तनके लिए है। ये इन्द्रियाँ क्या हैं? 'इन्द्रिय' का अर्थ है इन्द्रकी वस्तु। इन्द्र कौन है? 'इन्द्र'का अर्थ है द्रष्टा। इस तरह इन्द्र द्रष्टा हुआ और इन्द्रिय हुई दृष्टि। द्रष्टाके पास देखनेका जो करण यानी साधन है, उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। फिर जिन करणोंसे हम बाहर देखते हैं, वे बहिरिन्द्रिय और जिनसे भीतर देखते हैं, वे अन्तरिन्द्रिय हुए। इसीका नाम 'बहिष्प्रज्ञ' और 'अन्तःप्रज्ञ' है।

प्रज्ञा ही इन्द्रिय है। अपनेसे भिन्नको देखें तो प्रज्ञा और अपनेसे अन्यको न देखे तो चेतन! उस समय उसमें देश, काल, वस्तुका कोई परिच्छेद नहीं होता। वह परिपूर्ण है। जहाँ ज्ञानका कुछ विषय है, वहाँ उस ज्ञानको ही 'प्रज्ञा' कहते हैं।

ज्ञानीको भी पदार्थ तो दीखते हैं; किन्तु बाधित होकर दीखते हैं, मिथ्यात्वके निश्चयके साथ दीखते हैं। इसीलिए भेद दीखनेपर भी ज्ञानीके लिए वह भेद नहीं होता। वह ब्रह्मस्वरूप है। अज्ञानी-को जिस समय कुछ भी विषय नहीं होते, उस समय भी उसके चित्तमें संपूर्ण भेदका बीज बैठा है। अज्ञानीकी समाधि भी भेदात्मक है तो ज्ञानीका व्यवहार भी अभेदस्वरूप है। ज्ञानीकी दृष्टिसें अन्तर और बाहरका भेद नहीं, क्योंकि वह पूर्ण है।

सुख-दुःख भी भीतरके विषय हैं। इसको कभी किसीने बाहर नहीं देखा। इनकी लंबाई-चौड़ाई, इनका भार या रंग किसीने देखा है? इनकी कोई आकृति नहीं। सुख-दुःख वस्तुके आकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं, मनके आकार हैं। सबसे अन्तरंग 'अहं' है। 'अहं' साक्षि-भास्य है। सुख-दुःखको प्रतीति 'अहं'में ही होती है। पाप-पुण्य भी बुद्धिस्थ सुख-दुःख ही हैं। जिसमें फलरूपसे सुख आरोपित है, वह पुण्य और जिसमें फलरूपसे दुःख आरोपित है, वह पाप। आगामी सुख-दुःख बीजरूपसे पुण्य-पापमें अवस्थित हैं। मैंने पुण्य किया, इस प्रकार कर्मका कर्तृत्व 'अहं' में आया। कर्मका फल हुआ कर्तृत्व और इस कर्तृत्वके भोगका फल है भोक्तृत्व। 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इसमें जैसे भोक्तृत्व फल है, वैसे ही कर्तृत्व भी फल है। अन्तःकरणमें कर्मके फलरूपमें 'अहं कर्ता' यह वृत्ति होती है।

जान-बूझकर किये हुए कर्मकी परिणामात्मक वृत्तिमें प्रति-फलित हो अज्ञानवश अपनेको कर्ता मान बैठना, पापी पुण्यात्मा होना है। भोगके परिणामात्मक वृत्तिमें प्रतिफलित चैतन्यको 'मैं' मान बैठना भोक्तापन है। इसीसे अपनेको सुखी-दुःखी समझा जाता है। यदि पाप पुण्य एवं सुख दुःखके साथ स्वरूपाज्ञानपूर्वक अपने प्रतिफलित 'अहं' का तादात्म्य न हो तो इन साधन-साध्यरूप चण्डाल चतुष्टयसे सहज ही पिण्ड छूट जाता है।

जहाँ हम कर्मेन्द्रियोंको अपना समझते हैं, वहाँ कर्ता बनते हैं और जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंको अपनी समझते हैं, वहाँ ज्ञाता बनते हैं। जहाँ अन्तरिन्द्रियोंको अपना समझते हैं, वहाँ भोक्ता बनते हैं। केवल सदंश-परिच्छिन्न सत्‌में तादात्म्य कर्तृत्वका जनक है। परिच्छिन्न चित्‌में तादात्म्य ज्ञातृत्वका जनक है और परिच्छिन्न आनंदमें तादात्म्य भोक्तृत्वका जनक है। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता, ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञाता और मन-बुद्धिकी उपाधिसे भोक्ता। सदंशके अज्ञानसे कर्तृत्व, चिदंशके अज्ञानसे ज्ञातृत्व तथा आनन्दांशके अज्ञानसे भोक्तृत्व! यह तीन प्रकारकी भ्रान्ति अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच्चिदानंद स्वरूपके अज्ञानसे ही हो रही है। अतः इस देहमें न कर्ता है, न ज्ञाता है और न भोक्ता। इस देहका ज्ञान मेरा ज्ञान नहीं। देहका कर्म मेरा कर्म नहीं। देहका भोग मेरा भोग नहीं। अपने स्वरूपके ज्ञानसे ही ऐसा अनुभव होता है।

स्वरूपके अज्ञानसे ही यह सारा उपद्रव है। अतः इस अज्ञान-को मिटाना हमारा कर्तव्य है। अज्ञान ही कारण-शरीर है। कारण-शरीरमें अज्ञान रहता है, ऐसा नहीं। जहाँ अज्ञान होता है, वहाँ कार्य-कारणभाव कल्पित होता है। जैसे स्थाणुके अज्ञानसे उसमें पुरुषका भ्रम हुआ। यह पुरुष स्थाणुसे नहीं, अज्ञानसे आया। अज्ञानसे उत्पन्न वस्तु सचमुच उत्पन्न नहीं होती, उसका भ्रम होता है। अतः अज्ञान कारण-शरीर है, इसका अर्थ है, शरीरका कारण तो है शरीरकी वस्तुतः उत्पत्ति हुई ही नहीं। हम अज्ञानवश स्थूल और सूक्ष्म-शरीर मान रहे हैं। इनकी प्रतीतिमात्र है और यह प्रतीति व्यावहारिक है। व्यावहारिकका यह अर्थ है कि घड़ेमें गंगाजल हो तो घड़ा पवित्र और शराब हो तो अपवित्र। यह पवित्रता-अपवित्रता व्यावहारिक है, वस्तु-सत्यकी दृष्टिसे घड़ा केवल मिट्टी ही है।

यहीं एक बात स्पष्ट कर देनी है कि अद्वैत-ज्ञानके आधारपर व्यवहार चलानेकी बात निरी भावुकता है। 'सबमें एक ही पर-मात्मा अतः सबसे समान व्यवहार करो' यह बात सोच-समझकर नहीं कही जाती। क्या अपने शरीरमें ही नेत्र और कर्णादिसे समान व्यवहार संभव है? माता, बहन, पुत्री और पत्नीसे समान व्यवहार कैसे होगा? व्यवहार तो सारा भेदज्ञानके आधारपर होता है और तत्त्व अभेदस्वरूप है। व्यवहार विशेष, सगुणमें होता है निर्गुण, निर्विशेषमें व्यवहार नहीं होता। अतः व्यवहार तो सामाजिक मर्यादाके अनुसार हुआ करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कोई कर्म न स्वरूपसे पाप होता है और न पुण्य। जिस व्यक्तिके लिए, जिस अवस्थामें जो कर्म विहित है, वह पुण्य और जो अविहित है, वह पाप है। जैसे सन्ध्या करना पाप है या पुण्य? यह पूछनेपर कहना होगा कि यज्ञोपवीतधारी द्विजाति सन्ध्या न करे तो पाप है। यज्ञोपवीतत्यागी संन्यासीके लिए तो वह निषिद्ध ही है। इसी प्रकार गृहस्थ समयपर अपनी स्त्रीसे सहवास करे तो पाप नहीं और वही पुरुष संन्यासी हो जाय—जब कि पुरुष वही और स्त्री वही है—तो सहवास पाप हो जायगा। अतः पुण्य-पापका निश्चय शास्त्रके अनुसार होता है। परमार्थ वस्तु तो निर्विशेष है। उसमें न गुण है, न दोष। शास्त्रके द्वारा अधिकारीके अनुसार गुण-दोषका विधान हुआ है और यह सब व्यवहार इस अधिकारी-भेदके आधारपर ही चलता है।

देश, काल, वय, अवस्था, पात्र, शक्तिके अनुसार धर्माधर्मकी व्यवस्था होती है। कर्मको अच्छा या बुरा अथवा वस्तुको अच्छी या बुरी मानना भूल है। अन्तःकरणमें उस कर्मका जो प्रभाव पड़ता है, उसे देखना चाहिए। क्योंकि कर्म तो केवल साधन है। इदमाकार वृत्ति साधनरूपा वृत्ति है और अहमाकार-वृत्ति फलरूपा वृत्ति है। यह पुण्यकर्म है, इस प्रकार वह कर्म साधन हुआ। कर्म करनेपर 'मैंने पुण्य किया, मैं पुण्यात्मा' यह अहमाकार-वृत्ति फल हुई। यह सब-का-सब साक्षि-भास्य है। व्यष्टि, परिच्छिन्नमेंसे इस अहमाकार-वृत्तिको पृथक् करना ही उसे समष्टिरूपमें, समग्र विश्वके रूपमें अनुभव करना है। हम ही समष्टि वैश्वानर हैं।

विश्वके समस्त मनुष्यों, प्राणियोंको अनेक प्रकारसे संचालित करनेके कारण इसे 'वैश्वानर' कहते हैं। ये जो पृथक्-पृथक् प्राणी प्रतीत होते हैं, सभी जीवाभास हैं, जीव नहीं। जैसे स्वप्नमें दीखने-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाले बहुतसे प्राणी जीवाभास होते हैं, वैसे ही ये जीवाभास हैं। इनका संचालन करनेवाला एक वैश्वानर है।

दूसरी व्युत्पत्ति : यह सम्पूर्ण विश्व ही नर है, यह विश्व-नर ही वैश्वानर है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार जैसे 'रक्षस्' 'राक्षस' हो जाता है, वैसे ही विश्वनर शब्द स्वार्थमें ही 'वैश्वानर' बन गया है।

ये जितने पिण्ड-शरीर हैं, उनमें आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं है। आत्मा एक ही है। जैसे सब घटाकाश महाकाशसे एक हैं, वैसे ही सबके सब जीव वैश्वानर, विश्वात्माके भीतर ही हैं। अलग-अलग दीखनेपर भी सब वहीं है। यह वैश्वानर प्रथम पाद है। गणना कारणकी ओरसे होनी चाहिए थी और प्रथम तुरीय, फिर प्राज्ञ-तैजसके क्रमसे विश्वतक आना था। किन्तु जहाँ हमें पहुँचना है, वहाँसे गणना प्रारम्भ नहीं होती। जहाँसे हम चलते हैं, वहींसे गणना प्रारम्भ होती है।

पहले इस विश्वको समझ लेनेपर ही इसके आगे तैजस समझमें आयेगा, इसलिए विश्वको प्रथम समझना आवश्यक है। इसको प्रथम पाद कहनेका यही कारण है। परमात्माकी ओर यह प्रथम चरण रखना है। देहको छोड़कर विश्वात्मामें आना—यह हुआ प्रथम पाद।

अब शंका करते हैं कि मूल प्रसङ्ग तो था **अयमात्मा ब्रह्म**—अपनी आत्मा ही ब्रह्म है और फिर उस प्रत्यगात्माके चतुष्पादत्व पनेका वर्णन प्रारम्भ करके उसमें द्युलोकको मूर्धा, आकाशको मध्यभाग, सूर्यको नेत्र—इस प्रकार सप्तांग बताने लगे। द्युलोक आकाश, सूर्यादि प्राकृत पदार्थोंको आत्माका अंग बतलाने लगे, यह कैसे ?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु यह दोष नहीं। एकजीववादकी प्रक्रियाको समझनेके लिए यह आवश्यक है कि देहको छोड़कर सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, ऐसा विचार किया जाय। एकजीववादमें परोक्षसत्ता नहीं मानी जाती। अज्ञात पदार्थ कुछ नहीं है। जो है, सब ज्ञात ही है।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

अतः यदि लय करना है तो वाणीसे सूचित समस्त इन्द्रियोंको मनमें लय करो। मन न हो तो इन्द्रियाँ कैसे रहेंगी? अतः मनसे भिन्न इन्द्रियाँ हैं नहीं, मनमें इन्द्रियोंका लय करो।

मनको ज्ञानमें लीन करो। मन क्या है? संकल्प-विकल्परूप स्फुरण ही तो मन है। जितना संकल्प-विकल्प होता है, सब ज्ञात वस्तुका ही होता है, अज्ञातका तो होता नहीं। संकल्प सदा सविषयक होगा। जहाँ बुद्धि नहीं, ज्ञान नहीं, वहाँ मन नहीं। अतः ज्ञानसे भिन्न मन कुछ नहीं है।

ज्ञान क्या है? पृथक्-पृथक् शरीरमें जो बुद्धि है, वह समष्टि बुद्धिसे भिन्न नहीं है। समष्टि बुद्धिका अर्थ है महत्तत्त्व। यदि समष्टिमें बुद्धि न होती तो पृथक्-पृथक् शरीरमें ज्ञान कहाँसे आता? अतः ज्ञानको महदात्मामें लीन करना चाहिए।

सम्पूर्ण संकल्प और सम्पूर्ण विशेष बुद्धियोंको शान्त करके जब हम अपने आपमें बैठते हैं, तब दीखता है कि अपना आपा कितना विशाल है। यह ईश्वर है, यह जीव है, यह जगत् है—यह सब जिसने कहा, वह मैं हूँ।

ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं ततोऽसि महेश्वरः।
गुरोर्योग्यत्वनिर्णेता त्वं ततोऽसि गुरोर्गुरुः॥

ईश्वर है, यह निर्णय किसने किया? हमने। ये गुरु बनाने-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योग्य हैं, इस प्रकार गुरुकी योग्यताका निर्णय किसने किया ? हमने ही। अतः हम ही महेश्वर और गुरुके गुरु हैं। हममें यह देहाभिमानरूप पशुत्व तो तब आता है जब अस्थि, मांस, चर्ममय देहके साथ अपने 'मैं' को बाँधकर बैठते हैं।

अतएव द्युलोकको मूर्धा, पृथ्वीको पैर, जलको मूत्रस्थान, अग्निको मुख, वायुको श्वास, सूर्यको नेत्र, आकाशको मध्यदेह बतलाना दोष नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, यही प्रथमपाद है। यह परमात्माको पानेका प्रथम प्रयास है।

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आधिदैविक है। इसके प्रत्येक पदार्थके अधिष्ठाता देवता हैं। वाणीका अधिदेवता अग्नि, नेत्रका अधिदेवता सूर्य, इस प्रकार समस्त पदार्थोंके अधिदेवता हैं। इस प्रकार इस आधिभौतिक प्रपञ्चको आधिदैविक जगत्सहित आत्माके चतुष्पाद रूपमें कहा है। केवल एक देहकी दृष्टिसे आत्मा चतुष्पाद नहीं है।

पंचीकृत पंचमहाभूत और उसका कार्य जगत् विराट्का शरीर है। अतः यह विश्वात्मा-वैश्वानर विराट्से पृथक् नहीं है। सम्पूर्ण आकाश विराट्का शरीर है तो आकाशमें जो शरीर हैं, वे विराट्के शरीरसे भिन्न कैसे होंगे ? सूर्य-चन्द्र विराट्के नेत्र हैं और विराट्की आत्मा हमारी आत्मा है, अतः विराट्के नेत्र सूर्य-चन्द्र हमारे नेत्र हैं। इस प्रकार विराट् पुरुषका वर्णन हमारा ही वर्णन है।

इस प्रकार अपनेको पहले विराट्से एक मानकर दूसरे पादके रूपमें हिरण्यगर्भको अपना स्वरूप, तृतीयपादके रूपमें अव्याकृत ईश्वरको अपना रूप और चतुर्थपादके रूपमें तुरीय अनन्त आनन्दरूपमें अवस्थिति हो जानेसे समस्त प्रपंचका उपशम होकर अद्वैतभावकी सिद्धि हो जायगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस स्थूलदेह, इसके अन्तःकरण और कारणशरीरको अपना मानते रहनेसे तो प्रपंच बना रहेगा। किन्तु सम्पूर्ण विश्वको अपना स्थूलशरीर, समष्टि सूक्ष्मको अपना सूक्ष्मशरीर और सम्पूर्ण कारणको अपना कारणशरीर माननेसे प्रपंचका उपशम होकर तुरीय तत्त्वमें स्थिति हो जायगी, अद्वैतावस्था प्राप्त हो जायगी।

आभासवादमें तीन सत्ताएँ मानते हैं : १. व्यावहारिक, २. प्रतिभासित और ३. पारमार्थिक। अलग-अलग शरीर और उनमें अलग-अलग मन, बुद्धि, जीव—यह व्यावहारिक सत्ता है।

दृष्टिसृष्टिवादमें केवल दो सत्ताएँ मानते हैं : १. प्रतिभासिक और २. पारमार्थिक। वहाँ व्यावहारिक सत्ता कोई वस्तु नहीं। ये अलग-अलग शरीर, मन, बुद्धि, जीवादि केवल प्रतीत होते हैं। ये व्यावहारिक नहीं, प्रातिभासिक हैं। स्वप्नके दृश्योंके समान ही जाग्रत्में जगत्का भी दृश्य प्रतीतिमात्र है। जैसे स्वप्नका सारा व्यवहार बिना किये प्रतीत होता है, वैसे ही समष्टिका सारा व्यवहार भी बिना किये प्रतीत हो रहा है। तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक द्वैतके उपशम होनेपर ही अद्वैतकी, मैं परिपूर्ण ब्रह्म हूँ' इसकी अनुभूति होती है।

मनुस्मृतिका यह वचन भाष्यमें उद्धृत किया गया है। मनुस्मृतिमें आया है :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

यह दृश्यमान सृष्टि क्या है? यह भूतोंकी सृष्टि है। जैसे श्मशानमें भूत-प्रेत नाचते दीखें, वैसे ही यह दीखताभर है। ये जितने भूत-प्राणि-पदार्थ दिखायी पड़ रहे हैं, इनमें सर्वरूपसे एक मैं ही हूँ और ये सब-के-सब प्राणि-पदार्थ मुझमें ही हैं। सब मुझमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही हैं और सब मैं हूँ। इससे एकत्व हो गया। इसका यह भी अर्थ हुआ कि विश्व और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं :

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण विश्व है। आत्मा ही पूरा विश्व है। जो ऐसा देखते हैं, वह परिच्छिन्न आत्माका यजन कर देते हैं। यही बात गीतामें भी आयी है :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

'तत्' पदार्थ सर्वमें अनुस्यूत है। 'त्वं' पदार्थ भी व्याप्त है। अतः 'तत्' तथा 'त्वं' पदार्थका एकत्व सिद्ध हो गया।

अब भाष्यकार श्रुति-प्रमाण दे रहे हैं। यह ईशावास्योपनिषद्की श्रुति है :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

'भूत' शब्दका अर्थ है, चराचर रूपसे जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब; क्योंकि भूतशब्द पंचभूतोंका और प्राणियोंका ही नहीं उत्पन्नमात्रका भी वाचक है। अतः यह जीव-अजीवसृष्टि जितनी भी प्रतीत हो रही है, उसे जो अपनेमें देखता है—जैसे स्वप्नसृष्टि अपनेमें—द्रष्टामें होती है, वैसे ही यह सृष्टि भी अपनेमें प्रतीत हो रही है—जिसने ऐसा जान लिया उसे किससे ग्लानि होगी? किसके प्रति संशय होगा? शरीरमें जो केश, नख, कफ, मूत्रादि हैं वे शरीरमें हैं तबतक तो उनसे घृणा नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि हम जिस वस्तुको अपनेसे बाहर कर देते हैं, वह अपवित्र हो जाती है। लेकिन जब अपनेसे बाहर कुछ है ही नहीं, अपनेसे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं तब अपवित्रता, घृणा, गन्दगी तुम्हारा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्पर्श कैसे कर सकेगी ? जब तुम अपनेसे किसीको भिन्न समझोगे, तभी वह तुम्हें काटेगी, मारेगी।

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्।

—इत्यादि। ब्राह्मणको जो अपनेसे भिन्न समझता है, ब्राह्मण उसका शत्रु है। क्षत्रियको जो अपनेसे भिन्न समझता है, क्षत्रिय उसका दुश्मन है। अपनेसे पृथक् जो सत्ता होगी, वह यही चाहेगी कि यह न रहे। तुम चाहोगे दूसरी वस्तु रखकर उसे उपभोग्य बनाना। इसीलिए लोभ बढ़ता है—'संसारका सब धन मेरे पास आ जाय।' लेकिन भेददृष्टिमें लोभ कभी पूरा नहीं होगा। वह सदा अपूर्ण रहेगा। एकत्वदर्शी ही पूर्ण है। कोई वस्तु कहीं रहे, कहीं जाय, वह तो उसमें ही स्थित है। जो ऐसा मानता है, उसके लिए मोह कहाँ ? यह मोह और शोक मनके खेल हैं और भेद-दर्शनसे आते हैं।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥—ईशोप०, ७

एकत्वदृष्टि हो गयी—यदि सम्पूर्ण दृश्य जगत्में एक ही आत्माका बोध हो गया तो कहाँ मोह और कहाँ शोक ? क्या ऐसी अवस्थामें अपने शरीरसे परिच्छिन्न ही प्रत्यगात्माको देखोगे ?

वस्तुतः शरीरसे परिच्छिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। क्या जन्मके साथ जो मिट्टी शरीरमें थी, वह शरीरमें है ? वह तो पता नहीं कबकी निकल चुकी। प्रतिदिन नवीन-नवीन मिट्टी शरीरमें प्रवेश कर रही है। इसी प्रकार शरीरस्थ जल, उष्णता, वायु आदि बाहर निकलते हैं और बाहरसे प्रतिक्षण शरीरमें आ रहे हैं। आकाश आता-जाता नहीं। मन, अहंकार, बुद्धि एवं उसकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुषुप्ति भी समष्टिसे भिन्न नहीं है। जीव भी ईश्वरसे भिन्न नहीं है। शरीरका प्रत्येक तत्त्व समष्टिसे एक है। जैसे चौका अलग करनेके लिए कोयलेसे एक रेखा खींच लेते हैं, वैसे ही मनसे एक रेखा खींच ली है—'यह मेरा शरीर; यह मैं; लेकिन यह रेखा सर्वथा मनकी कल्पित है। मनकी कल्पित रेखाको सत्य मानकर यदि तुम स्वदेहपरिच्छिन्न प्रत्यगात्माको देखोगे तो उपनिषद्-सिद्धान्त तुम्हारी बुद्धिमें कभी नहीं आयेगा। यह तो सांख्यादिके समान मानना होगा। उपनिषद्का सिद्धान्त है आत्माका एकत्व। अपौरुषेय ज्ञानके द्वारा यह बात प्राप्त हुई है कि आत्मा एक है।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि श्रुतिका तात्पर्य आत्माका एकत्व है, यह बात तो केवल शांकर-सिद्धान्तकी है। रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्कादि अन्य आचार्य तो ऐसा नहीं मानते। अतः यह बात तो एक सम्प्रदाय-विशेषकी हुई। इसमें देखनेकी बात यह है कि न्यायकर्ता महर्षि गौतम, वैशेषिकके आचार्य कणाद, पूर्वमीमांसाके आचार्य जैमिनि, योगाचार्य पतञ्जलि, सांख्याचार्य कपिल अपने मतोंकी पुष्टिके लिए वेदान्त-दर्शन अर्थात् भगवान् व्यासकी उत्तरमीमांसाका खण्डन करते हैं, क्योंकि अन्य दर्शनोंके मतोंका निराकरण किये बिना न्याय आदि किसी भी दर्शनकी पुष्टि होती नहीं। अतः प्रत्येक दर्शनको दूसरे सब दर्शनोंके मतोंको पूर्वपक्ष बनाकर उनका खण्डन करना पड़ता है। इस प्रकार इन दर्शनाचार्योंने वेदान्त-दर्शनका क्या सिद्धान्त मानकर उसका खंडन किया, यह हम देखें तो वेदान्तके सिद्धान्तका ठीक पता लग जायगा। इस प्रकार देखेंगे तो सभी दर्शनाचार्योंने वेदान्तका सिद्धांत आत्मा और ब्रह्मकी एकता मानकर ही उसे पूर्वपक्ष बनाया है।

जो दर्शन जिसका प्रतिपादन करने चला है, उस विषयमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी दर्शनका मत प्रामाणिक है। प्रमाणके प्रतिपादनमें न्याय-दर्शन, विशेषके प्रतिपादनमें वैशेषिक-दर्शन, आत्मा-अनात्माके विवेकमें सांख्यदर्शन, मनकी एकाग्रताके प्रतिपादनमें योगदर्शन, धर्मानुष्ठानमें पूर्वमीमांसा-दर्शन, उपासनामें देवर्षि नारद तथा शाण्डिल्यके भक्तिदर्शन प्रमाण हैं। इसी प्रकार सत्य वस्तुके प्रतिपादनमें भगवान् व्यासका उत्तरमीमांसा-दर्शन (वेदान्त) ही प्रमाण है।

अतः तत्त्वके प्रतिपादनमें वेदान्त ही प्रमाण है और वेदान्तकी यह बात ध्यानमें बैठा लेनी चाहिए कि 'एकके ज्ञानसे ही सबका ज्ञान होगा।' यदि जगत्के मूलमें एक ही वस्तु न हो तो एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान कैसे होगा ?

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति

जिसके देखने, सुनने, समझनेपर सब देखा, सुना, समझा हो जाता है, वह अपना आत्मा ही है। क्योंकि वह हम न हों, दूसरा हो तो वह एक नहीं हो सकता। तब तो वह और उसे माननेवाला 'मैं' यह दो हो जायँगे। अतः वह अपना आत्मा ही है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्—ब्रह्मसूत्र

प्रतिज्ञा और दृष्टान्तको देखते हुए प्रकृति भी ब्रह्म ही है। प्रतिज्ञा तो है कि एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है और दृष्टान्त है मिट्टी या सोनेका कि जैसे मिट्टीके सब विकार मिट्टीको जाननेसे जान लिये जाते हैं अथवा सोनेके सब विकार सोनेको जाननेसे जान लिये जाते हैं। इस दृष्टान्तका उपरोध न हो—इससे ब्रह्म ही सबका उपादान कारण है, यह बात निश्चित करनी पड़ेगी। अतः परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

यदि उपनिषद्का सिद्धान्त भी भेद प्रतिपादक ही मानें तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सांख्य आदि दर्शनोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं रह जायगी। फिर वेदान्त-दर्शनकी पृथक्ताका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

सम्पूर्ण उपनिषदोंका सर्वात्मैक्य प्रतिपादकत्व ही अभीष्ट है। योगदर्शन और सांख्यदर्शन केवल 'त्वं' पदार्थका प्रतिपादन करते हैं और भक्तिदर्शन केवल परमात्मा का—'तत्' पदार्थका प्रतिपादन करता है। लेकिन केवल परमात्माके ज्ञान या केवल आत्माके ज्ञानसे अद्वैत ज्ञान नहीं होगा। इसलिए उपनिषद् आत्मा या परमात्माके प्रतिपादक नहीं हैं। आत्मा और परमात्माके एकत्वके प्रतिपादक हैं। क्योंकि आत्मा और परमात्माके एकत्वके ज्ञानके विना अविद्या-निवृत्ति नहीं होगी।

इसलिए यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि इस देहको मैं माननेवाला जो इसके भीतर अध्यात्मपुरुष बैठा है, उसका द्युलोक सिर है, पृथ्वी पैर है, आदि सप्तांग कहकर विराट्से एकत्व वतलाया। अत्र इस विषयसे प्रमाण देते हैं।

मूर्धा ते व्यपतिष्यत्।

'तुम्हारा सिर कटकर गिर जायगा।' यह वक्ता (याज्ञवल्क्य) ने कहा। इसमें वक्ताका तात्पर्य सिर कटकर गिरनेसे नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'तुम्हें स्वर्ग नहीं मिलेगा।' अतः सिर द्युलोक है, यह वात यहाँ भी उपनिषद्के वक्ताने सूचित की है।

विश्वका विराट्के साथ यहाँ जो एकत्वका प्रतिपादन है, तैजसके साथ हिरण्यगर्भका और प्राज्ञका अव्याकृतात्मा ईश्वरके साथ एकत्वका वर्णन है, यह अलग-अलग नहीं है। यह तो पृथक्-पृथक् अभिमानको नष्ट करनेके लिए हैं, स्थूल देहाभिमान नष्ट करनेके लिए विश्वाभिमान, सूक्ष्मदेहका अभिमान अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अभिमानको नष्ट करनेके लिए हिरण्यगर्भसे तैजसका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकत्व और व्यष्टि जीवके अहंकारको दूर करनेके लिए प्राज्ञका अव्याकृतात्मा ईश्वरसे एकत्व बताया है।

यह उपनिषद्की विशेष प्रणाली है कि सर्वत्र उपाधिको पृथक् करके निर्विशेषकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। निर्विशेष एक ही होता है। जहाँ एकसे दूसरेका भेद होगा, वहाँ किसी विशेषताको लेकर ही भेद होगा। एकत्व होता है वहाँ जहाँ दोनोंमें पृथक् गुण-धर्मकी विशेषता नहीं होती।

अब ग्रन्थमें विश्व और विराट्की एकता बतलायी। जाग्रत् अवस्थाका अभिमानी विश्व और समष्टिसृष्टि—अर्थात् सम्पूर्ण जाग्रत्का अभिमानी विराट्। अतः जब विश्व और विराट्को एक कहते हैं तो विश्वका अर्थ परिच्छिन्न देहका अभिमानी नहीं होता। विश्वका अर्थ है विराट्। चेतनकी दृष्टिसे उसे विराट् कहते हैं और जड़की दृष्टिसे सामान्य लोग उसे विश्व कहते हैं। प्रकृतिकी दृष्टिसे जिसे महत्तत्व कहते हैं, चेतनकी दृष्टिसे उसीको हिरण्यगर्भ कहते हैं। प्रकृतिको दृष्टिसे जिसे अव्याकृत कहते हैं, चेतनकी दृष्टिसे बोलनेपर उसीको ईश्वर कहेंगे।

ईश्वरके विषयमें हम सोचते हैं कि इस शरीरमें इसके अभिमानी बनकर बैठे हम तो जीव हैं और सम्पूर्ण विश्वका संचालक ईश्वर कहीं सातवें आसमानमें बैठा है, किन्तु यह विचार भ्रांत है। अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर इसी शरीरमें विद्यमान है। जो वस्तु जहाँ न हो, वहाँ तो वह किसी क्रियासे बनायी या लायी जायगी, किन्तु वहाँ हो और हम पहिचानते न हों तो ज्ञानसे, पहिचानसे उसकी प्राप्ति होगी। अत; ईश्वरकी प्राप्ति ज्ञानसे मानी जाती है। देहमें अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर है। जहाँ देह है, वहीं विश्व है और जहाँ विश्व है, वहीं विराट् है। महत्तत्त्व-समष्टि बुद्धि देहमें भी है क्योंकि समष्टिसे कोई व्यष्टि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पृथक् रह नहीं सकता। अतः हिरण्यगर्भ भी यहीं है। अव्याकृत प्रकृति भी इस शरीरमें है, तब ईश्वर भी है ही। इन सबका निषेध भी होनेसे ब्रह्म यहीं है। तात्पर्य यह कि विराट् हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी और ब्रह्म अन्य देशमें माननेसे सबके सब देशपरिच्छिन्न हो जायँगे। ये यहाँ हैं तो इनकी उपलब्धि भी यहीं होती है।

यह विश्व और विराट्का एकत्व उपलक्षण है। उपलक्षणका अर्थ है संकेत—तैजस और हिरण्यगर्भ तथा प्राज्ञ और ईश्वरके एकत्वका यह संकेत है।

कुल तीन अवस्थाएँ हैं। समाधिका अन्तर्भाव सुषुप्तिमें ही है। समष्टिकी सुषुप्तिका ही नाम महाप्रलय है। तुरीय आत्मा नहीं, वह तो तत्त्व है। वह तीनों अवस्था नहीं वह तो तत्त्व है। वह तीनों अवस्थाओंमें व्याप्त है। जो लोग सुषुप्तिका अज्ञानमें लय मानते हैं, उनके लिए यह प्रश्न बन जाता है कि ब्रह्मज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया, उसकी सुषुप्तिका लय कहाँ होता है?

जीवन्मुक्तकी सुषुप्ति तुरीयावस्था है। जीवन्मुक्तका भाषण शास्त्र है, उसका आचरण धर्म है, मनोराज्य भगवल्लीला है और उसका स्वरूप ब्रह्म है। व्यवहारका मूल भेद-ज्ञान है। अभेद-ज्ञान न प्रवर्तक है, न निवर्तक। क्योंकि सब एक ही है तो 'यह करो' 'यह न करो' को अवकाश कहाँ है? अज्ञानीका धर्माधर्म कर्तृत्वपूर्वक होनेसे फलोत्पादक है और ज्ञानीका आचरण कर्तृत्वपूर्वक नहीं होनेसे फलोत्पादक नहीं है।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥

—श्रीमद्भागवत

ज्ञानी पुरुष निषिद्ध कर्म नहीं करता; किन्तु निषिद्ध कर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करनेमें दोप है, यह समझकर उसका त्याग नहीं करता और विहित कर्म करता है, किन्तु विहित कर्म करनेमें गुण है, पुण्य है; ऐसा मानकर उसे नहीं करता। वालकके समान ज्ञानीकी सहज प्रवृत्ति होती है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥—श्रीमद्भागवत

छोटे बड़े सव प्राणियोंमें पंचभूत प्रविष्ट दीखते हैं, पर प्रविष्ट नहीं हैं। क्या शरीर वननेपर उसमें मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश प्रविष्ट हुए? नहीं, वे तो पहलेसे थे। शरीर तो उनमें ही एक आकृतिमात्र वना। अतः परिच्छिन्न देहको पांच भौतिक दृष्टिसे पंचमहाभूतोंसे एक कर दो। अव पंचभूतोंका अभिमानी पृथक् और उनमें खिची एक आकृतिका अभिमानी पृथक् रहेगा क्या? इस प्रकार स्थूल देहको समष्टिके साथ एक करनेसे अभिमानीका एकत्व भी प्रतिपादित हो जाता है।

यहाँ मधुब्राह्मण उद्धृत करते हैं। **इयं पृथ्वी सर्वेषां भूतानां मधु**। यह श्रुति कहती है कि यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियोंका मधु है अर्थात् जीवोंके समष्टि प्रारव्धसे पृथ्वी वनी है। जीवोंका प्रारव्ध दो प्रकारका होता है—समष्टि प्रारव्ध और व्यष्टि प्रारव्ध। यह शरीर, रंग-रूप, सुख-दुःख व्यष्टि प्रारव्धसे वने हैं और पृथ्वी, नदियाँ, पर्वत, ऋतुएँ आदि समष्टि प्रारव्धसे वनी हैं।

व्यवहारमें कर्म अनादि प्रवाह रूपसे नित्य है। कर्मके फलसे संस्कार होता है, संस्कारसे वासना होती है और वासनासे फिर कर्म होता है। कर्ममें अपना कर्तृत्व माननेसे हम उसका फल भोगनेके लिए वँधते हैं। सृष्टि अनादि प्रवाह रूपसे चल रही है। इसमेंसे 'मैं' को उठा लो और छूट जाओ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत् पञ्चत्वमहम्मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥—श्रीमद्भागवत

द्रव्यके उपलब्धिके स्थानोंमें जो द्रव्यकी इन्द्रियोंमें विषयोंकी उपलब्धिकी योग्यता रहती है, उसका न रहना मृत्यु है। एक शरीरमें भोग देनेवाला प्रारब्ध समाप्त हो गया और दूसरे देहमें भोग देनेवाले प्रारब्धका अभी उदय नहीं हुआ; इतना ही समय मृत्युका है।

'अहम्' के रूपमें किसी द्रव्यको देखना उत्पत्ति है। इसीका नाम जन्म है। यदि द्रव्यमें सत् वुद्धि होगी तो उपादेय वुद्धि भी होगी और तव उसके साथ अहंता भी होगी। अतः जव ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान होगा, तभी इस प्रपंचकी निवृत्ति होगी। क्योंकि तव प्रपंचका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेसे उससे 'अहम्'का भाव छूट जायगा।

मधु ब्राह्मणने कहा कि पृथ्वी सवकी वनायी है, सवके प्रारब्ध से वनी है और सव प्राणी पांचभौतिक होनेसे पृथ्वीके वनाये हैं। इस पृथ्वीमें जो तेजोमय पुरुष है, वह अमृतमय है और शरीरमें जो अध्यात्म पुरुष है, वह भी तेजोमय, अमृतमय है। अतः शरीरमें रहनेवाला पुरुष, आत्मा और पृथ्वीमें, समष्टिमें रहनेवाला पुरुष ब्रह्म ये दोनों एक हैं। यह पृथ्वी और शरीर दोनों न तेजोमय हैं, न अमृतमय। ये परतः प्रकाश्य हैं। अतः ज्ञानके विषय मात्र हैं—विनाशी हैं। अतः दृश्य होनेसे, विकारी होनेसे, परप्रकाश्य होनेसे समष्टिरूप पृथ्वी और व्यष्टि शरीर मिथ्या हैं। पुरुष सत्य है।

सुषुप्ति और अव्याकृतकी एकता तो सिद्ध ही है, क्योंकि निर्विशेषत्व ही उनके एकत्वको सिद्ध करता है। अव्याकृतमें कोई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विशेषता नहीं और सुपुप्तिमें भी कोई विशेषता नहीं। भेद तो विशेषता होनेपर ही होता है।

यहाँ अभिप्राय है कि सर्वद्वैतकी उपशान्ति होनेसे ही अद्वैत-बोध नहीं होता है। क्योंकि सुषुप्तिमें द्वैतकी उपशान्ति हो जाने-पर भी जागते ही द्वैतकी उपलब्धि सत्यरूपमें प्रतीति होने लगती है। अतः सर्व द्वैतकी उपशान्ति होनेपर भी गुरुके द्वारा महावाक्यके उपदेशसे ही अद्वैत बोध होगा। अर्थात् प्रतिबन्धका ध्वंस होनेसे ही अद्वैत स्फूर्ति नहीं होगी; किन्तु महावाक्योपदेशसे ही स्फूर्ति होगी।

विचार करके देखो कि कोई वस्तु हमारे सामने है और दिखायी दे रही है। ढँकी नहीं है। फिर भी हम उसे न पहिचाननेके कारण उसीको ढूँढ़ रहे हैं तो जबतक कोई बता न दे कि वह वस्तु यह है, तबतक अन्य कोई साधन उस वस्तुको कैसे प्राप्त करा सकेगा? अतः अद्वैत-बोध शब्द प्रमाणके बिना, महा-वाक्य श्रवणके बिना नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चौथा मन्त्र

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञानेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—'अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय' (बृ० उ० ४.३.९) इति। तथा 'परे देवे मनस्येकीभवति' (प्र० उ० ४.२) इति प्रस्तुत्य 'अत्रैव देशः स्वप्ने महिमानमनुभवति' (प्र० उ० ४.५) इत्याथर्वणे।

इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तः प्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयःपादस्तैजसः॥ ४॥

आत्माका द्वितीय पाद—तैजस

हम देह नहीं हैं, व्यष्टि नहीं हैं, विराट् हैं। सम्पूर्ण विश्व हमारा शरीर है। यह परमात्माकी प्राप्तिकी ओर प्रथम पाद था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब दूसरा पाद उठावें। दूसरा पाद है स्थूलको छोड़कर सूक्ष्ममें चलना।

यदि स्थूल ही व्यष्टि नहीं, तो सूक्ष्म व्यष्टि है यह बात तो अपने आप समाप्त हो गयी। भेदकी अधिक सम्भावना स्थूलमें ही रहती है। सूक्ष्म मनका आधार स्थूल नहीं हो सकता। स्थूल आकाशका आधार सूक्ष्म मन होगा? स्थूलका आधार सूक्ष्म होता है, सूक्ष्मका आधार स्थूल नहीं हो सकता।

उपाधिकी अनेकतासे द्रष्टा अनेक होगा या नहीं? उपाधिकी अनेकतासे प्रमाता तो अनेक हो जायगा, किन्तु द्रष्टा अनेक नहीं होगा। अब विचार करो कि अन्तःकरणकी उपाधि देशमें है या कालमें? देशकी कल्पना ही अन्तःकरणमें है। जब अन्तःकरण है, तब लम्बाई-चौड़ाईरूप देश भासता है। सुषुप्तिमें देश कहाँ प्रतीत होता है? स्वप्नमें जैसे अन्तःकरण आकाशकी सृष्टि करलेता है; वैसे ही जाग्रत्‌में भी आकाशकी सृष्टि इसीने की है। अर्थात् यह स्वयंज्योति है। अतः मनमें आकाशहै, आकाशमें मन नहीं है।

यह स्थूल शरीर मनमें है या शरीरमें मन है? शरीर आकाशके एक भागमें है और आकाश मनमें है तो शरीर भी मनमें है। स्वप्नमें हम जो अपना शरीर और पूरा संसार देखते हैं, वह सब मनमें ही होता है। इसी प्रकार जाग्रत्‌का शरीर और संसार भी मन ही है। इस शरीरमें जो मन प्रतीत हो रहा है, वह अन्तःकरणाभास है। इस देहमें जो जीव प्रतीत हो रहा है, वह जीवाभास है। यही परमात्माकी ओर दूसरा पाद उठाना है कि सम्पूर्ण सूक्ष्म समष्टि मेरा सूक्ष्म शरीर है और उसका अभिमानी तैजस मैं हूँ।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन कार्यालयके समान पृथक्-पृथक् स्थान हैं। इनमेंसे जाग्रत् तो दूकानके समान है। कर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करो और उस कर्मका फल प्राप्त करो। स्वप्न प्रयोगशालाके समान है। वहाँ हम प्रयोगशालाके समान धरती, आकाशादि सब बना लेते हैं और नाना प्रकारके अनुभव करते हैं। जाग्रत्में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, मनपर उसका संस्कार है और उसीके अनुसार हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न संस्कारजन्य है। लेकिन जाग्रत् भी संस्कारजन्य ही है। पूर्वजन्मके संस्कार ही इस जन्ममें जाग्रत्में देख रहे हैं। स्वप्न और जाग्रत् दोनों वासनात्मक हैं। इस तैजसके रहनेका स्थान स्वप्न है। सुषुप्ति तीसरा स्थान है। वह सोनेकी, विश्राम करनेकी स्थली है। विश्रामके लिए हम वहाँ पहुँचते हैं।

जाग्रत्की प्रज्ञा—बुद्धिके पास अनेक साधन हैं। नेत्र, कर्ण नासिकादि इन्द्रियाँ उसके साधन—करण हैं। ये सब साधन बाह्य विषयोंको भी प्रकाशित करते—ग्रहण करते हैं।

यह निरूपण जाग्रत्को स्वप्न और स्वप्नको जाग्रत्के समान समझानेके लिए है। जाग्रत् स्थूल है और स्थिर भासता है और स्वप्न स्थिर नहीं भासता, इतना ही वैधर्म्य इन दोनोंमें हैं। जाग्रत्में बुद्धि बाह्य पदार्थोंको विषय बनाती प्रतीत होती है।

मनः स्पन्दनमात्राः लेकिन यह बाह्य प्रज्ञा मनका स्पन्दन रूप ही है। **मनः स्पन्दनमात्राः** का तात्पर्य है कि बाह्य विषय कोई पदार्थ नहीं हैं, वे मनकी स्फुरणामात्र हैं। जाग्रत्का ज्ञान भी मनकी स्फुरणा ही है; यह अवधारणा है। इसी प्रज्ञाका मनपर संस्कार पड़ जाता है। जो अपने समयमें अपनेको जाग्रत् दिखावे, वह स्वप्न है। यह स्वप्न दम्भावस्था है; क्योंकि जैसा है उससे भिन्न अपनेको दिखायी देती है। इस समय जो जाग्रत् है, वह भी तो ऐसी ही अवस्था है। वह भी स्वप्नके समान ही है।

जाग्रत अवस्थामें हम जो कर्म करते हैं, उसके संस्कार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मनपर पड़ जाते हैं और वही स्वप्नमें दिखालाई देते हैं। जैसे कोई कपड़ेको रंग दे, इसी प्रकार मन संस्कारोंसे रँगा हुआ स्वप्नमें प्रतीत होता है। लेकिन ये संस्कार इसी जन्मके नहीं होते। पूर्व जन्मके भी संस्कार होते हैं। इसीलिए स्वप्नमें ऐसी बातें भी दीखती हैं जो इस जन्ममें देखी-सुनी नहीं है। स्वप्नमें संस्कारोंका असम्बद्ध मेल भी हो जाता हैं। जैसे मनुष्यके शरीरपर हम घोड़ेका सिर देखते हैं। स्वप्नमें उन कर्मोंका फलभोग भी हो जाता है, जिनमें जाग्रत्‌में फल देने जितनी शक्ति नहीं होती। इस प्रकार स्वप्न भी जाग्रत्‌के समान ही है और वहाँ भी कर्मफलका भोग प्राप्त होता है। सत्त्वगुण प्रधान जाग्रत् अवस्था, रजोगुण प्रधान स्वप्नावस्था भी कुछ लोग मानते हैं। आयुर्वेदज्ञ वात-पित्त-कफकी प्रधानतासे तीनों अवस्थाएँ मानते हैं और स्वप्नको पित्त प्रधान मानकर फिर उसमें भेद करते हैं कि यदि स्वप्नमें जल दीखे तो कफकी, अग्नि दीखे तो पित्तकी और अपनेको उड़ते देखें तो वातकी वृद्धि समझनी चाहिए। शकुन-शास्त्रज्ञ भी स्वप्नके फलका विचार करते हैं।

यह सब वेदान्त-विचारका विषय नहीं है। स्वप्न किसने दिया, उसका क्या फल होगा आदि हमारे विचारके विषय नहीं हैं। विचारका विषय यह है कि जिस देशकालमें, जिस रूपमें स्वप्न दिखायी देता है, वह देश-काल-वस्तु सत्य नहीं हैं। वे जगत्‌में नहीं हैं। स्वप्न 'बाह्यसाधनानपेक्ष' है। उनमें जो वस्तुएँ हैं, जो कार्य दीखते हैं वे इस जगत्‌के किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रखते। स्वप्नका घड़ा यहाँकी मिट्टीसे नहीं बना और स्वप्नमें जो अग्नि लगी दीखती है, उसे यहाँके दमकल बुझा नहीं सकते। अविद्या, काम और कर्म इन तीनोंका ही नाम संसारचक्र है। अविद्या सबके मूलमें बैठी रहती है। कामनासे कर्म और कर्मसे फिर कामना—यही चक्र है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धार्मिक कहते हैं कि कर्मको शुद्ध कर दो तो कर्म शुद्ध होनेसे वासना शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। उपासक कहते हैं कि वासनाको शुद्ध करो और भगवत्प्राप्तिकी वासना करो। इसमें कर्म शुद्ध होंगे, कर्म शुद्ध होनेसे संस्कार शुद्ध होंगे और भगवत्प्राप्ति हो जायगी। योगी चित्तवृत्ति-निरोध करनेको कहते हैं। समाधिसे संस्कार अत्यन्त अभिभूत हो जायँगे। अतः वासना और कर्म-प्रवृत्ति क्षीण हो जायगी। वेदान्त कहता है कि मूलमें बैठी अविद्या जबतक निवृत्त नहीं होगी, तबतक संसार-चक्रसे छुटकारा नहीं मिलेगा।

अपने स्वरूपको ब्रह्म न जानना अविद्या है। इस अविद्याके कारण अपनेको परिच्छिन्न एवं अन्यको सत्य मानना भ्रान्ति है। अपनेसे भिन्न मानते ही उसमें हेय-उपादेय बुद्धि होगी और तब यह चाहिए, यह नहीं चाहिए, ऐसी कामना होगी और कामनाके अनुसार कर्म होंगे, कामनाके अनुसार प्रयत्न—कर्म होगा तो उस कर्मका संस्कार भी अन्तःकरण पर पड़ेगा ही। इसप्रकार जबतक अन्यकी प्रतीति होगी, संसार नहीं छूटेगा। अविद्या, काम और कर्मसे मनुष्य प्रेरित हो रहा है। इन्हींकी प्रेरणासे स्वप्नकी सृष्टि जाग्रत्के समान प्रतीत होती है।

एकदम बचपनमें कोई वस्तु देखी थी। वर्षों तक उसका स्मरण नहीं आया, सहसा वह स्मरण आती है और स्वप्नमें दीखती है अथवा स्वप्नमें दीखती है, तब स्मरण आती है। यह स्मृति इतने वर्ष कहाँ थी? जैसे टेप-रेकार्डमें देखें तो कुछ दीखेगा नहीं, किन्तु मशीनपर चढ़ानेपर रेकार्डमें भरे शब्द निकलने लगते हैं, ऐसे ही हमारे भीतर देखे, अनुभव किये विषयोंके इस जन्मके और पिछले जन्मोंके संस्कार छिपे पड़े हैं। माता-पिता, पितामह आदिके संस्कार भी इन्हींके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साथ हैं। इनमेंसे कोई कभी स्वप्नमें निकल आवे, यह सर्वथा सम्भव हैं। ऐसा भी होता है कि आज जो वसिष्ठ, भारद्वाज आदि गोत्रमें हैं, उनमें उन ऋषियोंके ज्ञानका कोई बीज आ गया हो। अबतक जो परम्परा उन तक आयी, उसमें कोई संस्कार सुप्त रूपमें लाखों वर्षसे चलता आया और सहसा जाग पड़ा। अतः स्वप्नमें कहाँ तक वर्तमान संस्कार हैं और कहाँ तक पूर्व जन्म या पूर्व पुरुषोंके संस्कार हैं; यह निर्णय असम्भव है।

स्वप्न विवर्त है अर्थात् है नहीं, किन्तु संस्कारसे प्रतीत हो रहा है। यह जाग्रत् भी विवर्त है, क्योंकि एक अद्वयतत्त्वमें संस्कारके कारण प्रतीत हो रहा है। इसलिए कहा कि स्वप्न जाग्रत्के समान प्रतीत हो रहा है।

यहाँ श्रुति उद्धृत की आचार्यने। 'सर्वा' का अर्थ है साधन, सम्पत्ति, उससे जो युक्त है, वह हुआ 'सर्वावान्'। समस्त साधनोंसे युक्त जो यह लोक है, यह देह है; जिसमें नेत्रादि इन्द्रिय हैं, शब्दादि विषय हैं, इन सबकी मात्रा लेकर स्वप्नमें सो जाते हैं। सम्पूर्ण विषय इन्द्रियोंमें और इन्द्रियाँ मनमें लीन हो जाती हैं।

ऐसा प्रस्ताव करके अर्थात् मनमें इन्द्रियोंका अन्तर्भाव करके ये देव स्वप्नमें अपनी महिमाका अनुभव करते हैं। ये देव हैं, क्योंकि इन्हींके प्रकाशमें सब दीखता है। यह अपना प्रकाश ही तो है जिसमें सूर्य-चन्द्र दीखते हैं; मन-बुद्धि दीखती है, जिसमें सुषुप्ति भी प्रकाशित होती है। स्वप्नमें ये आत्मदेव अपनी महिमाका अनुभव करते हैं अर्थात् देश, काल, वस्तु कुछ न होनेपर ये वहाँ देश, काल और पूरे विश्वकी सृष्टि कर लेते हैं।

श्रुतिने 'अन्तःप्रज्ञ' कहा है। इन्द्रिय गोलककी अपेक्षा भीतरी होनेसे मनकी वासना रूपी प्रज्ञाको अन्तःप्रज्ञा कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन्द्रिय गोलक तो स्वप्नमें रहते नहीं हैं। वहाँ जो वस्तु है, केवल वासना है। यह वासना ही आच्छादक-पर्दा भी है। हम वहाँ द्रष्टाको न देखकर वासनाको देखते हैं। अपने ऊपर तो कोई पर्दा है नहीं। दृष्टिपर ही आवरण है। एकजीववादकी दृष्टिसे विचार करनेपर 'तत्' और 'त्वं' पदार्थके मध्यमें संसार रूपी आवरण आता है। यह आवरण विचार न करनेके कारण दृष्टिपर है। जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति है। हमें रज्जु देखना है तो रज्जु और नेत्रके मध्य जो सर्प प्रतीत होता है, उसे विचारके द्वारा हटाना होगा। रज्जु पर तो कोई आवरण है नहीं।

अब यदि रज्जुसे उपहित चैतन्यको देखना है तो वह कहाँ दीखेगा? दीखे तो दृश्य हो जाय, जड़ हो जाय। चैतन्यका साक्षात्कार अन्य रूपमें नहीं, 'अहम्' रूपमें ही होगा। स्वप्नमें जो वासनामयी प्रज्ञा है, वह अपनी ही प्रज्ञा है। यह संसार मेरा है अतः मैं विश्व हूँ। स्वप्नप्रज्ञा मेरी है, अतः मैं तैजस हूँ।

केवल प्रकाश-स्वरूपमें जो विषयी रूपसे रहता है, उसे तैजस कहते हैं। प्रश्न उठता है कि स्वप्नमें तो चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि कोई तैजसतत्व नहीं रहता। फिर स्वप्न-द्रष्टाको तैजस क्यों कहा जाता है? उत्तर है कि विषयशून्य प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञाका नाम ही तेज है, उसमें जो विषयरूपसे रहता है—वासनायुक्त प्रज्ञामें जो विषयी रूपसे रहता है, उसका नाम तैजस है।

विश्व भी प्रज्ञाका ही भोग है और तैजस भी प्रज्ञाका भोग, तो दोनोंमें अन्तर क्या है? इसका यह उत्तर दिया जाता है कि ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित केवल ज्ञानका नाम प्रज्ञा नहीं है। जहाँतक ज्ञानमें ज्ञानका अभिमानी ज्ञाता और ज्ञानका विषय है, वहाँतक प्रज्ञा है। प्रज्ञा तो जाग्रत्में भी वही है और स्वप्नमें भी वही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि एक बुद्धि न हो तो जाग्रत्में स्वप्नका स्मरण ही न हो। ऐसी अवस्थामें विश्व और तैजसका भेद इसलिए किया जाता है कि विश्वको (जाग्रत्में) तो तैजसके अनुभव (स्वप्न) की स्मृति होती है; किन्तु तैजसको (स्वप्नमें) विश्वके अनुभव (जाग्रत्) की स्मृति नहीं होती। अतः विश्व कार्यका अभिमानी है और तैजस सूक्ष्म कारणका अभिमानी। विश्व और तैजसका भेद केवल विषय-भेदसे किया जाता है; क्योंकि जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल पदार्थ प्रज्ञाका भोग्य है और स्वप्नावस्थामें सूक्ष्म विषय है प्रज्ञाका भोग्य। भोग्य कहीं भी विषय नहीं, प्रज्ञा ही होती है, वृत्ति ही भोग्य होती है। विना वृत्तिके किसी विषयका बोध नहीं होता। वस्तुका रूप, रंग, गन्धादि भोग्य नहीं बनता। रूपाकार, गन्धाकार वृत्ति भोग बनती है। अतः जब प्रज्ञा ही भोग्य है, तब प्रज्ञाका भेद क्यों? इसका उत्तर देते हैं :

यहाँ केवल वासनामात्र प्रज्ञा है। उसमें स्थूल विषय नही हैं। अतः यह जाग्रत्के भोगसे पृथक् है। प्रविविक्तका अर्थ है पृथक्। दूसरी सब बातें समान हैं। अर्थात् विश्वके सात अंग ही तैजसके हैं और वे ही उन्नीस मुख इसके भी हैं। केवल दोनोंके भोग पृथक्-पृथक् हैं। विश्व बहिष्प्रज्ञ है तो तैजस अन्तःप्रज्ञ। वह स्थूलभुक् है तो यह प्रविविक्तभुक्। उसका स्थान जाग्रत् है, तो इसका स्वप्न। यह तैजस ही द्वितीय पाद है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाँचवाँ मन्त्र

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात् सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादिविशेषणम्। अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—

तत्त्वका अर्थ वास्तविकता है और उसका अप्रबोध अर्थात् उसे ठीक न समझना ही सुषुप्तिका लक्षण है। यही अज्ञान-निद्रा है।

किसी वस्तुको देखने और न देखने, इन दोनोंमें ही उस वस्तुको ठीक न समझना रहता है। अतः अज्ञान तो दर्शन-अदर्शन दोनों वृत्तियोंमें समान रूपसे रहता है। जाग्रत् तथा स्वप्नमें पदार्थ दीखते हैं और सुषुप्तिमें नहीं दीखते, किन्तु अज्ञान तीनों अवस्थाओंमें रहता है। अतः अब दर्शनवृत्ति-रूप स्वप्न और जाग्रत्को पृथक् करके अदर्शनवृत्तिरूप सुषुप्तिका विभाग करनेके लिए आगेका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

जाग्रत् और स्वप्नमें दृश्य देखते हैं। इस दर्शनवृत्तिमें भी आत्मा है और सुषुप्तिमें जब कुछ नहीं मालूम पड़ता तो उस अदर्शनवृत्तिमें भी आत्मा है। दर्शन और अदर्शन दोनों वृत्तियाँ आत्माकी नहीं हैं। अतः दोनोंका अपवाद कर साक्षी रूपसे आत्मा-का बोध होता है।

ब्रह्म विदितसे भी दूर और अविदितसे भी दूर रहता है। विदित है जाग्रत् और स्वप्न तथा सुषुप्ति है अविदित। इस विदित-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविदितको छोड़कर जो रहता है, वह साक्षात् ब्रह्म है। विदित-अविदितको छोड़कर स्वतःसिद्ध तुरीय पदकी आत्मरूपसे प्राप्ति हो जाती है।

दूरमथ यो विदितादविदितादधि। —केनोपनिषद्

अथवा दर्शन-अदर्शन, विदित-अविदित दो अवस्थाएँ न मानकर तीन अवस्थाएँ मान लो : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। दृष्टि-सृष्टि-वादमें तो अन्यथाग्रहण एवं ग्रहणरूप दो अवस्थाएँ मानी हैं। सत्ता भी दो ही मानते हैं। इन दोनोंको प्रातिभासिक एवं आत्माको पारमार्थिक जाग्रदवस्थारूप तीसरी व्यावहारिक सत्ता भी मानते हैं। अतः तीन अवस्थाएँ मानकर भी विवेचन होना चाहिए।

जाग्रत्-स्थान, स्वप्न-स्थान और सुषुप्ति-स्थान ये तीनों तत्त्वके न जाननेकी अवस्थाएँ हुईं। यह तत्त्वाप्रबोध क्या है? किसी वस्तुका वह मूल द्रव्य, जिसके बिना उस वस्तुकी सत्ता न रह सके, तत्त्व है। जैसे मिट्टीके बिना घड़ा नहीं रहता, अतः घड़ेका तत्त्व मिट्टी है। इन्द्रिय, मन आदिसे जाग्रत् या स्वप्नमें यह जो कुछ देखते हैं, वह नाम-रूप है। इस नाम-रूपका मूलाधार क्या है, यह नहीं जानते—यही जाग्रत् और स्वप्नमें तत्त्वका अप्रबोध हुआ। सुषुप्तिमें अदर्शन-वृत्ति है; किन्तु उस वृत्तिका जो मूलाधार तत्त्व है, उसे कहाँ जानते हैं? अतः सुषुप्तिमें भी तत्त्वका अप्रबोध है।

यह तत्त्वका अप्रबोध ही सुषुप्ति है। तत्त्वके अप्रबोधमें प्रतीत जाग्रत् और स्वप्न भी सुषुप्तिका ही विलास है। जागना है तत्त्वको समझना। अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंमें जहाँ समानरूपसे तत्त्वका अप्रबोध है, वहाँ सुषुप्तिकी विशेषता बतलानेके लिए जाग्रत् और स्वप्नसे उसका विभाग करते हैं :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं, कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तद् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयः, ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

यत्र यस्मिन् स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, न कञ्चन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिव अन्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतद् सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः।

स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागेन अविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिव आहः सप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते। अतएव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव। सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसा विभज्यमानं सर्वं घनमिव, तद्वत् प्रज्ञानघन एव। एव शब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः।

मनसो विषय-विषय्याकारस्पन्दनायास-दुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नाऽऽनन्द एव, अनात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायास-स्थितः सुखी आनन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा ह्रीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, एषोऽस्य परम आनन्दः (बृ० उ० ४.३. ३२) इति श्रुतेः।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयाज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूपमिति प्राज्ञः, इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति। सोऽयं प्राज्ञ-स्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

आत्माका तृतीय पाद : प्राज्ञ

जिस अवस्थामें सोया पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है, वह जो एकीभूत प्रज्ञानघन होकर आनन्दमय, आनन्दका भोक्ता और चेतोमुख है, वह प्राज्ञ आत्माका तीसरा पाद है।

जिस स्थान या समयमें सोया हुआ न तो कोई स्वप्न देखता है और न किसी भोगकी इच्छा ही करता है, वह है सुषुप्ति। इसमें व्यष्टिकी दृष्टिसे देखो तो स्थान हृदय है, क्योंकि सुषुप्ति हृदयमें होती है। स्वप्न-अवस्था कंठमें और जाग्रत्-अवस्था नेत्रमें होती है। समष्टिकी दृष्टिसे देखो तो जिस कारण-वस्तुमें, जिस कालमें मनुष्य बीजावस्थाको प्राप्त हो जाता है, उस समय न कुछ स्वप्न दिखायी पड़ता और न किसी भोगकी इच्छा रहती है। उसीका नाम सुषुप्ति है।

यहाँ सुषुप्ति बीजावस्थारूपसे निर्दिष्ट है। यह मन अध्यात्म है। इसकी बीजावस्था दिखायी देती है। मनका अधिदेवता चन्द्रमा है। मनका उपादान सात्त्विक पंचतन्मात्रा है; क्योंकि मन स्वप्नमें पाँचों विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दको प्रकट करके उनका भोग करता और इन्द्रियोंके माध्यमसे भी पाँचों विषयोंका ग्रहण करता है। इन्द्रिय-गोलक एक-एक तन्मात्राके कार्य हैं, अतः वे एक ही विषय ग्रहण कर सकते हैं। अब देखो कि गेहूँ अधिभूत है। यह गेहूँ मनका ही अधिभूत रूप है; क्योंकि अन्न खानेसे मन बनता है। तात्पर्य यह कि सभी दृश्य-विषय मनके अधिभूत रूप हैं। गेहूँ बीजावस्थामें होता है, अंकुर बनता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, वढ़कर पौधा होता है, फूलता है, फलता है। इतनी अवस्थाओं-में वदलता है, किंतु हमें उसका कोई सुख-दुःख नहीं होता। गेहूँका अधिदेव चन्द्रमा है। वह कभी घटता है; कभी वढ़ता है, कभी पूर्ण दीखता है और कभी दीखता ही नहीं। उसके परि-वर्तनसे भी हमें सुख-दुःख नहीं होता।

अव यह शरीर अधिभूत है। इसमें मन अध्यात्म है और उस मनमें जो उसका देवता चन्द्रमा है, वह अधिदेव है, क्योंकि अधिदेव न हो तो मन कोई कार्य कर ही न सके। अव होना यह चाहिए कि हम जैसे अधिभूत अन्न और अधिदेव चन्द्रमाके घटने-वढ़नेसे सुखी-दुःखी नहीं होते, उसी प्रकार अध्यात्मके भी घटने-वढ़नेसे सुखी-दुःखी न हो। अर्थात् मन जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति चाहे जहाँ जाय, हम एकरस रहे हैं। ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मनकी ही स्फुटित्त-अस्फुटित्त अवस्थाएँ हैं।

सुषुप्ति-अवस्थामें स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओंके समान अन्यथाग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकारकी कामना सर्वथा नहीं है। यहाँ स्वप्न और जाग्रत् दोनोंको अन्यथाग्रहण-रूप वताया गया है; क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें 'स्व' का अन्यरूपमें ग्रहण होता है। चैतन्यको ही जड़ और एकको ही अनेक जानते हैं। इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें काम-भोग हैं, लेकिन सुषुप्तिमें न स्थूल-भोग हैं और न सूक्ष्म-भोग।

ये आत्मदेव स्वाभावतः परिव्राट् हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंको जानते रहते हैं किन्तु थकते नहीं। इनमेंसे किसी एक स्थानपर टिकते नहीं और कोई स्थायी साथी भी नहीं वनाते।

विश्व ब्रह्मचारी है, सेवाप्रधान है। तैजस गृहस्थ है, आगे-पीछेका वहुत विचार रखता है और प्राज्ञ है वानप्रस्थ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वहाँ भोग तो नहीं, किंतु द्वैतका बीज है। यह सुषुप्तिस्थान है प्राज्ञका।

स्वप्न और जाग्रत्—ये दोनों स्थान केवल मनसे स्पन्दन हैं। इनमें मन हिलता है और जितना द्वैत-प्रपंच है, सबका सब मनका स्पन्दन मनकी स्फुरणा ही है, क्योंकि समाहित चित्तमें, समाधिमें प्रपंच नहीं रहता। संसार असमाहित-विक्षिप्त चित्तमें ही दीखता है और विक्षिप्त चित्तकी बात प्रामाणिक नहीं हो सकती। यह द्वैतप्रपंच वैसा ही प्रतीत होता है, जैसी मनकी स्फुरणा हो। अज्ञानकी निवृत्ति न होनेसे मनके स्फुरणात्मक रूपका परित्याग भी नहीं होता। लेकिन जैसे रात्रिके अन्धकारमें सब वृक्ष, सब भवनादि रहते हैं, पर उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, वे प्रतीत नहीं होते, वैसे ही सुषुप्तिमें अज्ञानावरणके कारण प्रपंचकी प्रतीति नहीं होती, किंतु प्रपंच यथास्थान रहता है। अज्ञानसे ग्रस्त होनेके कारण अन्धकारग्रस्तके समान प्रपंच एकाकार हो जाता है। इस एकाकारताको एकीभूत होना कहते हैं।

अतएव स्वप्न-जाग्रत्की जो मनकी स्फुरणाएँ हैं, वे प्रज्ञान हैं। सुषुप्तिमें ये स्फुरणाएँ एकाकार हो जाती हैं, घनीभूत हो जाती हैं। यह अवस्था अविवेकरूप होनेके कारण प्रज्ञानघन-सी प्रतीत होनेसे प्रज्ञानघन कही गयी है। जैसे रात्रिमें अन्धकारके कारण सब पृथक्-पृथक् पदार्थ एकाकार हुए ज्ञात पड़ते हैं, वैसे ही सुषुप्तिमें यह प्रज्ञानघन होता है।

मूल श्रुतिमें **प्रज्ञानघन एव** में 'एव' शब्द यह सूचित करनेके लिए है कि प्रज्ञानके अतिरिक्त वहाँ कोई भिन्न जातिको जड़ वस्तु नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वहाँ सुषुप्तिमें प्राज्ञ आनन्दमय है। आनन्द न कहकर 'आनन्द-मय' क्यों कहा? विषय-विषयीभावमें बार-बार अपनी आकृति बदलते रहना यह मनका कष्ट है। विषय-विषयीभावमें स्पन्दित होनेका प्रयास न करना पड़े, यह दुःखका अभाव हुआ। सुषुप्तिमें इस दुःखका अभाव होनेसे आनन्दमय कहा गया है। स्वप्न या जाग्रत्में मन ही कभी विषय बनता है, कभी विषयी बनता है। भोक्ता और भोग्य दोनों मनकी स्फुरणाएँ हैं जो स्वयं ही कभी विषयी और कभी विषय बनती हैं। संसारके सभी लोग इस श्रमसे दुःखी हैं। सुषुप्तिमें यह आयास न होनेसे वह आनन्दमय है।

आनन्दमयका अर्थ है, आनन्दप्राय अर्थात् शुद्ध आनन्द नहीं। क्योंकि अविद्यासे वहाँका आनन्द ग्रस्त है। सुषुप्ति आनन्द है, पर वह 'आत्माका स्वरूप ही है' यह ज्ञान नहीं है, यही अविद्या है। इसलिए सोकर उठनेपर वह उस अवस्थाका ही आनन्द था, अब नहीं रहा—ऐसी भ्रान्ति होती है। यदि अज्ञान न होता तो मैं ही आनन्द था, हूँ और रहूँगा—यह निश्चय रहता।

विषयमें नश्वरता है और इन्द्रियोंमें असामर्थ्य। विषय-भोग सदा बने नहीं रहेंगे। उनका संयोग-वियोग होगा और इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयको सदा भोगा नहीं जा सकता। मन भी किसी एक भोगमें ही सदा नहीं लगा रहता। अतः संसारके जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें भोग कोई सच्चा, आत्यन्तिक सुख नहीं दे सकते। सच्चा-सुख सूचित करनेके लिए उसमें विशेषण लगाने पड़ते हैं कि सुख नित्य, अविनाशी होना चाहिए। सुषुप्तिके समान अज्ञात नहीं, किन्तु ज्ञात यानी प्रकाशित होना चाहिए। विभु अर्थात् देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं होना चाहिए। नाम-रूपसे परिच्छिन्न नहीं होना चाहिए; क्योंकि नाम-रूप अनित्य हैं, उनसे होनेवाला सुख भी अनित्य होगा। नाम-रूपका आश्रय, आधार होना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मति न लखे जेहि मति लखे, सो मैं शुद्ध अपार।

बुद्धि दृश्य या बुद्धिरूप नहीं, किन्तु बुद्धिका द्रष्टा होना चाहिए। ऐसे सुखका स्वरूप है अपार अर्थात् अनिर्वचनीय। वह मैं ही हूँ।

सुख जब अप्राप्त है तब पुरुषकी इच्छाका विषय है और ज्ञात अर्थात् प्राप्त है तब पुरुष रूप ही है। सुषुप्तिमें कोई पीड़ा नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई आयास नहीं, अतः वहाँ आनन्दमय यानी आनन्दप्राय है। वहाँका सुख आत्यन्तिक नहीं है, इसीसे आनन्द-प्राय है, क्योंकि सुषुप्तिसे जागरण होगा ही और जागते ही वहाँका सुख समाप्त हो जायगा।

जैसे लोकमें कोई बिना आयास-श्रम किये रहता हो तो कहते हैं कि ये बड़े आनन्दमें हैं, वैसे ही सुषुप्ति अत्यन्त अना-यासरूपा स्थिति है। इसमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। अतः इसको 'आनन्दभुक्' कहते हैं।

सभी आश्रमोंमें श्रम करना पड़ता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनोंके लिए श्रम है। संन्यास तो आश्रम ही नहीं है। यह किसी क्रिया, योग या उपासनाके लिए नहीं है। यह तो कैवल्यपद है। ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, ऋषभदेव, रैक्व आदिका जीवन संन्यासीका जीवन है। इसमें आचार्य लोग लोकोपकारी हैं अर्थात् दूसरोंको इस पदपर पहुँचानेके लिए स्वयं आयास स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुतः संन्यास तो आश्रमातीत स्थिति है, परमानन्द है।

बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है कि सुषुप्ति ही प्राज्ञका अनायास-स्थितिरूप परमानन्द है। स्वप्नादि अर्थात् स्वप्न और जाग्रत्में जो ज्ञान होता है, वह चित्तके द्वारसे आता है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः उसे 'चेतोमुख' कहते हैं। स्वप्न और जाग्रत् दोनोंमें चित्त होता है। चित्त न हो तो न जाग्रत्का अनुभव हो, न स्वप्नका। यह चित्त किसीका द्वार न होनेपर भी द्वार बना है, इसलिए इसे चेतोमुख कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्नमें जो चेतना आती है, वह सुषुप्तिमें बीजभूतसे स्थित चेतनासे निकलती है। यदि सुषुप्तिमें बीजरूपमें चेतना न हो, तो फिर जाग्रत् या स्वप्नमें चेतना आये ही कहाँसे ? बीजमें वृक्ष दीखता नहीं, किन्तु पीपलके नन्हें बीजमें ही बड़ा-सा वृक्ष छिपा है। इसी प्रकार सुषुप्तिमें चेतना दीखती नहीं, किन्तु बीजरूपसे है। बोधलक्षण अर्थात् केवल ज्ञानमात्र जो चेत, चित्त है वही इसका मुख है। स्वप्नादि-के आनेका वही द्वार है। स्वप्न और जाग्रत् उस 'चेत'के द्वारसे ही निकलते हैं।

अब 'प्राज्ञ' शब्दोंको देखना है। प्राज्ञका अर्थ है, प्रकृष्ट ज्ञानवान्। स्वप्न और जाग्रत्को जाननेवाला ज्ञान जिसके पास है, वह है प्राज्ञ। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंके सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान इसीमें है, अतः इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं। **सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्।** 'मैं सुखसे सोया था। मुझे कुछ पता नहीं था' यह सुषुप्तिका अनुभव है और उस सुषुप्तिके अभिमानीको सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता 'प्राज्ञ' कहा जा रहा है। ऐसा क्यों ? 'मुझे कुछ पता नहीं था' यह बुद्धिका अनुभव है। आत्मा तो सर्वावभासक है ही; किन्तु बुद्धिके साथ तादात्म्य करके बुद्धिका अज्ञान यहाँ अपने ऊपर ले लिया कि मुझे कुछ पता नहीं था। 'मैं सुखसे सोया था' इसमें जो सुखका अनुसन्धान है, वह स्वरूपभूत ज्ञानसे है और 'कुछ नहीं जानता' यह बुद्धिका अज्ञान अपने ऊपर ले लिया गया है।

सुषुप्ति होनेपर भूतपूर्वकी अवस्थाके अनुसार उसे 'प्राज्ञ' कहते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। जैसे आज राज्य नहीं है; किन्तु जो पहले राजा थे, आज भी उनको 'राजा' कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्नमें सब कुछ जाननेवाला होनेसे सुषुप्तिमें इसे प्राज्ञ कहते हैं। लेकिन यह प्राज्ञ-शब्दका गौण अर्थ हो गया। नियम यह है कि जहाँ अभिधावृत्तिसे अर्थ न हो सके, वहीं लक्षणा करना चाहिए। अतः भूतपूर्व गतिसे प्राज्ञ-शब्दका अर्थ नहीं करना चाहिए। क्योंकि विश्व और तैजसका वर्णन तो कर ही चुके हैं। प्राज्ञका वही अर्थ लेनेसे कोई ठीक संगति नहीं बैठेगी। अतः दूसरा अर्थ करते हैं :

अथवा प्रज्ञप्तिमात्र, केवल ज्ञानमात्र इन्हींका असाधारण रूप है, इसलिए इन्हें प्राज्ञ कहते हैं। सुषुप्तिमें न तो जाननेके लिए कोई विषय, ज्ञेय है और न 'मैं जानता हूँ' यह अभिमान ही है। वहाँ ज्ञाता और ज्ञेयसे रहित केवल ज्ञानमात्र है।

एकजीववादकी दृष्टिसे सुषुप्तिको देख लें। अज्ञान नहीं है, दृष्टि है। ईश्वरके ज्ञानके साथ अपने ज्ञानको जबतक मिला नहीं दोगे, तबतक अज्ञानी रहोगे; क्योंकि जीव एक प्रकारसे संसारको देखता है और ईश्वर दूसरे प्रकारसे। इनमेंसे ईश्वरका ज्ञान ही ठीक होगा, यह बात निर्विवाद है।

अब ईश्वरके ज्ञानका क्या रूप है ? अच्छा, ईश्वरकी घड़ीमें इस समय कितने बजे हैं ? क्योंकि विभिन्न देशोंकी घड़ियोंमें तो विभिन्न समय है, लेकिन ईश्वरके यहाँ तो दिन-रात होता ही नहीं। पृथ्वीके अपनी धुरीपर घूमते हुए सूर्यके चारों ओर घूमनेसे पृथ्वीपर रात-दिन होते हैं। किन्तु ईश्वर तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका साक्षी है। वहाँ रात-दिन, वर्ष, मास कैसा ? रात-दिन नहीं तो सप्ताह, मास, वर्ष, कल्प कुछ नहीं। अर्थात् कालकी कल्पना ही वहाँ नहीं है। ईश्वर अकाल है, कालातीत है। अतः ईश्वरके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानमें काल नहीं है। ईश्वरका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, अतः काल कल्पित है।

हमारे लगभग चौवालीस लाख वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। ऐसी एक सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन होता है। अपने दिनसे ब्रह्माकी सौ वर्षकी आयु होती है। एक ब्रह्माकी पूरी आयु भगवान् विष्णुका एक पल और इस हिसावसे विष्णुकी आयु उनके अपने सौ वर्षके बरावर है। विष्णुकी पूरी आयु भगवान् शंकरका एक पल है। अब कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिसके संकल्प हैं, उस निखिल ब्रह्माण्डके स्वामी ईश्वरमें काल अध्यारोपित ही तो होगा।

सृष्टिके मूलमें एक ही चेतना है और इसके संकल्पसे सृष्टि हो गयी, जैसे जादूगरके संकल्पसे नाना पदार्थ दीखने लगते हैं। सृष्टिकी संगति इसी प्रकार ठीक लगती है। दूसरे प्रकारसे कभी संगति लग नहीं सकती। अब जिससें सृष्टिका वह संकल्प अध्यारोपित है, उसमें कालकी कोई कल्पना सम्भव है? क्या वहाँ हमारी घड़ीका कोई महत्त्व है?

इसी प्रकार दिक्को ईश्वरके ज्ञानकी दृष्टिसे देखो। हम यहाँ हैं तो हमसे अमुक व्यक्ति पूर्व है, अमुक पश्चिम है। ईश्वर तो व्यापक है, सब कहीं है। उसमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिणका निर्देश कैसे सम्भव होगा? अतः ईश्वरमें देश नहीं है। देशकी कल्पना भी वहाँ नहीं है। हमारे लिए कुछ परोक्ष है तो कुछ प्रत्यक्ष। कुछ शरीरसे बाहर है तो कुछ भीतर। क्या ईश्वरके ज्ञानमें भी यह परोक्ष-प्रत्यक्ष, बाहर-भीतरका भेद सम्भव है? ईश्वर अपरोक्ष-ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ होनेके कारण उसे किसीका अज्ञान होगा ही नहीं। व्याप्य-व्यापक, ज्ञाता-ज्ञेयका भाव ईश्वरमें नहीं है; क्योंकि ईश्वर ही सर्वस्वरूप है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब इस एकजीववादकी दृष्टिसे 'प्राज्ञ' शब्दका अर्थ करें। दृष्टिसृष्टिवाद, एकजीववादमें प्राज्ञ ईश्वर है। आभासवादका प्राज्ञ 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है। लेकिन एकजीववादमें व्यष्टिकी सुपुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ और समष्टिकी सुपुप्तिका अभिमानी ईश्वर, यह भेद नहीं है। समष्टिके अभिमानीकी सुपुप्तिका स्वरूप समझनेके लिए ज्ञानी पुरुषकी सुषुप्तिको लो। ज्ञानसे उसकी अविद्या तो निवृत्त हो गयी। अब सुपुप्तिमें उसकी बुद्धिका लय कहाँ होता है? तत्त्वज्ञानीकी सुपुप्ति ही समाधि है। सुपुप्तिमें लय होनेके लिए अज्ञान नहीं है और ज्ञेय भी कुछ नहीं है, अतः प्रज्ञप्तिमात्र है। ज्ञानी पुरुषकी सुपुप्तिके समान ही प्राज्ञका स्वरूप प्रज्ञप्तिमात्र, प्रज्ञान है।

प्राज्ञसे भिन्न जो दूसरे हैं विश्व और तैजस, उनको तो विशिष्ट विज्ञान भी होता है। यह घट, यह पट आदि भेद-ज्ञानको ही 'विशिष्ट' ज्ञान कहते हैं। भेद ज्ञानमें नहीं विषयमें होता है। वस्तुओं-के भेदसे उस भेदके प्रकाशक प्रकाशमें भेद नहीं होता। लेकिन हम वस्तु और प्रकाश-विषय और ज्ञानको एक कर देते हैं, तब घट ज्ञान, पट-ज्ञान आदि कहते हैं। यहाँ घट और पट जो अलग-अलग हैं, उनके भेदको ज्ञानमें आरोपित कर दिया है।

इसी प्रकार इन्द्रिय-भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। जैसे एक ही विद्युत्-बल्बमें प्रकाश, हीटरमें गर्मी, पंखेमें गति, रेडियोमें शब्द और रेफ्रीजेटरमें शीतलता देने लगती है और यन्त्रोंके भेदसे कार्य भेद होनेपर भी विद्युत् एक है, वैसे ही एक ही ज्ञान इन्द्रियोंके भेदसे अनेक प्रकारके कार्य करता है। ज्ञानमें भेद नहीं है।

ज्ञानमें परोक्ष-अपरोक्षका भेद भी नहीं होता। यह घड़ी प्रत्यक्ष है और आप इसे घर ले जायँ तो यहाँ यह परोक्ष हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायगी। लेकिन प्रत्यक्ष और परोक्ष घड़ी हुई। जिसने जाना कि घड़ी प्रत्यक्ष है या परोक्ष है, वह ज्ञान तो हृदयमें है और वह सदा अपरोक्ष है।

इसी प्रकार ज्ञानमें कालका भेद नहीं है, देशका भेद नहीं है। समाधि और विक्षेपका अर्थात् अवस्थाका भेद भी नहीं है। विषय-भेद, इन्द्रिय-भेद, वृत्ति-भेद या देश-काल-अवस्थाके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। ज्ञान तो ज्ञान ही है। भेद विषयों, इन्द्रियोंमें और वृत्तियोंमें होता है।

यह अखण्ड ज्ञान ही अपना स्वरूप है। इसमें जन्म नहीं, मृत्यु नहीं। शैशव, तारुण्य, वार्धक्य नहीं। ज्ञानमें कार्य-कारणभाव नहीं है, क्योंकि अज्ञानसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और ज्ञानसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति माननेपर पहले और दूसरे ज्ञानमें कोई भेद बताया नहीं जा सकता। ज्ञानमें विरोध नहीं है। ज्ञानका नाश सम्भव नहीं; क्योंकि नाशका अनुभव भी तो ज्ञान ही होगा।

जहाँ ज्ञानमें कोई विशेषण लग जाय, वहाँ उसे विशिष्ट ज्ञान कहते हैं। विषयका ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है; क्योंकि उस ज्ञानके साथ विशेषण लग जाता है—यह घटका ज्ञान, यह पटका ज्ञान आदि। जाग्रत् और स्वप्नमें इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान है। वहाँ विशेषणका निषेध करके तब शुद्ध ज्ञानका बोध होता है, किन्तु सुषुप्तिमें विशेषण नहीं है। वहाँ प्रज्ञानमात्र है। यह प्राज्ञ ही आत्माका तृतीय पाद है।

१४
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छठा मन्त्र

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता, नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० उ० ६. ८. २) इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः । एषोऽन्तर्यामी अन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य । यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतनामेष एव ॥ ६ ॥

प्राज्ञका सर्वकारणत्व

यह सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ हैं। यह अन्तर्यामी है। यह सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान होनेसे सबका कारण भी है।

अपने स्वरूपमें अवस्थित अर्थात् सुषुप्तिमें यह जो प्राज्ञ है, यही सर्वेश्वर है। एकजीववादकी दृष्टिसे सम्पूर्ण सृष्टिका महाप्रलय ही सुषुप्ति है और उसमें जो प्राज्ञ है, वही सर्वेश्वर है।

स्वरूपावस्था कहनेका तात्पर्य यह है कि मनकी उपाधिको छोड़कर चैतन्यको देखो, क्योंकि इसे यदि देहमें ही देखोगे तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह स्वतंत्र नहीं होगा और स्वतन्त्र न होनेसे ईश्वर भी नहीं होगा।

सब शरीरोंमें आकाश एक है। वायु भी सबमें एक है। इसी प्रकार पंचतत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर सब शरीर भी एक ही हैं। तत्त्वकी दृष्टिसे उपाधिमें भी भेद नहीं है। स्वप्नमें जो ब्राह्मण, चाण्डालादि दीख रहे हैं वे स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टिमात्र है। उनमें भेद नहीं है। भेदकी प्रतीति भेदका भानमात्र है। जितना भी भेद है, मोह-द्वेषादि हैं, कार्यपर दृष्टि रखनेसे है। कारणपर दृष्टि डालते ही भेद नहीं रहता।

एक ही प्राज्ञ है। वही सबका ईश्वर है। आधिदैविकसहित जितना भेदसे उत्पन्न प्रपंच है, सबका ईश्वर प्राज्ञ ही है। सूर्य, चन्द्र, इन्द्र ब्रह्मा, रुद्रादि सब अधिदेव हैं। अधिदैवका अर्थ है समस्त देवता, सब पदार्थों तथा कार्योंके अधिदेवता और उनके आधिभौतिक पदार्थ तथा कार्य यह जितना भेद प्रपंच है वह सब-अर्थात् समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म विश्वप्रपंच। इसमें सम्पूर्ण ईश्वर-सृष्टि आगयी। इन सबका संचालक प्राज्ञ है।

यह जितना भेद दीखता है, वह जीवाभास, जीवको ही तो दीखता है। अन्तःकरण कार्य है। इस कार्य अन्तःकरणकी उपाधि-वाला जीव है और कारणोपाधिवाला ईश्वर है। ईश्वरमें भेद-ज्ञान नहीं है; क्योंकि भेदज्ञान परिच्छिन्नमें होता है। यह सम्पूर्ण भेदज्ञान जीवको व्यष्टि, अन्तःकरणकी उपाधिवाले जीवाभासको है। इस सम्पूर्ण भेद-जात विश्वका शासक सर्वेश्वर प्राज्ञ अर्थात् समष्टि चेतन है।

उस प्राज्ञसे भिन्न अन्य जातिकी कोई वस्तु है ही नहीं, जैसा कि दूसरे मतवादी मानते हैं। ईश्वर भिन्न और सृष्टि भिन्न, ईश्वर चेतन और सृष्टि जड़, ऐसी बात नहीं हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जैसे जो सृष्टिका, जाग्रत्का अभिमान करे वह विश्व। जो स्वप्नका अभिमान करे वह तैजस। इस प्रकार जो सुषुप्तिका अभिमान करे वह प्राज्ञ, ऐसा नहीं है। प्राज्ञमें अभिमानके लिए दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए समझानेका यह क्रम लिया कि विश्व नहीं, तैजस हैं। तैजस नहीं, प्राज्ञ है। वास्तवमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ नहीं, ईश्वर तो एक है। उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। वही तुरीय है, वही ब्रह्म है।

हे सौम्य! यह मन प्राणबन्धनवाला है। मन प्राणके साथ, चेतनके साथ बँधा है, एक है, और चेतन तो परिच्छिन्न है नहीं। अतः मनके परिच्छिन्न होनेकी कल्पना भ्रम ही है। विश्वके भीतर मन नहीं है, मनके भीतर यह शरीर और सम्पूर्ण विश्व है; यह बात पहले बतायी जा चुकी है।

यह सर्वज्ञ है। अर्थात् जड़ नहीं, ज्ञाता है। जिस समय सृष्टि बीजरूपमें रहती है, उस समय बीजको बनाये रखनेवाला भी यही है और जिस समय सृष्टि अपने विस्तारमें रहती है, उस समय भी सम्पूर्ण भेदोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहकर सबका संचालन करनेवाला, सबका ज्ञाता यही है। अतः इसे 'सर्वज्ञ' कहा गया।

सृष्टिमें जितनी भी क्रिया हो रही है, उसके भीतर एक नियम है, यह बात भौतिक विज्ञानने भी स्वीकार कर ली है। क्योंकि यदि सृष्टिकी क्रियामें नियम न हो तो कोई आविष्कार नहीं होगा। सृष्टिके नियमको जानकर ही अणु-विस्फोट करके उनका परिणाम पहले ही गणित करके निकाल लेते हैं। गणितसे यह पता लगा लेते हैं कि अमुक द्रव्योंके मिश्रणसे इतने समयमें अमुक परिणाम होगा। यह सारा विज्ञान, ज्योतिष इसी बातपर अवलम्बित है। सृष्टिमें सर्वत्र नियम है। सृष्टिकी व्यवस्था अनियमित नहीं है। जब क्रिया होती रहती है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उस समय नियमन रहता है और क्रिया बन्द हो जाती है तो नियमन नहीं रहता—ऐसी बात नहीं है। नियमन उस समय भी रहता है। इस निष्क्रिय अवस्थाके नियमनको लक्ष्यमें रखकर ही 'सर्वेश्वर' कहा गया है। सक्रिय अवस्थाके नियमनको दृष्टिमें रखकर 'अन्तर्यामी' शब्दका प्रयोग है। यह सृष्टिका नियमन प्रकृतिसे ही हो रहा है; ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि नियमनमें जो सर्वत्र व्यवस्थित गणित है, वह किसी उच्च बुद्धिको सूचित करती है जो इस नियमका संचालन करती है। वही बुद्धि निष्क्रिय अवस्था और सक्रिय अवस्थामें बीजका संचालन करती है।

व्यक्तिगत जीवनमें जाग्रत् और स्वप्न दोनोंकी बीजावस्था सुषुप्ति दिखलायी देती है। सुषुप्तिमें ही सम्पूर्ण वृत्तियोंका लय हो जाता और पुनः उत्थान होता है। जिस समय ये वृत्तियाँ लय हो जाती और कार्यशील रहती हैं, दोनों ही अवस्थाओंमें वृत्तियोंके लय तथा उनकी सक्रियताका ज्ञाता कोई न कोई अवश्य है। यह ज्ञाता कोई अन्य होगा, ऐसा मानें तो उसे कल्पित कहना होगा; क्योंकि जिसका हमें किसी भी इन्द्रिय या किसी भी करणसे कभी भी अनुभव नहीं होता, उसकी सत्ता मानना कल्पना ही तो होगी। लेकिन हम देखते हैं कि व्यष्टिमें होनेवाली बीजावस्था एवं सक्रियताका हमें ज्ञान है। इसीलिए सुषुप्तिमें भी हमारा नाम प्राज्ञ है। इसका यही अर्थ है कि जाग्रत्-स्वप्नकी अभाव-निष्क्रिय अवस्थाको हम जानते हैं। स्वप्न और जाग्रत्को हम जानते हैं, यह तो प्रत्यक्ष है, अतः हम सर्वज्ञ हैं।

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् तीनोंके ज्ञाता होनेके कारण तुम सर्वज्ञ हो। सुषुप्तिमें जो प्राणादिकी क्रिया है, उसके और स्वप्न तथा जाग्रत्की क्रियाको नियन्ता होनेके कारण तुम सर्वेश्वर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो। यह नियन्त्रण सबके भीतर बैठकर होता है या पृथक् रहकर ? बात अभी व्यष्टिकी है, वह सुषुप्तिमें उसके भीतर रहता है। स्वप्नमें जो कुछ तुम देखते हो, वह स्वयं तुम बने हो। वहाँका मनुष्य और वहाँका वृक्ष, तुम स्वयं उन रूपोंमें हो। अतः उन सबमें प्रविष्ट होकर उनका संचालन कर रहे हो। सबमें 'अनुप्रविश्य' रूपसे सबका संचालन करनेके कारण तुम अन्तर्यामी हो। यह प्राज्ञ ही अन्तर्यामी है।

अब बात जाग्रत्‌की रह गयी। जैसा स्वप्न है, वैसा ही जाग्रत् है। व्यष्टि अन्तःकरण और शरीर समष्टिसे पृथक् हैं, यह भ्रम है। रोटी जब थालीमें है तो अपनेसे भिन्न वस्तु और जब पेटमें पहुँच गयी तो अपना स्वरूप, यह मान्यता अविचारके कारण है। इस शरीरमें जिसे हम आत्मा कहते हैं, समष्टिसे पृथक् क्या है ? मिट्टी, पानी, हवा, उष्णता, आकाश ये तो समष्टिसे एक हैं। इनको छोड़कर क्या और कुछ है ? रोटी थालीमें है तो बीजरूपमें है और पेटमें है तो वह या तो 'इदं' है, अपनेसे भिन्न है या फिर सर्वत्र 'अहं' अपना स्वरूप है। यही विचारकी रीति है। यदि रोटी सर्वत्र 'इदं' है तो रोटीका परिणाम रोटीसे बना शरीर भी 'इदं' है, हम इससे भिन्न हैं, और यदि रोटी 'अहं' है तो सर्वत्र अहं है, तब अपनेसे भिन्न कुछ नहीं।

इस प्रकार जब शरीरका अभिमान मिट जाता है तब सम्पूर्ण विश्व मैं हूँ, यह निश्चय सरलतासे हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व मैं हूँ तो रोटी न मुझसे बाहर है, न भीतर। मैं ही हूँ, तो रोटी एक प्रतीतिमात्र है। उसका तो तत्त्वतः अस्तित्व ही नहीं है।

एकबार एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि 'हम जो सोच-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लघुशंका आदि करते हैं, वह सर्वव्यापक ईश्वरके ऊपर ही करते हैं। उससे वह अपवित्र होता है या नहीं ?'

मैंने पूछा : 'आपके पेटमें मल है और मूत्र भी। वह इधर-उधर होता भी है। उससे आप अपवित्र होते हैं या नहीं ?'

वे बोले : 'जबतक पेटमें है, तबतक हमारा अंग है। तबतक उससे हम अपवित्र नहीं होते। हमारे देहसे बाहर आकर वह अपवित्र होता है।'

मैंने फिर पूछा : 'आपके शरीरमें लाखों-करोड़ों जीव हैं। बहुतसे कीड़े हैं शरीरमें। वे वहीं खाते और मलत्याग करते हैं। उससे आप अपवित्र होते हैं या नहीं ?'

वे बोले : 'शरीरके भीतर जो है, सब शरीरका अंग है तथा शरीरसे बाहर आनेपर अपवित्र।'

मैंने कहा : 'तब आप ईश्वरसे कहीं बाहर जाकर मल-मूत्र करें और तब वह मल-मूत्र ईश्वरको लगेगा और वह अपवित्र होगा। अभी तो आप और आपका मल-मूत्र भी ईश्वरके पेटमें ही है। ईश्वर इतना बड़ा है कि उसके पेटमें आप नन्हें कृमि जितने भी नहीं हैं।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि व्यष्टि और समष्टिका भेद सर्वथा कल्पित है। ईश्वरकी दृष्टिसे देखो तो व्यष्टिकी सत्ता ही नहीं रहेगी।

पंचदशी और विचारसागरकी प्रक्रिया यह है कि व्यष्टिका विवेक और समष्टिका विवेक अलग-अलग करो। व्यष्टिमें पंचकोष और समष्टिमें पंचभूतका विवेक करो। पंचभूतके कारणकी उपाधिसे उपहित चैतन्य ईश्वर है और पंचकोष-रूप कार्यकी उपाधिसे उपहित चेतन है जीव। अब महावाक्यसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविद्यासे रहित जीव और मायासे रहित ईश्वरके एकत्वका बोध होगा।

दूसरी प्रक्रिया एकजीववाद, दृष्टिसृष्टिवादकी है कि अपनी व्यष्टि-देहको समष्टिसे एक कर दो। स्थूल-समष्टि मेरा स्थूल-शरीर है, मैं विश्व हूँ। इस प्रक्रियाका आधार यह है कि जो वस्तु जिसके विना रहे, वह उससे अभिन्न होती। जैसे मिट्टीके विना घड़ा नहीं रह सकता, अतः घड़ा मिट्टीसे अभिन्न है। इसी प्रकार हमारी देह समष्टि वायुमें श्वास लिये विना, समष्टि जलके सेवन विना, समष्टि अन्न, अग्नि एवं आकाशके विना नहीं रह सकता, अतः वह समष्टिसे अभिन्न है।

समष्टि ज्ञानशक्तिके बिना किसीमें ज्ञान रह नहीं सकता। अतः व्यष्टिकी ज्ञानशक्ति भी समष्टिसे अभिन्न है। भक्ति-सिद्धान्त है कि व्यष्टि समष्टिके अधीन है। शरीर चाहे ज्ञानीका हो या अज्ञानीका, वह समष्टिके अधीन ही रहेगा।

उमा दारु योषित की नाईं।
सबहि नचावत राम गुसाईं॥

भक्तोंका कहना है कि व्यष्टि-जीवन समष्टिके सर्वथा अधीन है। इसी वातको स्थूलरूपमें कहें तो देहस्थ 'पंचभूत वाह्य पंचभूतोंके वशवर्ती हैं' यह वात स्पष्ट दीखती है।

भाग्यवादी पूर्वमीमांसक कहते हैं कि जीवन-निर्वाह प्रारब्धाधीन है। प्रारब्ध अर्थात् पूर्वकर्मके संस्कार। प्रत्येक अवस्थामें व्यष्टि-देह स्वतन्त्र नहीं है। वह समष्टिके अधीन है।

मान लें, शरीरका भार दो मन है। अव पृथ्वीसे ऊपरके वातावरणमें जानेपर वह पाँच सेर रह जायगा और तीसरे वातावरणमें, वायुहीन शून्यमें उसमें वज़न ही नहीं रहेगा। शरीर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक मध्यम प्रकाशमें दीखता है। घने अन्धकारमें नहीं दीखेगा और तीव्रतम प्रकाशमें भी नहीं दीखेगा। भौतिक विज्ञानने यह स्वीकार कर लिया है कि वस्तुओंका रूप-रंग, लम्बाई-चौड़ाई, गुरुत्वादि सब आपेक्षिक हैं। शरीरका अस्तित्व भी अपेक्षासे ही है और जिसकी अपेक्षासे है। उससे वह भिन्न नहीं है। अतः हम जो अपने 'अहं'को पृथक् रखते हैं, यह सर्वथा अज्ञान है। यह पूर्णताके साथ एक ही है।

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

यह गुण-दृष्टि हुई और :

> स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
> कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

यह कर्म-दृष्टि हुई।

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
> शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
> तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
> पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

यह संघात दृष्टिसे कहा गया है।

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

यह ईश्वरको दृष्टिमें रखकर कहा गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन सबका अभिप्राय यह है कि हमारा यह अहंकार कि हम पृथक् कर्ता-भोक्ता हैं, हमारी स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र ज्ञान, स्वतन्त्र आनन्द है—यह भ्रम है। वस्तुतः सर्वके साथ हमारी सत्ता एक है। सर्वके साथ हमारा ज्ञान एक है। सर्वके साथ हमारा आनन्द एक है।

जितने दुःख-दारिद्र्य, राग-द्वेष, लोभ-मोह, शोक-भ्रम आदि हैं, सब-के-सब अपनेको इस खण्डित-परिच्छिन्न शरीरमें ही बाँध लेनेके कारण हैं। विचार करके देखनेपर देहरूपमें हमारा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्णके रूपमें ही है। अतः हमारा 'अहं' स्थूल-समष्टिसे भिन्न नहीं है सूक्ष्मरूप सूक्ष्म-समष्टिसे भिन्न नहीं है और कारणरूप-कारण समष्टिसे भिन्न नहीं है। वह कारण-समष्टिमें स्थित चेतन प्राज्ञ है। यह प्राज्ञ सर्वेश्वर, सर्व-नियन्ता और सर्वान्तर्यामी है। इसीलिए कहा गया कि सम्पूर्ण भेदोंके साथ जगत्को उसी ईश्वरने उत्पन्न किया, अतः वह सबका कारण—सर्वयोनि है।

कुछ दार्शनिकोंने ईश्वरको तटस्थ माना है। तटस्थ चेतन ईश्वरने उत्पन्न किया, अतः वह सबका कारण, सर्वयोनि है।

कुछ दार्शनिकोंने ईश्वरको तटस्थ माना है। तटस्थ चेतन ईश्वरका अभिप्राय यह है कि वह केवल द्रष्टा है। जैसे गंगा बहती जा रही है और किनारे खड़ा प्रवाहको देख रहा है। प्रवाहमें पुष्प भी जाते हैं और शव भी, किन्तु वह केवल देखता रहता है। इसी प्रकार तटस्थ चेतन ईश्वरका संसारके कार्योंमें कोई लगाव नहीं। वह मात्र देखनेवाला है। जैसे कुम्हारने घड़ा बना दिया, ऐसे ही ईश्वरने सृष्टि बनायी। अब कोई घड़ेको रखे या पटके। लेकिन वैदिक ईश्वरवाद ऐसा नहीं हैं। वे कहते हैं कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संसारसे जो सर्वथा पृथक् ईश्वर है, उससे हमारा क्या सम्बन्ध? उस असंगसे हमारा संग कैसे हो सकता है?

वेदान्तियोंको भी प्रायः भ्रम हो जाता है कि हम असंग हैं और सृष्टि हमसे पृथक् है। अरे! तुम असंग हो तो संगवान् कौन है? तुम चेतन हो तो जड़ कौन है? तुम केवल तुरीय हो तो ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ कौन हैं? तात्पर्य यह कि पूर्णत्वको समझनेके लिए प्रथम तो इसका पृथक्करण आवश्यक होता है; किन्तु समझ लेनेपर—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

अमृत भी मैं और मृत्यु भी मैं—सत् भी मैं और असत् भी मैं! मुझसे पृथक् कुछ नहीं है!

यहाँ ईश्वर केवल तटस्थ, निमित्तकारण नहीं है। वही उपादान भी है। घड़ेको बनानेवाले कुम्हारके समान ईश्वर नहीं है। वह कुम्हार भी है और जिस मिट्टीसे घड़ा बना; वह मिट्टी भी है। उपादानको समझ लेना चाहिए। घड़ेका उपादान मिट्टी है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह पूरी पृथ्वी घड़ेका उपादान है। कुम्हारने जितनी मिट्टीसे घड़ा बनाया, घड़ेमें जो सेर-दो सेर मिट्टी लगी, केवल वही मिट्टी उस घड़ेका उपादान है। संसारका उपादान ईश्वर है, उसका तात्पर्य है कि संसारमें जो भी कुछ है—यह दृश्य और यह देह भी, सब स्वयं ईश्वर बन गया है। इन सबका मसाला ईश्वर है। यह शरीर भी ईश्वर और इसमें 'अहं'रूपसे स्फुरित होनेवाला चैतन्य भी ईश्वर ही है।

इस प्रकार यह ईश्वर-प्राज्ञ सर्वयोनि है अर्थात् सबका उपादान कारण है। यह सबका उपादान कारण क्यों है? इसलिए कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यही समस्त प्राणियोंका उत्पत्ति और लय स्थान है। इसीसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और इसीमें प्राणियोंका लय होता है। इसीलिए यह सबका उपादान कारण है।

मिट्टीसे घड़ा वना और फूटा तो मिट्टी ही वच रही। स्वर्णमें एक आकृति वना दी तो उसका नाम आभूपण हो गया। पत्थरमें एक आकृति गढ़ दी तो वह मूर्ति हो गयी। इनमें घड़ेका उपादान कारण मिट्टी, अभूषणका उपादान कारण स्वर्ण और मूर्तिका उपादान कारण पत्थर हैं। इनमें आकृति वनानेवाला निमित्त-कारण है।

जव जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् होते हैं तव एकमें आकृति वनायी जाती है और एक आकृतिको वनाता है। इसलिए जिसमें आकृति वनायी जाती है, वह उपादान-कारण और जो आकृति वनाता है, वह निमित्तकारण होता है। लेकिन जहाँ चेतन ही उपादान-कारण है, वहाँ उसे दूसरा वनाये इसकी आवश्यकता नहीं। अतः वहाँ वही निमित्त-कारण भी होता है। इस प्रकार जहाँ निमित्त-कारण और उपादान-कारण दोनों एक होते हैं, वहाँ आकृति वनायी नहीं, कल्पित होती है।

इसे ठीकसे समझना चाहिए। आपको एक आकृति वनानी है। अव यदि उसे अपनेसे बाहर वनानी है तो आप मिट्टी, स्वर्ण, पत्थर, लकड़ी या कागजपर उसे वनायेंगे। किन्तु अपनेमें ही वनानी है तो केवल उस आकृतिकी कल्पनामात्र करेंगे।

अव यदि हमारा उपादान कारण सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप चेतन है तो वह अपनेमें आकृति वनानेके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं करेगा। अपने आपमें स्वयं ही वह आकृतियोंकी कल्पना कर लेगा। अतः यह ईश्वर अपने आपको ही समस्त नाम-रूपात्मक प्रपञ्चके रूपमें अनुभव कर रहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पनामात्र, स्फुरणमात्र या

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानमात्र है। चैतन्य अनेक नहीं हो सकता, क्योंकि अनेकता तभी होती है जब देश, काल और वस्तु वास्तविक हो। लेकिन देश, काल, वस्तु ज्ञानसे ही प्रकाशित होते हैं, ज्ञानके होनेसे हैं। ज्ञान न हो तो उनका भान नहीं हो सकता। अतः देश, काल, वस्तु ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। भेदमात्र ज्ञान द्वारा प्रकाश्य है, ज्ञानका प्रकाशक नहीं है। ज्ञानसे ही भेद प्रतीत होता है, अतः ज्ञानसे भिन्न भेदकी सत्ता नहीं है। जब ज्ञानसे भिन्न भेदकी सत्ता नहीं है, तब ज्ञान अखण्ड होगा; एक होगा, अनेक नहीं।

सत् स्वरूप ज्ञान क्षणिक नहीं होगा, क्योंकि ज्ञानमें क्षणिकताकी धारा नहीं हो सकती। जहाँ क्षणिकताकी धारा होगी, वहाँ काल होगा। जहाँ काल नहीं है, वहाँ क्षणिकता भी नहीं। जहाँ देश नहीं है, वहाँ विषय-विषयीभाव और जड़, चेतनाभाव नहीं है। इस प्रकार देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, स्वयंसिद्ध अद्वितीय ज्ञानमात्र वस्तु अपनेमें ही सम्पूर्ण आकृतियोंका अनुभव कर रही है।

एकोऽहं बहु स्याम्।

अर्थात् 'मैं एकसे अनेक हो जाऊँ' यह उसका संकल्प है। यदि वह जड़ होता तो एक रूपसे बहुतसे रूपोंमें रूपान्तरित हो जाता, उसमें परिणाम होता। किन्तु वह चेतन है, रूपान्तरोंका साक्षी है और है निर्विकार। अतः उसमें रूपान्तर नहीं, रूपान्तरका भानमात्र है। जो लोग जगत्के उपादानको चेतन मानकर भी उसे परिणामी मानते हैं, वे अनुभवी पुरुषोंके बीच उपहासास्पद हैं। इस प्रकार एक अखण्ड परम ब्रह्म ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जहाँ प्राज्ञ और सर्वेश्वरकी एकताका बोध हुआ, सम्पूर्ण सृष्टि अपना संकल्पमात्र हो गयी। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप है। ये शब्द, स्पर्शादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ हैं, इन्द्रियोंकी सत्ता मनके अधीन है। अतः यह सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्च चाहे स्थूल सृष्टिके रूपमें हो या सूक्ष्मसृष्टिके रूपमें संकल्प-मात्र और ज्ञानमात्र है। यही ब्रह्मका तृतीय पाद है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वोक्त मन्त्रोंकी कारिकाएँ

१.

माण्डूक्य-उपनिषद्में कुल बारह मन्त्र हैं। उनमेंसे अबतक छः मन्त्र आ चुके हैं। इन मन्त्रोंमें साधनभूत तीन पादोंका वर्णन हुआ है। अब इन तीन पादोंका अभिप्राय स्पष्ट करनेके लिए श्रीगौड़पादाचार्यकी कारिकाके आगेके श्लोक हैं। जो बात मन्त्रोंमें बतायी गयी है, वही आगेके इन श्लोकोंमें स्पष्ट की गयी है।

पहले इन कारिकाओंका थोड़ा-सा परिचय दे लें। माण्डूक्य-उपनिषद्को तो सब लोग, सब सम्प्रदाय प्रमाण मानते ही हैं, कारिकाओंको भी वैष्णवाचार्योंने प्रमाण माना है। जैसे माण्डूक्य-उपनिषद्में चार प्रकरण हैं, वैसे ही कारिकाओंमें भी चार प्रकरण हैं, क्योंकि कारिका तो उपनिषद्के अनुसार है। इनमेंसे आगम-प्रकरणकी कारिकाओंको कई वैष्णवाचार्य श्रुति मानते हैं और शेष तीन प्रकरणोंकी कारिकाओंको श्रीगौड़पादाचार्यकृत मानते हैं। कारिकाओंमें **इति वेदान्तनिश्चयः** स्पष्ट आता है। यह भी आता है 'यह बात बुद्धने नहीं कही।' इतनेपर भी कई बौद्धाचार्य कारिकाओंको अपना ग्रन्थ मानते हैं।

शांकर-सम्प्रदायके अनुसार चारों प्रकरणोंकी ही कारिकाएँ श्रीगौड़पादाचार्यकृत हैं। श्रीगौड़पादाचार्यके शिष्य श्रीगोविन्दपाद और श्रीगोविन्दपादके शिष्य भगवान् आद्यशङ्कराचार्य हुए। शङ्कराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्यने अपने भाष्यवार्तिकमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और नैष्कर्म्यसिद्धिमें इन कारिकाओंको उद्धृत किया है। श्रीगौड़-पादाचार्य भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीके शिष्य हैं। अतएव शुकदेवजीका जो सिद्धान्त श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित हुआ है, उसी 'अजातवाद'का सार-संग्रह इस माण्डूक्य-कारिकामें है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

अत्रैतस्मिन् यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥ १॥

बहिष्प्रज्ञ इति। पर्यायेण त्रिस्थानत्वात् सोऽहमिति स्मृत्या प्रतिसन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः, महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः॥ १॥

यह विश्व बहिष्प्रज्ञ और विभु है अर्थात् जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी जो बाह्य विषयोंका उपभोग करता है, वह केवल एक शरीरमें परिच्छिन्न नहीं, व्यापक है।

मूल श्रुतिमें तो 'विभु' शब्द है नहीं, फिर यह कारिकामें कहाँसे आया? मूल श्रुतिमें विश्वके सात अंग और उन्नीस मुख कहे गये हैं। उसमें सात अंगोंमें सम्पूर्ण अधिदैव आ गया है कि द्युलोक सिर है, सूर्य नेत्र हैं, अग्नि मुख है आदि और उन्नीस मुखोंमें समस्त अध्यात्म अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियादि प्रपंच आ गया है। बहिष्प्रज्ञ कहनेसे सब-का-सब अधिभूत आ जाता है। इन सबको अर्थात् संपूर्ण अधिभूत, अधिदैव एवं अध्यात्मको एक-कर उनमें 'मैं'पनेका अभिमान करनेवाला विश्व है। इसीलिए कारिकामें 'विभु' कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह विभु शब्द विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ तीनोंके साथ अन्वित है। विश्व बहिष्प्रज्ञ है और तैजस अन्तःप्रज्ञ है, किन्तु तैजस भी विभु है। सूक्ष्म-समष्टि भी सप्तांग और उन्नीस मुखवाली है। उसमें भी अधिदैव तथा अध्यात्मको पूर्णरूपसे ले लिया है। जाग्रत्‌में विषय बाहर प्रतीत होते हैं और स्वप्नमें अन्तःकरणमें। प्राज्ञ, सुषुप्तिका अभिमानी भी विभु है। क्योंकि उसे तो मूल श्रुतिने ही ईश्वर कहा है। यह प्रज्ञानमात्र, प्रज्ञाका घनीभाव होनेसे 'घनप्रज्ञ' कहा गया है।

वे विश्व, तैजस, प्राज्ञ पृथक्-पृथक् नहीं हैं। **एक एव त्रिधा स्मृतः** एक ही तत्त्व है जो तीन प्रकारसे कहा जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्रके सामने पिता है, पिताके सामने पुत्र है और पत्नीके सामने पति है। जाग्रत्‌में जो इन्द्रिय-वृत्तियोंका आश्रय लेकर बाह्य विषयोंका अनुभव करता है, वही स्वप्नमें अपनी ही स्फुरणाओंको मूर्तकर स्वप्नका अनुभव करता है और वही सुषुप्तिमें वृत्ति न रहनेसे सुषुप्तिके साक्षीरूपमें स्थित रहता है।

'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन स्थानोंवाला मैं ही हूं' इस प्रकारकी स्मृति द्वारा विचार-खोज करनेपर 'मैं तीनों स्थानोंसे पृथक् हूं, एक हूं, शुद्ध हूं' असङ्ग हूं; इस प्रकार आत्माका एकत्व, शुद्धत्व, असङ्गत्व सिद्ध होता है—यह अभिप्राय है। जैसा कि श्रुतिमें महामत्स्यादिका दृष्टान्त देकर समझाया है।

मनुष्य सामान्यतः देहमें आबद्ध है। अपनेको देह समझता है और देहके सम्बन्धियोंको अपना समझता है। परिणाम यह होता है कि देह और देहके सम्बन्धियोंकी अनुकूलतासे उसे राग तथा प्रतिकूलतासे द्वेष हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष होनेसे एक दूसरेका तिरस्कार, स्पर्धा, क्रोध, हिंसादि दोष आ जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मैंने एक महात्मासे पूछा : 'आप लोग समझाते तो हैं कि तुम देह नहीं हो; किन्तु जब कोई देहका अपमान करता है तो बहुत दुःख होता है !'

महात्मा बोले : 'यदि कोई मनुष्य कूड़ा फेंकनेके स्थानपर बैठ जाय और कोई उसपर कूड़ा फेंक दे तो दोष किसका है—बैठनेवालेका या कूड़ा फेंकनेवालेका ? जो गन्दी नालीमें जाकर बैठेगा, उसपर गन्दगी ही तो बहेगी। यह मल-मूत्र, हड्डी-मांस, चर्म-स्नायु, कफ-पित्त, रक्त-मांसका लोथड़ा देह है। इस देहमें 'अहं' करके जब तुम बैठोगे तो तुम्हें अपमान और दुःख छोड़कर और क्या मिलेगा ? क्या यह कोई पूज्य स्थान है कि इसमें अहंता करके बैठनेवालेकी पूजा हो ? अतः देहमें अहंता करनेवालेका तिरस्कार होना तो स्वाभाविक है। यह तिरस्कार इसलिए उचित भी है कि इससे समझ आये कि मैं किस गन्दे स्थानपर बैठा हूँ।'

हमने जो देहको 'मैं' मान लिया, यही जीवनकी सबसे बड़ी भूल है। यही सबसे बड़ा दुःख है। अब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंका विवेक किया गया तो उसका अभिप्राय यह निकला कि हम देह नहीं, देहसे भिन्न हैं। हम देहसे भिन्न हैं और सम्पूर्ण विश्व हमारा स्वरूप है। यह प्रथमपाद—अवस्था-त्रयविवेककी पहली शिक्षा है। अब इसमें दम्भ, दर्प, अभिमान आदि आसुरी सम्पत्तिके लिए कोई स्थान नहीं है। किसीको सतानेका अवकाश ही नहीं है। अब देहको लेकर होनेवाला दुःख, संघर्ष समाप्त हो गया।

दूसरा पाद—दूसरी शिक्षा है कि तैजस भी विभु है। शरीर-को छोड़ दें तब भी मनोवृत्तियाँ दुःख देती हैं। इस शिक्षामें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहा गया कि तुम एक देहमें सीमित मन नहीं हो। विश्वकी समस्त स्फुरणाएँ तुम्हारी हैं। सबके विचार, सबके मत, सबके संकल्प तुम्हारे हैं। अतः किसी विचार या संकल्पका विरोध करनेकी आवश्यकता नहीं रही। मतभेदमूलक विवाद और दुःख दूर हो गया।

तीसरा पाद—तीसरी शिक्षा है कि प्राज्ञ भी विभु है। समष्टिमें जो आनन्द है, विश्राम है, निद्रा है, समाधि है, वह सब प्राज्ञ है और वह अपना स्वरूप है। इसलिए यह हो और यह न हो, इसका आग्रह मिट गया। एक अन्तःकरण अमुक अवस्थामें रहे, अमुक अवस्थामें न रहे—यह आग्रह चला गया। इस प्रकार अवस्था-विशेषके रहने, न रहनेका दुःख भी चला गया।

जाग्रत्-अवस्थामें जब हम काम करते हैं तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों कार्य करते हैं। स्वप्नावस्थामें विश्व काम नहीं करता, प्राज्ञ और तैजस काम करते हैं। सुषुप्तिमें विश्व और तैजस दोनों प्राज्ञमें लय हो जाते हैं। इसलिए सुषुप्तिमें स्वप्न या जाग्रत्का स्मरण नहीं होता। सुषुप्तिसे स्वप्नमें अर्थात् प्राज्ञसे तैजसमें आनेपर सुषुप्तिका स्मरण होता है। जाग्रत्में, तैजससे विश्वमें आनेपर सुषुप्ति और स्वप्न दोनोंका स्मरण होता है।

अब आत्माको देखें तो यही जाग्रत्में है। देख रहे हैं, सुन रहे हैं, छू रहे हैं—यह सब आत्मा ही है। देखने, सुननेवाला आत्मा है और अन्यके रूपमें देखा, सुना जानेवाला भी अपना आत्मा ही है। स्वप्नमें भी यह आत्मा रहता है और सुषुप्तिमें भी। तीनों अवस्थाओंमें आत्मा, अपना स्वरूप या 'मैं' रहता है; किन्तु अवस्थाएँ तो एकके समय दूसरी नहीं रहती। अतः तीनों अवस्थाओंमें रहनेवाली 'मैं' वस्तु आत्मा ही तुरीय तत्त्व है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह तुरीय वस्तु जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें, विश्व-तैजस-प्राज्ञमें, ध्याता-ध्यान-ध्येयमें सत्त्व-रज-तममें, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयमें अर्थात् समस्त त्रिपुटीमें है। उसीका नाम परमात्मा है। वह तीनोंमें है और तीनोंमें नहीं है और तीनों वस्तुत: नहीं है।

श्रुतिमें एक दृष्टान्त दिया है कि एक बहुत बड़ी सरितामें एक महामत्स्य है। वह मछली कभी बीच धारामें रहती है और कभी किनारोंपर। कभी एक किनारेपर और कभी दूसरे किनारे-पर। किनारे पृथक् हैं; धाराएँ पृथक् हैं; और मछली उनसे पृथक् है। तीनों स्थानोंपर रहनेसे मछली तीन नहीं हो जाती, वह एक ही रहती है। मछली नदीमें पानीसे अलग है, अत: दोनों किनारों और धारासे असंग है। इसी प्रकार जब एक ही चेतन जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें आता है तो वह तीनोंसे पृथक् और तीनोंसे असंग है।

इस प्रकार प्रतिसन्धान, आत्मोन्मुख अनुसन्धान करनेसे आत्माकी असंगताका अनुभव होता है। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्तिका स्मरण होता है, तब यह स्पष्ट है कि मैं स्वप्न और सुषुप्तिसे पृथक् हूँ। जाग्रत्को छोड़कर मैं स्वप्न या सुषुप्तिमें चला जाता हूँ, इसलिए जाग्रत्से भी अलग हूँ। तीनों अवस्थाओंकी मुझे स्मृति होती है, अत: मैं तीनों अवस्थाओंमें एक हूँ—यह अनुभवसिद्ध वस्तु हुई।

यह ज्ञान परम सम्पत्ति है। इससे बड़ी, इससे पवित्र, इतनी उच्चकोटिकी दूसरी कोई सम्पत्ति नहीं। सम्पत्ति उसे कहते हैं जो सुखका साधन बने। स्वर्ण, मणि, माणिक्य मकान-मोटर आदि जिन्हें सम्पत्ति कहा जाता है, उसके विषयमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ये सुखके साधन नहीं हैं। क्योंकि जिनके पास ये सब हैं, क्या

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे सुखी हैं ? क्या उनके चित्तमें शान्ति है ? अतः इस भौतिक सम्पत्तिका सुखसे कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।

यह भौतिक सम्पत्ति जहाँ हो वहाँ सुख हो ही, यह नियम नहीं है। यह नियम भी नहीं है कि जहाँ यह सम्पत्ति न हो, वहाँ दुःख ही हो। बिना इस सम्पत्तिके भी बहुत-से लोग सुखी हैं। सुख इस सम्पत्तिके बिना भी रहता है। अतः इस सम्पत्तिमें सुख है, यह बात अज्ञानसे मानी हुई है।

तब प्रश्न उठता है कि सुखका किस सम्पत्तिसे सम्बन्ध है ? इसका सम्बन्ध है एकता, समता और असंगतासे। यही वास्तविक सम्पत्ति है। तत्त्वदृष्टिसे एकता, चित्तभूमिमें समता और व्यवहारमें असंगता। जब नाना प्रकारके व्यवहार करते हुए भी उसमें आसक्ति न हो, व्यवहारमें विभिन्न विषम आचरण करते हुए भी चित्तमें समता हो, संयोग-वियोग, अपने-पराये सुख-दुःख, मान-अपमान-सबमें समता हो और भेद दीखनेपर भी उसे प्रतीतिमात्र समझ लिया गया हो, तब दुःखका अस्तित्व ही नहीं रहता।

जैसे गंगाका प्रवाह है; जैसे वायु चलती है, जैसे पृथ्वी है, ऐसा असंग जीवन होना चाहिए। पृथ्वीपर कितने ही लोग उत्पन्न होते—मरते हैं, वायुमें कितनी सुगन्ध ही दुर्गन्ध मिलती है, गंगामें पुष्प और मुर्दे दोनों बहते हैं। इनमें जो असंगता है, वही असंगता जीवनमें आने दो।

यह राग-द्वेष स्थायी कहाँ है ? आज जिससे बहुत राग जान पड़ता है, कल उसीसे द्वेष हो जाता है। आज जिससे शत्रुता हुई, कल वही मित्र बन जाता है। सुषुप्तिमें राग-द्वेष कहाँ रहता है ? अपनेमें हम व्यर्थ एक प्रवाही भावको आरोपित करके सुखी-दुःखी होते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थूल-जीवनमें ही राग-द्वेषकी यह स्थिति है कि वे आज हैं, कल नहीं। अब अपने विश्व-जीवनकी दृष्टिसे देखो। अथवा विश्वके मूलमें जो संकल्प है, उसे ईश्वरकी दृष्टिसे देखो तो संसारमें बन्धन कहाँ है? राग-द्वेष कहाँ है?

किसी समय जीवनमें दुःख आये तो कल्पना करो कि उसके दो वर्ष पश्चात् वह दुःख कितना रहेगा। दो घंटे पीछे ही वह उतना नहीं रहेगा। दुःख हल्का होता चला जाय और सुखका विकास होता जाय, यही जीवनका नियम है। दुःख आता है बाहरसे, अतः क्षीण होता ही जायगा। अपना स्वरूप ही आनन्द-रूप है, अतः व्यवहारमें असंगता होना इष्ट है।

शुद्धि-अशुद्धि, धर्म-कर्म, कोई भी भाव, कोई भी अवस्था, कोई भी नाम-रूप ऐसा नहीं जो आत्माके साथ स्थिरतासे जुड़ा रहे। ये सब भाव क्षणिक हैं, आने-जानेवाले हैं। सूर्यके प्रकाशमें कितने कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते-मरते हैं; किन्तु सूर्यका प्रकाश ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार स्वयंप्रकाश द्रष्टा आत्मा सबसे पृथक्, सबमें एक और सबसे असंग तथा सर्वथा शुद्ध है।

शुद्धि-अशुद्धि कहाँ होती है? जहाँ एक वस्तु दूसरीमें मिल जाय, वहाँ अशुद्धि होती है। जहाँ दूसरी वस्तु ही नहीं, वहाँ अशुद्धि नहीं होती।

असंगता भी दो प्रकारकी होती हैं। एक तो दूसरी वस्तु हो और उससे असंग हो। जैसे : जलमें कमल। जल है और कमल भी है। किन्तु कमल जलसे असंग है। लेकिन 'स्वप्नमें द्रष्टा असंग है' का तात्पर्य यह है कि वहाँ दृश्य मिथ्या है। उस मिथ्या दृश्यका अधिष्ठान स्वप्नका द्रष्टा स्वप्नके दृश्योंकी सत्ता न होनेसे असंग हैं। इसीप्रकार आत्मा अद्वितीय होनेसे असंग है। क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके विवेकसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन तीनोंमें रहने वाला द्रष्टा एक है। वह इन तीनोंसे विलक्षण है, तीनोंसे असंग है—परिस्थितियोंसे असंस्पृष्ट और शुद्ध है।

इसीको और स्पष्ट समझ लो। गीतामें भगवान्ने कहा है कि :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

शीत-उष्ण एवं सुख-दुःख देनेवाली तन्मात्रओंके स्पर्श अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सब अनित्य हैं और आने-जानेवाले हैं। धर्म-अधर्मरूप क्रिया, धर्म-अधर्मके जनक हेयोपादेय, अज्ञान-मूलक राग-द्वेष, इनका फल सुख-दुःख और इनके कर्ताभोक्तापनेका अभिमान, यह सब जाग्रत् और स्वप्नमें रहते हैं, सुषुप्तिमें नहीं रहते। सुषुप्तिमें इनकी निवृत्ति हो जाती है।

हमारे धर्म-अधर्म, राग-द्वेष, सुख-दुःख ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके भिन्न-भिन्न हैं, अतः इनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध स्वरूप इन जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे पृथक् होकर शुद्ध, और शुद्ध होकर असंग हैं तथा तीनों अवस्थाओंमें वह एक है। अवस्थाओंके विवेकसे आत्माका एकत्व, शुद्धत्व, असंगत्व तथा अवस्थाओंसे पृथक्त्व ये चार बातें सिद्ध हुईं।

ये तीनों अवस्थाएँ आत्मामें कल्पित हैं। इनका अध्यारोप आत्माको समझनेके लिए किया गया है। आप सोचें कि सुषुप्ति अनुभव-सिद्ध है क्या? 'मैं सुखसे सोया था' यह ज्ञान जिसे हुआ, जिसको सुषुप्तिका अनुभव हुआ, यह तो सोया नहीं था। सो गया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता तो अनुभव कैसे करता ? जो सो गया था उसने अनुभव नहीं किया और जिसने अनुभव किया वह सोया नहीं था। सच बात यह है कि बुद्धिके साथ तादात्म्य करके बुद्धिकी सुषुप्ति हम अपनेमें आरोपित कर लेते हैं। अब यदि बुद्धि और अनुभवको पृथक् कर दें तो बुद्धि सो गयी उसे अपने सो जानेकी स्मृति नहीं हो सकती और अनुभव सोया नहीं था। अतः सुषुप्ति स्मृतिरूपा नहीं है। अपनेमें कल्पित आरोपित है।

न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।

द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, यह श्रुति कहती है। अब मृत्युको लो, तो मृत्युकी स्मृति भी नहीं होती। 'मैं मर गया था' ऐसा स्मरण किसीको नहीं होता। देहके साथ तादात्म्य करके 'मैं मरूँगा' यह भय होता है। यह भय कोई सच्चा नहीं है, कल्पना है। यह कल्पना क्यों हुई ? दूसरोंको मरते देखकर; क्योंकि अपने मरनेका अनुभव तो कभी किसीको होता नहीं; किन्तु दूसरोंको मरते आपने कहाँ देखा ? मरते देखा है केवल देहको। लेकिन देह मरता तो नहीं। देह पञ्चभूत है और मरनेके बाद पञ्चभूत ही रहता है। आत्मा या जीव देखा नहीं। अतः आत्माके अज्ञानसे ही मृत्युकी कल्पना हम करते हैं। तात्पर्य यह निकला कि अग्रहणका नाम ही मृत्यु है। अग्रहणका नाम ही सुषुप्ति है।

अब स्वप्न और जाग्रत्को लें। स्वप्नकालमें जाग्रत्की स्मृति नहीं होती और जाग्रत्में स्वप्न झूठा प्रतीत होता है। अतः स्वप्नसे जाग्रत्का और जाग्रत्से स्वप्नका बाध हो गया। ये दोनों अवस्थाएँ भानमात्र-प्रतीतिमात्र हैं। प्रपञ्चके अस्तित्वमें यही दोनों अवस्थाएँ प्रमाण हैं और दोनोंका बाध हो गया तो पूरे प्रपञ्चका बाध हो गया। केवल साक्षी तटस्थ रह गया। इस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञका विवेक तुरीयके ज्ञान तक ले जानेके लिए है। १।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२.

अब जाग्रत् अवस्थाको ही लो तो इसमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों हैं और हम तुरीय हैं इसमें भी। यही बात अब आगे कही जा रही है।

अब श्रीगौड़पादाचार्यकी कारिकाका यह जो दूसरा श्लोक है, वह जाग्रत् अवस्थामें ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनोंका अनुभव होता है, यह बात बतलानेके लिए है।

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (बृ० उ० ४. २. २) इति श्रुतेः। इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः। आदित्यान्तर्गतो वैराजः आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः। नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी। न स्वतो भेदानभ्युपगमात्। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६ ११) इति श्रुतेः। क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (गीता १३.२) अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। (गीता० १३.१६) इति स्मृतेः। सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य। दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति। यथात्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति; मनोव्यापाराभावात् । दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते, तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानम् । 'प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते ।' (छा० उ० ४. ३. ३) इति श्रुतेः । 'प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' । (छा० उ० ४. ३. ६) इति श्रुतेः । तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात् । 'लिङ्गं मनः' (बृ० उ० ४.४.६) 'मनोमयोऽयं पुरुषः' (बृ० उ० ५. ६. १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथमव्याकृतता ?

नैष दोषः । अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात् । यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथापि पिंडपरिच्छिन्न-विशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम् । यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसववीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः । परिच्छिन्नाभिमानिनामध्याक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च ।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य ।

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः ।' (छा० उ० ६. ८. २) इति श्रुतेः । ननु तत्र 'सदेव सोम्य (छा० उ० ६. २. १) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम् ।

नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः । यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसववीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च । यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् 'नेति नेति' (बृ० उ० ४.४ २.२;४.५.१५) 'यतो वाचो निवर्तन्ते (तै० उ० २.९) 'अन्यदेव तद्विदितादथो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविदितात्' (के० उ० १.३) इत्यवक्ष्यत् 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता १३. १२) इति स्मृतेः।

निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात् । मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, बीजाभावाविशेषात् । ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः । तस्मात् सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः ।

अत एव 'अक्षरात्परतः परः' (मु० उ० २.१.२) 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० उ० २.१. , 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै० उ० २.९)। 'नेति नेति' (बृ० उ० ४.४.२२) इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेश । तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धजाग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति । बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥ २ ॥

देह शब्द संस्कृतमें दिह्-उपचये धातुसे बना है इसका अर्थ है ढेर अर्थात् हड्डी, मांस, स्नायु, रक्त, कफ, मेद आदिकी एक राशिको देह कहते हैं। जैसे पहिया इञ्जिन, कल-पुर्जे आदिकी एक राशि-विशेषको मोटर कहते हैं। यह देह नाम कल्पित है।

इस साढ़े तीन हाथके हस्तपादादियुक्त विमानमें ही परमात्मा बैठा है उसे यहीं ढूँढना है—

> **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।**
> **परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥** —गीता

अब इस शरीरमें परमात्माका अन्वेषण करना है। इसी अन्वेषणके लिए कहा : **त्रिधा देहे व्यवस्थिता** देहमें वह चेतन तीन प्रकारसे स्थित है। इसीको भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब हम जाग्रत् अवस्थामें दाहिने नेत्रमें आकर सृष्टिका अनुभव करते हैं तो हमारी संज्ञा विश्व होती है।

इस समय हम बाहर घड़ीको देख रहे हैं तो कहाँ होकर देख रहे हैं? यह नेत्र पद केवल नेत्रका वाचक नहीं है। यह कर्ण, नासिका, त्वचादि ज्ञानेन्द्रियमात्रका वाचक है। अर्थात् हम ज्ञानेन्द्रियोंमें बैठकर उनके द्वारा जगत्के विषयोंका अनुभव करते हैं। यहाँ दक्षिण नेत्र प्रधान होनेसे उसे इन्द्रियोंके उपलक्षण रूपमें कहा गया है।

जब हम बाहरके अधिदैवके प्रकाशका सहारा लेकर अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, अश्विनीकुमारादि इन्द्रियोंके अधि-देवतओंके आश्रयसे बाहरके विषयोंका अनुभव करते हैं तब हमारा नाम विश्व होता है।

जब हम बाहरके प्रकाशका सहारा नहीं लेते, भीतर ही विषयोंको देखते हैं तो हमारा नाम तैजस होता है। आप मनमें जो वृन्दावन, कलकत्ता, दिल्ली आदिकी कल्पना करते हैं, वहाँके दृश्य देखते हैं, वहाँ बाहरका कौन सा प्रकाश है? वहाँके सब दृश्योंको आप स्वयं प्रकाशित करते हैं।

जब हम बाहर या भीतर कहीं किसी प्रकाशका आश्रय लिये बिना कुछ नहीं देखते, तब हमारा ही नाम प्राज्ञ होता है।

इन्धका अर्थ है दीप्तिगुण। यह दक्षिण नेत्रमें बैठनेवाला पुरुष दीप्तिगुण-प्रकाश-स्वरूप है। नेत्रमें बैठकर जो द्रष्टा बना है और सूर्यमें प्रकाशक रूपसे स्थित है, दोनों एक ही हैं।

हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण विश्वका नियन्ता है और क्षेत्रज्ञ द्रष्टा जो दक्षिण नेत्रमें बैठनेवाला है, यह देहका स्वामी है ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं, ऐसी बात नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि इस चैतन्यस्वरूपमें भेद नहीं है। केवल उपाधिके भेदसे चैतन्यमें भेद प्रतीत होता है।

श्रुति स्पष्ट कहती है कि एक ही देवता समस्त प्राणियोंमें छिपा है। प्राणी तो पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु उनमें प्रकाशात्मा एक ही है।

ये जो प्राणी पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, यह जिसमें दिखायी पड़ रहे हैं, उसमें भी नहीं हैं और जो देख रहा है उसमें भी नहीं हैं। द्रष्टा और अधिष्ठानकी एकता का बोध न होनेसे ये दिखायी पड़ रहे हैं।

जैसे यह घड़ी दीख रही है। यह आकाशमें दीख रही है अथवा धातुमें दीख रही है और ज्ञानके प्रकाशसे दीख रही है। जब तक आकाश या धातुरूप अधिष्ठान पृथक् और देखनेवाला पृथक् है, तभी तक घड़ी दीखती है।

स्वप्नमें जो आकाश या पदार्थ दीखते हैं, वे द्रष्टासे पृथक् नहीं होते। वहाँ द्रष्टा ही अधिष्ठान है, वही उन पदार्थोंके रूपमें बन गया है और उनका प्रकाश भी वही है। इसी प्रकार जाग्रत्‌में भी द्रष्टा ही अधिष्ठान है, किन्तु यह ज्ञात न होनेसे भेद दीख रहा है।

जब हमने अपनेको देशमें परिच्छिन्न माना तो दूसरे परिच्छिन्न देशमें घड़ी दीखी। जब हमने अपनेको कालमें परिच्छिन्न माना तो दूसरे परिच्छिन्न कालमें घड़ी दीखी। जब हमने अपनेको वस्तुके रूपमें परिच्छिन्न माना तो दूसरी परिच्छिन्न वस्तुके रूपमें घड़ी दीखी। अब घड़ीसे उपहित चैतन्यसे जब तक हमारा एकत्व नहीं होगा, तब तक हम पृथक् और घड़ी पृथक् बनी रहेगी। लेकिन घड़ीका ज्ञान हमें कब होगा, जब घड़ी अवछिन्न चैतन्यसे हम वृत्तिके द्वारा एकत्व प्राप्त करेंगे। यहाँ वृत्त्यारूढ़ चैतन्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिच्छिन्न है। यदि हम समझ लें कि वृत्तिके द्वारा चैतन्यमें परिच्छेद नहीं होता और वस्तुके द्वारा भी परिच्छेद नहीं होता तो अपनी अपरिच्छिन्नताको जान लेनेपर अपने अपरिच्छिन्न ज्ञान-स्वरूपमें द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय दोनों वाधित हो जायँगे। अखण्ड अपरिच्छिन्न सत्तामें न घड़ी पृथक् है, न घड़ीका ज्ञाता।

अपनी परिच्छिन्नताकी स्वीकृति अविवेकसे है। इसे दूर कर देनेपर एक परिपूर्ण परमात्मा ब्रह्म ही रहता है।

भूत—**भवन्तीति भूतानि** अर्थात् जो होते हैं उनका नाम भूत हैं। एक वस्तु वनायी जाती है और एक वस्तु ज्योंकी त्यों रहती है। वनायी हुई वस्तुके निर्माणकी प्रक्रियाका नाम आरम्भवाद है। अर्थात् भगवान्ने सृष्टि वनायी। होनेकी प्रक्रियाका प्रतिपादन परिणामवाद है अर्थात् स्वयं भगवान् सृष्टि वन गया। सत्य वस्तुके प्रतिपादनका नाम विवर्तवाद है। भगवान् ही है। सृष्टि कुछ नहीं है। सृष्टि केवल प्रतीति है।

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है। चेतन ताते भिन्न तहाँ है।
जहाँ होइ चेतन आधारा। तहाँ न द्रष्टा होवइ न्यारा।।

—वि० सा०

जहाँ अधिष्ठान जड़ होता है, वहाँ द्रष्टा पृथक् होता है; जहाँ अधिष्ठान चेतन है, वहाँ द्रष्टा चेतन होनेसे अधिष्ठानसे अभिन्न है।

अब यहाँ एक वात ठीक समझनेकी है। जो अपनेको ब्रह्म-ज्ञानी मानते हैं, उनमें अधिकांश वुद्धिमें अहं भाव करके वैठे हैं। 'ब्रह्मको जाननेवाली वुद्धि मेरी' जहाँ यह भाव है, वहाँ ब्रह्मज्ञान कहाँ है? वहाँ तो ब्रह्म ज्ञाता परिच्छिन्न हो गया। ज्ञाता वनकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बैठनेपर अन्तःकारणका त्याग नहीं हुआ। अतः ऐसे लोग या तो योगमें लगते हैं या उपासनामें। अन्तःकरणमें 'मैं—मेरापन' रखना ही तो जीवत्व है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान—ब्रह्मस्वरूपका अन्तःकरणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें तो दृश्यकी भाँति अन्तःकरण भी आरोपित है।

अन्तःकरणका भी बाध हो जाना चाहिए। उसकी सत्ता बनाये रखकर ब्रह्मस्वरूपकी अनुभूति नहीं होती। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ। प्राज्ञ, तैजस, विश्व—सब मैं ही हूँ। यह सब दृश्य प्रपंच, स्वर्ग-नरक मुझमें ही कल्पित हैं। मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह कोई भावना, स्थिति या वृत्ति नहीं है। यह तो सत्य वस्तु है।

तुम पहिले बद्ध थे, जीव हो गये थे और अब ज्ञानसे मुक्त हुए— यही तो भ्रम है। तुम ज्यों-के-त्यों हो। तुम मुक्त ही थे। इसे तुमने जान लिया—बस। ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ करता, केवल अविद्याकी निवृत्ति होती है। वृत्तिज्ञान भी अविद्या-निवृत्त करके बाधित हो जाता है।

ब्रह्मनिष्ठकी निष्ठा नहीं है। निष्ठा तो अन्तःकरणकी, व्यक्तिकी वस्तु है। उसका स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अविद्या-निवृत्त करके यह ब्रह्मात्मैक्य निश्चय स्वयं बाधित हो जाता है। अतः यह जो चैतन्य है, वह एक है। उसमें भेद नहीं है।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

उपनिषदोंमें महावाक्यों द्वारा जिस अर्थका प्रतिपादन हुआ है, गीतामें इस आधे श्लोक द्वारा उसी अर्थका प्रतिपादन हुआ है। इसमें 'भारत' सम्बोधन अधिकारीकी योग्यता सूचित करता है। भरतवंशमें उत्पन्न होनेके कारण आनुवंशिक योग्यता और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'भा' प्रतिभामें 'रत' अर्थात् बुद्धिप्रेमी-विचारवान्। यह बौद्धिक योग्यता हो गयी।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि इसमें 'क्षेत्रज्ञ' त्वम्—पदार्थ और **माम्** तत् पदार्थ है और दोनों के सामानाधिकरण्यसे एकता तथा **विद्धि** से जान। जो क्षेत्रज्ञ है वह परमात्मा और जो परमात्मा ब्रह्म है सो क्षेत्रज्ञ; इस बातकी भावना नहीं करनी है, इसे जानो। इस प्रकार आत्मा-परमात्माकी एकताका प्रतिपादक होनेके कारण यह महावाक्य हो गया।

इसमें एक विशेषता है **चापि** अर्थात् भी। **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** क्षेत्रज्ञ भी मुझे समझो अर्थात् जगत् भी मैं ही हूँ। इस श्लोकका स्पष्ट तात्पर्य गीताके तेरहवें अध्यायमें ही है:

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

यह शरीर हो गया क्षेत्र और इस क्षेत्रमें रहकर इसे जाननेवाला द्रष्टा है क्षेत्रज्ञ। क्षेत्रका वर्णन करके क्षेत्रज्ञका वर्णन करना चाहिये था; किन्तु क्षेत्रज्ञका स्वरूप सब समझ नहीं सकते, इसलिए साधनका वर्णन किया। साधन-चतुष्टय सम्पन्न ही क्षेत्रज्ञको ब्रह्म जाननेका अधिकारी है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्। इत्यादि

अब इसे समझना चाहिए। अमानित्व ज्ञान है और मानित्व अज्ञान है। अदम्भित्व ज्ञान है और दम्भित्व अज्ञान है। यही बात सबके साथ हुई। साधारण लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि जहाँ मान न हो वह अमान, उस अमानका अभिमानी अमानी। इस अमानीका भाव हुआ अमानित्व। लेकिन यह परम्परा संगत नहीं है। अमानीपनेमें जो स्थिति है, उसका नाम ज्ञान नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसी वस्तुके मानको ही मान कहते हैं। मानी उसे कहेंगे जो एक परिमाणमें रहनेवाली वस्तुको अपनी मान ले। इस देहको अपना मानना हुआ मान। इस मानका सर्वथा निषेध हुआ अमानित्व। अर्थात् अपनेमें मानका और मानीपनेके अभिमानका और उस अभिमानके भावका भी निषेध करनेपर अमानित्व होगा।

यहाँ यह विचार करनेकी बात है कि भगवान्ने गीताके इस तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ इन दो बातोंके निरूपणकी प्रतिज्ञा की थी। साधन बतलानेकी बात तो की नहीं थी। लेकिन क्षेत्रका निरूपण करके बीचमें ही साधनका वर्णन उन्होंने किया। फिर बारहवें अध्यायमें इन साधनोंका निरूपण हो चुका है। तब ये निरूपण यहाँ क्यों है?

बारहवें अध्याय तथा तेरहवें अध्यायके साधन एक नहीं हैं। बारहवें अध्यायमें 'तत्' पदार्थकी प्रधानता है और तेरहवें अध्याय-में क्षेत्रज्ञका वर्णन **ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि** आदिके द्वारा किया गया है। यह ज्ञेय रूपमें जो ब्रह्मका वर्णन है, वह क्षेत्रज्ञ है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

इसके द्वारा स्पष्ट कह दिया कि दृश्य जगत्में बाहर वही चर-अचर सब है और प्राणियोंके भीतर क्षेत्रज्ञ भी वही है। तात्पर्य यह कि ज्ञाता-क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र दोनों प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्मसे अभिन्न हैं।

यहाँ चार बातें ध्यानमें रखनेकी हैं: १. क्षेत्र क्षयिष्णु है, अनित्य है और क्षेत्रज्ञ नित्य है। २. क्षेत्र विकारी है **सविकारम्** और क्षेत्रज्ञ निर्विकार है। ३. जो विकारी है, वह मिथ्या और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो निर्विकार है वह सत्य। ४. जो मिथ्या है, वह अपने अधिष्ठान-स्वरूप सत्यसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार गीताका तेरहवाँ अध्याय महावाक्यके अर्थका निरूपण ही है।

गीताका चौदहवाँ अध्याय जीवन्मुक्तिका निरूपण है। वहाँ गुणोंकी अवस्था तथा विलासका वर्णनकरके आत्माको गुणातीत बताया। गुणोंकी किसी भी अवस्थासे आत्माका कुछ बिगड़ता नहीं, यह प्रतिपादित किया है। बारहवें अध्यायमें भक्ति यानी 'तत्' पदार्थका अनुसन्धान है। तेरहवें अध्यायका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विवेक आत्मा-अनात्माका विवेक है और चौदहवें अध्यायमें जीव-न्मुक्तिका निरूपण है। तीसरा प्रमाण भी भगवान् भाष्यकारने गीताका ही दिया है। यह प्रमाण भी तेरहवें अध्यायका ही है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि आचार्यगण गीताको स्मृतिग्रन्थकी कोटिमें मानते हैं।

जगत्के मूलमें जो तत्त्व है, वह भूतों, प्राणि-पदार्थोंमें अवि-भक्त है; किन्तु विभक्तकी भाँति प्रतीत होता है।

है, हुई, की गयी—यह वस्तुकी तीन स्थितियाँ हैं। इसमें बनना आरम्भवाद, होना परिणामवाद और है—विवर्तवाद है। वैशेषिक, न्याय आदि आरम्भवादी हैं। सांख्य, योग आदि प्रकृतिपरिणाम-वादी हैं। पूर्वमीमांसा कर्मपरिणामवादी है। श्रीरामानुज आदि ब्रह्मपरिणामवादी हैं। बौद्ध शून्यवादी अथवा विज्ञानपरिणामवादी हैं। अद्वैत-वेदान्त विवर्तवादी है।

विवर्तवादका तात्पर्य है कि कोई वस्तु बनायी नहीं गयी। वस्तु कोई हुई नहीं। बनायी गयी और हुई-सी ज्ञात होती है। यह भी ज्ञात होता है कि ऐसे बनायी गयी या ऐसे बनी। इसमें ज्ञात होना तो असन्दिग्ध है और ऐसी बनी या ऐसे बनायी गयी, यह सन्दिग्ध है। यह केवल सन्दिग्ध ही नहीं, विपर्यय यानी मिथ्याज्ञान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। अतः ज्ञान स्वतःप्रमाण है और ज्ञानसापेक्ष पदार्थ हैं परतः प्रमाण। ज्ञानके विना उनकी सिद्धि नहीं होती, अतः ज्ञानसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है।

इस प्रकार ये जितने प्राणी-पदार्थ पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, ये प्रतीत होते हैं। इनमें जो अविभक्ति है, वही मूल तत्त्व है; क्योंकि हैके विना होना नहीं हो सकता।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। —गीता

जो वस्तु है, वह नित्य है। उसका अभाव नहीं हो सकता। वह न उत्पन्न होती है और न मिटती है। जो वस्तु नहीं है असत् है; उसका भी जन्म या मृत्यु नहीं; क्योंकि वह कभी होती ही नहीं। तात्पर्य यह कि जन्म-मृत्यु दोनों अपदार्थ हैं। ये कोई तत्त्व नहीं, केवल प्रतीत होते हैं। प्रतीत होते हैं; किन्तु सिद्ध नहीं होते। अतः सत्य-असत्यरूपसे निर्वचनीय नहीं, अनिर्वचनीय हैं। जो वस्तु अनिर्वचनीय होती है, वह अपने स्वरूपसे भिन्न नहीं होती; क्योंकि अपनेसे भिन्न 'इदम्' तभी होगा, जब उसका निर्वचन हो। जितने प्रतीत होनेवाले पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप मन वाणीसे अगोचर जो वस्तु है, वही विभक्त जैसी प्रतीत होती है। पृथक्-पृथक् है नहीं, केवल पृथक्-पृथक् जान पड़ती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेदान्त-सिद्धान्तमें ईश्वर-प्राज्ञका, हिरण्यगर्भ और तैजस क्षेत्रज्ञका, विराट् और विश्वका भेद स्वीकृत नहीं है। भेद केवल ऐन्द्रियक है, प्रातीतिक है। एक ही वस्तु है जो अपनेको विश्व, तैजस, प्राज्ञके रूपमें तथा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरके रूपमें प्रतीत करा रही है—स्वयं इन रूपोंमें स्फुरित हो रही है। स्फुरणके अतिरिक्त भेद नामकी कोई वस्तु नहीं है।

यद्यपि विश्व सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें समान रूपसे ही है, फिर भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषयोंको देखकर संस्कारके आधानमें विशेषता है। दाहिने नेत्रमें होनेसे यहाँ विश्वका निर्देश है।

हम लोगोंपर सुने हुए भावका उतना संस्कार नहीं पड़ता, जितना देखे हुए का पड़ता है। इसी प्रकार नासिकासे सूँघकर, त्वचासे छूकर तथा रसनासे चखकर भी हम उतना संस्कार नहीं ग्रहण करते; जितना देखनेका संस्कार पड़ता है। इससे निष्कर्ष निकला कि नेत्रमें हमारी उपस्थिति अधिक है। वैसे यहाँ दक्षिण नेत्र सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका उपलक्षण है।

इन्द्रियोंके विषयमें दार्शनिकोंके दो मत हैं : प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। एक मत तो यह कि इन्द्रियाँ विषयोंके पास जाकर उनको ग्रहण करती हैं। दूसरा यह कि विषय इन्द्रियोंके पास जाते हैं, तब उनका ग्रहण होता है।

ज्ञानेन्द्रियोंकी पूर्ति कर्मेन्द्रियों द्वारा होती है। ज्ञानेन्द्रियोंको जो विषय प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, कर्मेन्द्रियाँ उसके लिए क्रियाशील होती हैं। अतः ज्ञानेन्द्रिय उनकी संचालक हैं, अन्तरंग हैं। वस्तुको बाहरसे कर्मेन्द्रियाँ लाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उन्हें भीतर पहुँचाती हैं। बुद्धि उनकी प्राप्ति, भोग तथा भोगजन्य सुखका अभिमान करती हैं। कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभिमान बुद्धिमें हैं।

ये इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थोंका संस्कार ले जाकर भीतर छोड़ देती हैं। कर्मके द्वारा भी संस्कार ही पड़ता है और ज्ञानके द्वारा भी सब संस्कार चित्तमें एकत्र होते हैं।

अब हम दाहिने नेत्रमें आकर बाहरका रूप देखकर नेत्र बन्द कर लेते हैं और नेत्र बन्द करके उसी रूपका स्मरण करते हैं, तब वह भीतर होता है। जैसे स्वप्नमें वस्तु संस्काररूप होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। बाहर रूप देखनेवाला तो विश्व हुआ और स्वप्नमें उस रूप-को देखनेवाला तैजस हुआ। इसका तात्पर्य यह कि बाहर नेत्र-में बैठकर देखनेवाला विश्व और भीतर मनमें बैठकर देखनेवाला तैजस है। अब यह देखना है कि जाग्रत्में बाहर नेत्र द्वारा जिसने रूप देखा, वह विश्व और जो नेत्र बन्द करके स्मरण करता है भीतर मनमें, वह तैजस क्या पृथक्-पृथक् हैं ? ऐसा नहीं है। जो मैं बाहर रूप देखता हूँ, वहीं मैं नेत्र बन्द करके उसका स्मरण भी करता हूँ। अतः मनमें बैठकर स्मरण करनेवाला तथा स्वप्न देखनेवाला तैजस भी विश्व ही है।

जो जाग्रत्के दृश्य देखनेवाला है, वही स्वप्नके दृश्य भी देखता है। दृश्यभेद एवं अवस्था-भेद होनेपर भी द्रष्टामें भेद नहीं है। पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंसे पृथक्-पृथक् विषयोंका अनुभव करने पर भी अनुभव करनेवाला एक है। विषयोंमें बाहर-भीतरका भेद होनेपर भी हम एक हैं। विषय तो जो कल था, आज नहीं; किन्तु उनका अनुभव करनेवाला मैं कल भी था और आज भी हूं। अर्थात् मुझमें आज और कलका कालकृत भेद नहीं है।

हम लोग बहुत-से संस्कारों-अविचारके कारण जकड़े हैं। संस्कार सभी अविचार जन्य हैं। मूल तत्त्व असंग है। उसपर कोई संस्कार पड़ता ही नहीं। उस असंस्कारीको हमने संस्कारयुक्त मान लिया और तभी एक संस्कारको धोने, दूर करनेके लिए दूसरे संस्कारकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

विषिण्वन्तीति विषया—जो वस्तु हमको भीतरसे बाहर खींचे और बाहर अपने साथ आबद्ध करे, उसे 'विषय' कहते हैं। हमारे ज्ञानस्वरूपको जो नाम-रूप बना दे, वह है विषय। विषयका अर्थ है पदार्थ। हम विषयोंको ही बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह केवल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानमात्र है, यह समझ नहीं पाते। इसलिए भोगनेमें हमें सुख जान पड़ता है। हम यह नहीं समझ पाते कि सुख बाहरी पदार्थसे नहीं, भीतरसे आता है। सुख हमारे मनका ही आकार है।

हम कर्मोंको, इन्द्रियोंको, अपनी वृत्तियों, कर्ता–भोक्ताको, भावनाको और स्थितिको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इन परिच्छिन्न पदार्थोंमें हमारी महत्त्वबुद्धि है। इनमें हम बँधे हैं। इनको छोड़ना नहीं चाहते। इनकी नश्वरताको नहीं समझते। इसीलिए अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूपका बोध नहीं होता।

साधनमें रुचि होनेपर भी हम इस शरीरमें ही बँधे रहते हैं। शरीरको ही भूषित करना चाहते हैं। जैसे धनी व्यक्ति कपड़ों-आभूषणोंसे देहको सजाता है, वैसे ही योगी या उपासक मनको सजाता है। एक अन्तःकरणको ही सजानेका यह सब प्रयास है। स्थूल-देह और सूक्ष्म-देहसे वैराग्य न होनेके कारण हमारा ज्ञान भी व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है। यह व्यक्तिनिष्ठा बड़े-बड़े विचारशीलोंको भी परमात्मामें स्थिर नहीं होने देती, बार-बार देहाभिमानी बनाती है।

लेकिन जहाँ वृत्तिज्ञान भी अविद्याको निवृत्तकर बाधित हो जाता है, वहाँ कोई स्थिति, कोई अभ्यास, कोई अवस्था, इष्ट या अनिष्ट हो सकती। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए ही यह विश्व, तैजस, प्राज्ञका विवेक चल रहा है। इसमें विश्व, और तैजसका एकत्व हो चुका। प्रतिपादित अब भाष्यकार प्राज्ञसे उसके एकत्वका प्रतिपादन करते हैं :

सुषुप्तिमें सब व्यापारोंका उपराम हो जाता है। तब मात्र घन-प्रज्ञ 'प्राज्ञ' रहता है। जाग्रत्में जब हम बाह्य विषयोंको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, तो विश्व रहता है। जाग्रत्में ही जब नेत्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन्द करके मनके द्वारा अनुभूत विषयोंका चिन्तन करते हैं तो यह अवस्था स्वप्न समान ही अन्तःप्रज्ञ हो जाती है। यह अन्तःप्रज्ञ 'तैजस' है। अतः विश्व ही इस अवस्थामें तैजस कहा जाता है। अब जाग्रत्में ही जब हम इन्द्रियोंसे किसी विषयका अनुभव नहीं करते और चित्तमें भी किसी विषयका चिन्तन नहीं करते तो समस्त व्यापारोंका उपरम हो जानेपर जाग्रत्में ही सुषुप्तिके समान अवस्था हो जाती है या नहीं ? उस समय प्रज्ञा, घनीभूत हो जाती हैं। मनका स्पन्दन नहीं होता। यही अवस्था प्रवृत्तियाँ प्राज्ञको हैं। अतः प्राज्ञ भी विश्वसे अभिन्न है। विश्वका ही नाम यहाँ प्राज्ञ हो गया है।

मनका स्पन्दन होता है तभी संसार दीख पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें जाग्रत्के मिथ्यात्वका बड़ा सुन्दर वर्णन है :

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।

अर्थात् जब कोई पुरुष अयुक्त होता है, अपने स्वरूपमें नहीं स्थित होता, मनके स्पन्दनको अपनेमें मान लेता है तब उसे नाना अर्थोंकी प्रतीति होती है। मनके चंचल होने, उनके इन्द्रियोंमें आकर बैठनेसे बाह्य दृश्यकी प्रतीति होती है। मन नेत्रमें न आये तो रूप नहीं दीखेगा, त्वचामें न आये तो स्पर्श नहीं होगा। जाग्रत्-अवस्थामें और स्वप्नावस्थामें भी मन चंचल होता है, इसीलिए विषयोंकी प्रतीति होती है।

किसी वस्तुकी चंचलतासे जो वस्तु या रूप प्रतीत होता है, वह मिथ्या होता है। जलती लकड़ी वेगपूर्वक घुमायी जाती है तो अग्निकी एक गोल रेखा दीखती है। यह गोल अग्नि झूठी प्रतीति है। बिजलीका पंखा पूरे वेगपर घूमता है तो जैसे मध्यमें पत्तियाँ हों ही नहीं, इस प्रकार ऊपरकी छत दीखती है। यह छत-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का दीखना भ्रम है, क्योंकि मध्यमें पंखेकी पत्तियाँ बार-बार आती रहती हैं। इसी प्रकार एक अखंड सत्ता हमारे मनकी चंचलतासे अनेक प्रतीत हो रही हैं।

जाग्रत् और स्वप्नमें जो नानात्वकी प्रतीति है, वह भ्रम है। सत्ता तो एक है और अखंड है। नानात्वके इस भ्रमको जब हम सच्चा मान लेते हैं तो उसमें गुण-दोष, अच्छा-बुरा, राग-द्वेष आदि वृद्धि हो जाती है। फिर उससे सुख-दुःख होने लगता है।

वृद्धिके साथ ही भेदका उदय होता है और वृद्धिके शान्त होनेपर भेद भी शान्त हो जाता है, यह हम सबका प्रतिदिनका अनुभव है। इस प्रकार जब 'अहम्' वृत्ति उदय होती है तब प्रपंच प्रतीत होता है और 'अहम्'वृत्ति उदय नहीं होती तो प्रपंच प्रतीत नहीं होता। अतः 'अहम्'वृत्तिसे भिन्न यह प्रपंच कुछ नहीं है।

जाग्रत् और स्वप्नमें तो संसार प्रतीत होता है; क्योंकि उस समय मनका स्पन्दन है। किन्तु जब मनका स्पन्दन नहीं होता तब 'तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाऽवस्थानम्—हृदयमें ही बिना किसी भेदके प्राणरूपसे अवस्थान होता है।

उस समय प्राण सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ढँक लेता है, किसी विषय-का दर्शन या स्मरण नहीं होता। उस समय प्राण अव्याकृत अवस्थामें रहता है। सुषुप्तिमें प्राण प्राणसे एक होकर रहता है। अब देखो तो विश्व विराट्से और तैजस हिरण्यगर्भसे एक है और दोनों मनमें स्थित हैं।

तैजस हिरण्यगर्भ मनमें स्थित है। 'मन ही लिङ्गशरीर है।' 'यह हिरण्यगर्भ पुरुष मनोमय है' इत्यादि श्रुतियोंसे तैजस और हिरण्यगर्भकी एकता प्रतिपादित होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यहाँ प्रश्न उठता है कि सुषुप्तिमें तो प्राण व्याकृत रूपसे रहता है। उसीमें इन्द्रिय, मन आदि करण लीन रहते हैं। तब उस प्राणको अव्याकृत क्यों बता रहे हो ? व्याकृतका अर्थ है विशेषवाला। सुषुप्तिमें लोगोंके प्राण पृथक्-पृथक् रहते हैं। ऐसी दशामें अव्याकृत ईश्वरके साथ प्राणकी एकता कैसे होगी ?

किन्तु व्याकृत प्राणको अव्याकृत कहना दोष नहीं; क्योंकि जागनेवालेकी दृष्टिसे तो सोते पुरुषोंकी श्वास पृथक्-पृथक् चल रही है। उसके लिए सोनेवालोंके शरीर पृथक्-पृथक् हैं। श्वास-प्रश्वासका स्थान पृथक्-पृथक् है और श्वास-प्रश्वासका परस्पर भी पार्थक्य है। किन्तु जो सो रहा है, उसकी दृष्टिमें प्राण पृथक् नहीं है।

जब प्राणाभिमानका उदय होता है, तब तो प्राणकी आकृति, उसकी क्रिया पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं; किन्तु सुषुप्ति-कालमें प्राण भिन्न-भिन्न शरीरमें भिन्न-भिन्न है, यह विशेष अभिमान नहीं रहता। अतः सुषुप्तिकालमें प्राण अव्याकृत रूपसे ही रहता है।

सुषुप्तिकालमें भी यद्यपि अभिमानीकी परिच्छिन्नता रहती है, किन्तु परिच्छिन्नताका अभिमान रहनेपर भी अपने प्राणके पार्थक्यकी प्रतीति नहीं रहती। अतः जैसे परिच्छिन्न अभिमानी पुरुषोंके भी प्राणका लय होनेपर प्राण अव्याकृत हो जाता है, वैसे ही प्राणाभिमानियोंके भी सुषुप्तिमें अविशेष रूपसे सो जानेके कारण उस समय उनका प्राण अव्याकृत होता है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। उस समय उसमें सम्पूर्ण प्रसव-बीजात्मकता रहती है। उस अवस्थामें एक जो उसका अध्यक्ष होता है, वह अव्याकृत-अवस्थामें होता है। ये जो परिच्छिन्नताके अभिमानी अध्यक्ष हैं, सभी उस दशामें ईश्वरसे एक हो जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिए यह कहा गया कि सुषुप्तिमें प्राणमें प्रज्ञाका घनीभाव हो जाता है। इन सब युक्तियोंसे प्राज्ञ और ईश्वरका एकत्व सिद्ध है।

प्रश्न उठता है कि जहाँ नाम-रूप नहीं है, वह अव्याकृतावस्था है। उस अव्याकृतावस्थाको प्राण क्यों कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं कि दूसरे स्थानोंपर तो प्राण शब्दका अर्थ पाँच वृत्तियाँ—प्राण, अपान, समान, व्यान ओर उदान–ही हैं; किन्तु यहाँ श्रुतिके अनुसार प्राण-शब्दका अर्थ अव्याकृत है।

हे सोम्य ! यह मन प्र णके साथ बँधा है। यहाँ मनका अर्थ है अन्त:करण। अन्त:करणोपहित चेतन, जीव यहाँ 'मन' शब्दसे लक्षित किया गया है। प्राणशब्दसे यहाँ बीजावस्थासे युक्त चेतन निर्दिष्ट है। जब सम्पूर्ण दृश्यका प्रलय हो जाता है, सम्पूर्ण प्रपंच बीजावस्थामें पहुँच जाता है, उस नामरूपहीन बीजावस्था यानी अव्याकृतको यहाँ 'प्राण' कहा है। सम्पूर्ण जगत्के बीचकी उपाधिको अपनेमें स्वीकारकर, अपनेमें लीनकर स्थित ईश्वर प्राण है और अपनेमें अन्तकरणकी उपाधि स्वीकार करने-वाला है जीव। यह जीव प्राण अर्थात् ईश्वरके साथ बँधा है। श्रुतिमें इसका सुन्दर विवेचन है :

यथा सूत्रेण प्रबद्धः शकुनिः दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्र आयतनम-लब्ध्वा स्वबन्धनमेवोपाश्रयते।

अर्थात् जैसे एक पक्षीको सूतसे बाँधकर सूतका दूसरा सिरा लकड़ीमें बाँध दिया है तो पक्षी इधर-उधर उड़ता-फड़फड़ाता है ! उसे तबतक शान्ति नहीं मिलती जबतक वह उड़ना-फड़फड़ाना त्यागकर जहाँ बँधा है, उसी लकड़ीपर बैठ न जाय। इसी प्रकार यह जीवात्मा अपने अन्तर्यामीके साथ बँधा है। जब यह उस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्तर्यामी ईश्वरको छोड़कर बाहर दौड़ता है, संसारमें नाना कामनाओंके पीछे भागता है तो इसे केवल अशान्ति, दुःख ही मिलता है। इसे सुख-शान्ति तभी मिलेगी जब अन्तर्यामीके पास आकर यह शान्त बैठ जाय।

यहाँ एक बड़े तथ्यको श्रुतिने व्यक्त किया कि पृथक्-पृथक् शरीर तो अपने-अपने अन्तःकरणोंके द्वारा प्रेरित होते हैं और अन्तःकरण अपने कारण, ईश्वरके साथ आबद्ध है।

सुख-शान्तिके लिए हम संसारके विषयमें प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ सुख-शान्ति पा नहीं सकते। संसारमें कोई ऐसा भोग नहीं, जिसे हम बराबर भोगते रह सकें। हम चौबीस घंटे भी लगातार एक भोगका सुख नहीं ले सकते; क्योंकि जहाँ बँधे हैं, उसे छोड़कर फड़फड़ा रहे हैं, अतः हमें लौटना पड़ता है।

जब हम बाह्य विषयोंमें सुख चाहते हैं तो वहाँ भले क्षणिक सुखकी कल्पना कर लें, हमें वहाँसे लौटना ही पड़ेगा। वहाँ लौटना पड़ेगा जहाँसे मन चला था। जहाँ जाकर सो जाता है वहीं स्थायी सुख-शान्ति है। वह अवस्था सुषुप्ति है। वहाँ मन प्राणमें सोता है। वह प्राण बीजावस्थायुक्त चेतन, ईश्वर है।

प्रश्न उठेगा कि यहाँ प्राण-शब्दका अर्थ बीजावस्थायुक्त चेतन या सगुण ब्रह्म क्यों ? निर्गुण ब्रह्म क्यों नहीं ?

यह सद्ब्रह्मका प्रसंग है। अर्थात् सत्तामात्र ब्रह्म, जिसमें नाम, रूप, क्रिया, भोग आदि कुछ नहीं है, केवल 'अस्ति' मात्र है। उस देश, काल, वस्तुके भेदसे रहित ब्रह्मको ही प्राण-शब्दसे कहा गया है। अतः प्राण-शब्दका अर्थ शुद्ध ब्रह्म न करके सगुण ब्रह्म क्यों किया जाय ? इसका उत्तर देते हैं :

यह दोष नहीं है कि प्राणशब्दसे हमने सगुण ब्रह्मको ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिया। वहाँ प्राणशब्द कारण-ब्रह्मका वाचक है, यह ठीक है; किन्तु मायाकी उपाधिसे युक्त ब्रह्मका ही यहाँ वर्णन है। वहाँ प्राण-शब्द-वाच्य ब्रह्म बीजात्मक है। सुषुप्ति, प्रलय, समाधि या मूर्च्छामें जो सत्मात्र ब्रह्म रहता है, उसमें सम्पूर्ण प्रपंचका बीज रहता है।

यह ठीक है कि **सदेव सोम्य** द्वारा श्रुतिने वहाँ सत्तामात्र ब्रह्मका वर्णन किया है, किन्तु जीवकी समस्त उपाधियोंके बीजात्मक रूपका परित्याग किये विना ही वहाँ सत्-पदार्थको 'प्राण' कहा गया है। क्योंकि जब हम सोकर उठते हैं तो सुषुप्तिसे पूर्वका स्मरण होता है। वर्षों पूर्वकी वस्तु स्मरण आती है। यह स्मृति यदि बीजरूपसे कहीं नहीं थी तो जाग्रत् कैसे हुई? कोई संस्कार हमारे हृदयपर कभी पड़ा और बीजरूपसे रह गया, अतः वह अव स्मृतिके रूपमें जाग्रत् हुआ। यह संस्कार बीजरूपसे सुषुप्तिकालमें भी था। उस समय नष्ट हो गया होता तो स्मृतिके रूपमें जाग्रत् न होता। इससे सिद्ध हो गया कि सुषुप्तिमें संस्कारोंसे बीज रहते हैं।

इसी प्रकार हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण वृत्तियोंकी बीजावस्था होती है। सुषुप्तिमें संस्कार बीजावस्थामें रहते हैं और स्वप्न तथा जाग्रत्में वासनाके रूपमें अंकुरित हो जाते हैं। वार-वार जन्म-मृत्यु, वार-वार निद्रा-जागरण विना बीजावस्था स्वीकार किये वन नहीं सकता। अतः सुषुप्ति और प्रलय दोनोंमें बीज रहते हैं। कल्पना, साधना, उपासना, वासना आदि सवका बीज संस्काररूपसे सुषुप्तिमें विद्यमान रहता है। आत्मानुभूति द्वारा जिस बीजका वाध होता है, उसे बीज स्वीकार किये विना जागरण-सुषुप्तिके क्रमकी सिद्धि नहीं होगी। अतः सुषुप्ति बीजावस्था है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपनिषद्में सत्-शब्दके द्वारा जो सन्मात्र ब्रह्मका वर्णन है, वह सबीज ब्रह्म, सगुण ब्रह्मका ही वर्णन है। यदि प्राण-शब्दसे वहाँ निर्बीज ब्रह्म अभीष्ट होता तो उसे 'यह नहीं, यह नहीं', 'जहाँसे वाणी लौट आती है', 'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे अन्य है'—इस प्रकार वर्णन करते, जैसा कि अन्यत्र इन श्रुतियोंने किया गया है और स्मृतिरूप गीतामें भी कहा है कि 'उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्।'

यदि वहाँ निर्बीज शुद्धब्रह्मका ही वर्णन होता कि सुषुप्ति-कालमें जीव शुद्धब्रह्ममें लीन हो जाता है अथवा समाधिमें शुद्ध-ब्रह्ममें लीन हो जाता है तो वहाँसे उत्थान सम्भव नहीं होता। क्योंकि जब एकबार निर्बीज ब्रह्ममें स्थिति हो जायगी, शुद्ध ब्रह्मको एकबार पा लेंगे तो वहाँसे फिर बाहर नहीं आ सकेंगे।

सुषुप्तिसे उत्थान होता है। प्रलयके पश्चात् सृष्टि होती है। यदि वहाँ क्रिया एवं स्मृतिका बीज न होता तो वहाँसे उठते कैसे? समाधि टूटती है, इसका अर्थ है कि समाधिकालमें कोई ऐसा संस्कार, कोई ऐसा बीज रहता है जिससे हम उठते हैं।

यदि ऐसा मानो कि सुषुप्ति, समाधि, प्रलय आदिमें बीज नहीं रहते, हम निर्बीज ब्रह्ममें लीन होकर फिर निकल आते हैं तो तत्त्वज्ञानी और मुक्त पुरुषोंका भी जन्म लेना मानना पड़ेगा। कारण सुषुप्ति, समाधि और प्रलय भी निर्बीज हैं और मुक्तावस्था भी निर्बीज है। यदि निर्बीजमें जाकर लौटना पड़ता हो तो मुक्तिसे भी लौटना पड़ेगा; क्योंकि निर्बीजता तो दोनों स्थानोंपर समान है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता कि सुषुप्ति, प्रलयादि सबीजा-वस्था है। निर्बीजावस्था तो बोध है। 'हम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म-स्वरूप हैं' जहाँ यह बोध होता है, वहीं निर्बीजता होती है। वहाँसे लौटना नहीं पड़ता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वामी दयानन्दजीने वैदिक सदाचारके पालनसे मुक्ति मानी है। इसीसे वे मुक्तिसे पुनर्जन्म मानते हैं। आर्यसमाजकी मुक्तिकी यह मान्यता पूर्व मीमांसाके स्वर्गकी मान्यताके समान ही है। जहाँ कर्म द्वारा मुक्ति स्वीकृत है, वहाँ अनेक जीव माने जाते हैं। जीव-भेद बिना माने कर्मकी प्रधानता हो नहीं सकती।

कर्म दो प्रकारके हैं: शारीरिक और मानसिक। शारीरिक कर्म सदाचाररूप हैं और मानसिक कर्म दो प्रकारके हैं—वृत्तिरूप तथा वृत्तिशान्तिरूप। वृत्तिरूप कर्म उपासना और वृत्तिशान्तिरूप कर्म योग कहलाता है। इसीलिए योग और उपासनामें भी जीव-भेद स्वीकृत है। भक्तिके सभी आचार्य आराध्यकी इच्छासे मुक्त पुरुषका भी संसारमें जन्म होना मानते हैं।

उपासना-मार्ग सगुण, निराकार अथवा साकार ईश्वरको स्वीकार करके चलता है और पूर्वमीमांसक तो सगुण ईश्वरको भी स्वीकार नहीं करते। वे कर्मकी ही प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह कर्मनिष्ठा जीवके कर्म-स्वातन्त्र्यको स्वीकार करके होती है, जब कि उपासना-सिद्धान्तमें जीव ईश्वर-परतन्त्र है, यह स्वीकार किया जाता है। दोनोंमें ही सबीजावस्था बनी रहती है।

तत्त्वज्ञानमें जो आत्माका स्वरूप है, उसमें स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य दोनों आरोपित हैं; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानसे बीजका ही दाह हो जाता है, सर्वथा बीज, दग्ध होता है। यदि सुषुप्तिमें भी निर्बीजता मानें तो ज्ञान व्यर्थ हो जायगा। अतएव सबीज ब्रह्मको ही लक्ष्य करके सत्-ब्रह्मको प्राण-शब्दसे कहा गया है और समस्त श्रुतियोंमें सबीजको ही कारण बतलाया गया है। जब शुद्ध ब्रह्मका वर्णन करना होता है तो दूसरे प्रकारसे वर्णन किया जाता है। उस समय कहते हैं 'नेति-नेति'। 'इति' शब्द इदन्ताका बोधक है। जिसको 'सत्' कह सकें वह 'इदं' है और जिसको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'असत्' कह सकें वह भी 'इदं' है। जिसको 'सदसत्' कह सकें वह भी 'इदं' और जिसे 'सदसत् भिन्न' कह सकें वह भी 'इदं'। अर्थात् वस्तुका वर्णन चार प्रकारसे होता है—है, नहीं है, है भी और नहीं भी है तथा है—नहीं दोनोंसे भिन्न है। लेकिन यह परमात्मा इन चारोंमें नहीं आता। अतः उसका वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा इन चारोंसे विलक्षण है।

जो भी परमात्माको ढूढ़ने लगेगा, किसके द्वारा ढूंढ़ेगा ? मनके द्वारा। अतः उसे जो भी मिलेगा, मनोवृत्तिके रूपमें ही मिलेगा। अतः श्रुति कहती है कि 'इदं'के रूपमें परमात्माका दर्शन मत करो। 'यह परमात्मा है' यह अनुभवकी स्थिति नहीं है। मनोराज्यको मत देखो। जो मनोराज्य करता है, उसकी ओर देखो। **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**—यह वाणी परमात्माका निर्वचन करने चली; किन्तु असमर्थ होकर लौट आयी। वाणी समर्थ नहीं हुई और मन भी समर्थ नहीं हुआ। मनोराज्य भी शान्त हो गया। वाणी और मनके शान्त हो जानेपर जो द्रष्टा बचा, वही मैं हूँ, वही परमात्मा है। विज्ञातामें परमात्माका अनुसन्धान करो।

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि—जो कुछ तुम्हें ज्ञात है और जो अज्ञात है, दोनोंसे विलक्षण वस्तुको ढूंढ़ो। 'मैं इस वस्तुको जानता हूँ' और 'मैं इसे नहीं जानता' यह जानना किसमें है ? कार्यावस्था विदित है और कारणावस्था अविदित है। दृश्य विदित है और अदृश्य अविदित। इन विदित-अविदितसे परे कौन होगा, यह विचार करो।

संसारमें देश, काल, वस्तुके द्वारा जितनी भी वस्तुओंका निरूपण हो सकता है, वे विदित हैं या अविदित हैं। हम उन्हें जानते हैं या नहीं जानते। हमसे भिन्न कोई भी पदार्थ होगा तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह ज्ञात या अज्ञात होगा। लेकिन ज्ञात-अज्ञात दोनोंका प्रकाशक जो स्वयंप्रकाश है, वह अज्ञानताकी कल्पनासे रहित है। अतः अपना आपा ही विदित-अविदित दोनोंसे परे है। वही विदित-अविदितसे विलक्षण है। इसलिए परमात्माको 'अप्रमेय' कहा जाता है। विदित भी प्रमेय है और अविदित भी प्रमेय। घट भी प्रमेय और घटाभाव भी प्रमेय। 'हमारे नेत्र हैं और नेत्र नहीं हैं'—यहाँ नेत्रका होना, न होना साक्षिभास्य है। इसी प्रकार हम मन-बुद्धिका कार्यशील होना है और उनका सो जाना भी जानते हैं। अतः सुषुप्ति भी भास्य है। इसी प्रकार हम 'अज्ञानी हैं' इसमें 'अज्ञान'को हम देखते हैं, अतः अज्ञान भास्य हुआ और हम उससे पृथक् हो गये। अतः अप्रमेय अभास्य केवल 'अहम्' पदका जो शुद्ध अर्थ है, वही परमात्मा है।

न सत्तन्नासदुच्यते—उस अप्रमेय परमात्माको सत् या असत् नहीं कहा जा सकता, यह गीताने कहा है। जहाँ शुद्ध ब्रह्मका वर्णन होगा, वहाँ निषेधद्वारा ही वर्णन होगा। **अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अदृश्यम्, अग्राह्यम्** आदि निषेधरूपमें ही उसका वर्णन किया जा सकेगा।

अतएव सुषुप्तिकालमें जो रहता है, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। वह सबीज ब्रह्म है। यह प्राज्ञ बीजावस्था है, अतएव वह ईश्वरमें, सगुणमें लीन रहता है। अतएव जब ब्रह्मका वर्णन करना होता है तो श्रुतियाँ बीजावस्थाका निरासकर 'वह सबसे परे अक्षरसे भी परे है', 'वहो अज बाहर कार्यरूप और भीतर कारण रूप भी है', 'जहाँसे वाणी लौट आती है', 'इदं नहीं, इदं नहीं'—इस प्रकार उसका वर्णन करती है।

प्राज्ञ शब्दसे जिसे यहाँ कहा है उससे और देह, इन्द्रिय आदि तथा जाग्रत्, स्वप्नादिसे रहित तुरीय स्वरूपकी पारमार्थिक निर्बीज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवस्थाका पृथक् वर्णन आगे करेंगे। अतः यहाँ निर्बीजावस्था मानना आवश्यक एवं उपयुक्त नहीं है। जब मनुष्य सोकर उठता है तो 'मुझे कुछ भी पता नहीं था' यह अनुभव करता है। 'मुझे कुछ पता नहीं था' इस बातका स्मरण ही सिद्ध करता है कि बीजावस्थाका शरीरमें ही अनुभव है। अतः इसी देहमें तीन प्रकारसे विश्व, तैजस, प्राज्ञके रूपमें एक ही तत्त्व स्थित है, यह बात कही गयी है। ●

३-४.

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ३-४ ॥

विश्व सदा स्थूलभोगोंका भोक्ता है और तैजस सूक्ष्म भोगोंका। प्राज्ञ केवल आनन्दका भोक्ता है। यह तीन प्रकारका भोग तीनोंका समझो ॥ ३ ॥

स्थूलप्रपंच विश्वको तृप्त करता है, सूक्ष्म तैजसको तथा आनन्द प्राज्ञको तृप्त करता है। इस प्रकार तीनोंकी तीन प्रकारकी तृप्ति समझो ॥ ४ ॥

इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहले कहा जा चुका है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५.

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम् । यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानाद् द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः, यो वेदैतदुभयं भोज्य-भोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते; भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात् । नहि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा, न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥ ५ ॥

जाग्रत् आदि तीनों स्थानोंमें स्थूल, सूक्ष्म, आनन्द नामसे तीन भेदोंमें विभक्त जो भोज्य है, वह एक ही है । विश्व, तैजस, प्राज्ञ नामके जो भोक्ता हैं, वे तीन होकर एक ही हैं और वह मैं ही हूँ, यह एकत्वका प्रतिसन्धान होनेसे और द्रष्टापनमें कोई विशेषता न होनेसे भोक्ता एक ही कहा गया है । इस प्रकार भोज्य और भोक्तारूपसे अनेक प्रकारसे भिन्न हुए इन दोनोंको जो जानता है, वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता; क्योंकि समस्त भोज्य एक ही भोक्ताका भोग है । जिसका जो भोग-विषय होता है, वह उस विषयके भोगके कारण घटता या बढ़ता नहीं । जैसे अग्नि अपने विषय काष्ठादिको जलाकर भी अपने स्वरूपमें समान बना रहता है ।

भोग्य क्या है ? यह मीठा, यह खट्टा अथवा यह कोमल, यह कठोर आदि ऐन्द्रियक-प्रतीतिमात्र । शरीरमें भी मिट्टी है और गेहूँ, नमक, चीनी आदिमें भी मिट्टी है । मिट्टी, पानी आदि पंचभूत तो जैसे शरीरमें हैं, वैसे ही पदार्थोंमें भी हैं । हमें ज्ञान होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है कि यह खट्टा, यह मीठा, यह कोमल, यह कठोर। अतः ज्ञान-मात्र भोग है। शब्दका ज्ञान शब्दका भोग है, और रसका ज्ञान रसका भोग। इसी प्रकार भोक्तृत्व है, उपलब्धि होना : भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम्।

अब देखो कि अग्नि काष्ठको जलाता है, तो क्या काष्ठमें लिप्त होता है? स्पष्ट है कि अग्नि काष्ठवान् नहीं होता। वह काष्ठको भस्मकर अपने स्वरूपमें बना रहता है। ईंधनको भस्म करके अग्नि न बढ़ता है, न घटता है। अग्नि तो ज्यों-का-त्यों रहता है। काष्ठ पड़नेपर प्रतीत होता है कि अग्नि बढ़ गया, काष्ठ न पड़नेपर लगता है कि बुझ गया; किन्तु अग्निका यह बढ़ना-बुझना तात्कालिक है। यह अग्निका वास्तविक रूप नहीं है। हम जिसे नेत्रसे देखते या जिससे वस्तु जल जाती है, वह अग्निका स्वरूप नहीं है। वह तो अग्निकी ज्वाला है। वह एक प्रकारकी गैस है जो निकलती तथा वायुमें लीन होती जाती है। दीपककी लौ या अग्निकी लपट स्थायी नहीं। वह लगती स्थायी है; किन्तु बराबर उठती और वायुमें लीन होती जा रही है। एक क्षण पहलेकी लौ अगले क्षण नहीं रहती। लेकिन अग्नितत्त्व तो इस प्रकार क्षणमें उत्पन्न होने तथा मिटनेवाला नहीं है।

सच्ची बात तो यह है कि हमारी इन्द्रियाँ द्रव्य नहीं देखतीं, केवल गुण देखती हैं। किसी भी द्रव्यका आप रूप, रस, स्पर्श, शब्द या गन्ध ही जानते हैं, द्रव्यको नहीं। इन गुणोंको इन्द्रियोंसे अनुभव करके इनके आश्रय द्रव्यका हम निश्चय करते हैं। गुणका प्रत्यक्ष होता है और उसके द्वारा द्रव्यका अनुमान होता है।

अब यह अनुमान भी हो सकता है कि द्रव्य एक ही हो और पाँच इन्द्रियोंके कारण उसे पाँच रूपोंमें उपलब्ध करते हों।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन्द्रियोंसे हम जो पाँच गुण ग्रहण कर रहे हैं, वे एक ही इन्द्रियोंमें भी तो हो सकते हैं। पाँच द्रव्य हैं, उनकी पाँच तन्मात्राएँ हैं, उनके परमाणु हैं, यह सब अनुमान हो तो किया गया है। आजका भौतिक विज्ञान जलको मूल तत्त्व नहीं मानता। वह कहता है कि दो प्रकारकी गैसें मिलानेसे जल बन जाता है। इसी प्रकार वह शब्द, गति, उष्णता और प्रकाशको भी पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं मानता। वह कहता है कि एक शक्ति या विद्युत्के ही ये विभिन्न रूप हैं।

विज्ञान यन्त्र-प्रत्यक्ष मानता है; किन्तु यन्त्र तभी ठीक ज्ञान देंगे, जब हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष हों। यदि नेत्रमें दोष होगा तो दूरबीनसे भी भ्रान्त ज्ञान होगा। अतः हमारे यहाँ यन्त्रकी अपेक्षा इन्द्रियोंको अधिक प्रामाणिक माना गया है। ज्ञानेद्रियाँ हमें पाँच प्रकारका ज्ञान देती हैं, अतः हमने पाँच तत्त्व माने हैं। इन तत्त्वोंमें इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। हम स्वादकी आश्रय-सत्ताको जल कहते हैं, दो गैसें मिलकर जो जल बनती है, उसे हम जल नहीं कहते। अर्थात् ऐन्द्रियक प्रमाणसे गुणकी सिद्धि और गुणकी आश्रय-सत्ताके रूपमें द्रव्यकी सिद्धि होती है।

गुणोंकी सिद्धि इन्द्रियोंके द्वारा होती है और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण ज्ञान मनके द्वारा होता है। मनका संयोग इन्द्रियसे न हो तो कोई इन्द्रिय किसी वस्तुका अनुभव नहीं कर सकती। मन ही इन्द्रियोंकी वृत्तिके रूपमें परिणत होकर विषयोंको ग्रहण करता है। इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुकी उपलब्धि करनेवाला साधारण करण मन है। विषयको ग्रहण करनेली चेतनाका नाम ही मन मन है। सविषयक ज्ञानको ही अन्तःकरण कहते हैं। विषय-ग्रहणसे निरपेक्ष चेतन आत्मा है।

चेतनका स्वभाव है उपलब्धि। कुछ-न-कुछ उपलब्धि वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करेगा ही। क्योंकि चेतन स्वयंप्रकाश स्वरूप है, अतः प्रकाशित करना उसका स्वभाव है। जाग्रत्‌की, स्वप्नकी उपलब्धि प्रतीति करना उसके स्वभावके अन्तर्गत है। भाव और अभाव दोनोंकी प्रतीति, देश-कालकी प्रतीति तथा देश-कालके अभावकी भी प्रतीति—ये सब प्रतीतिमात्र हैं। चेतनका स्वभाव प्रतीति है।

अग्निको न मल जलानेसे पाप या अपवित्रता होती है और न हवनीय जलानेसे पवित्रता या पुण्य होता है; क्योंकि जलाना अग्निका स्वभाव है। उसके लिए वह कार्य, उस विषयका ग्रहण पाप या पुण्य नहीं होता। चेतनका स्वभाव प्रतीति है, अतः प्रतीतिसे उसे पाप-पुण्य नहीं होता।

पाप-पुण्य वहाँ होता है जहाँ कार्य करने न करनेमें स्वतंत्रता होती है। सूर्यका स्वभाव प्रकाश देना है। वह प्रकाशस्वरूप है। भले ही उस प्रकाशमें कोई उत्तम कर्म करे या अधम कर्म, प्रकाश देनेसे सूर्यको पाप-पुण्य नहीं लगता। भोज्यमें शुद्धि-अशुद्धि है, भोक्तामें पाप-पुण्यका लेप है; किन्तु भोज्य और भोक्ता दोनोंका प्रकाशक, दोनोंकी उपलब्धि करनेवाला चेतन शुद्धि-अशुद्धिसे निर्लिप्त है।

जो भोक्ता और भोज्य दोनोंको जानता है, जिसका स्वरूप जानना है, वह सुषुप्तिमें प्राज्ञ होनेपर लिप्त नहीं होता, स्वप्नमें तैजस होनेपर लिप्त नहीं होता और जाग्रत्‌में वैश्वानर होनेपर भी लिप्त नहीं होता।

पाप-पुण्य, शुद्ध-अशुद्ध, हेय-उपादेय आदि भेदज्ञानका विषय है। यह भेदज्ञान बुद्धिमें होता है और इसी भेदज्ञानके अनुसार जीवनका निर्माण होता है। व्यवहार भेदज्ञानके अनुसार होता है। साधन और साध्यका ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान है और धर्म-अधर्म,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हेय-उपादेयका नियामक ज्ञान भी व्यावहारिक है। हम कैसे लोहा प्राप्त करें और कैसे चाकू बनायें, यह सामान्य ज्ञान तथा उस चाकूका क्या उपयोग उचित तथा अनुचित है--यह नियामक ज्ञान, दोनों भेदज्ञान हैं और इन्हींसे व्यावहारका संचालन होता है। ये दोनों ज्ञान जीवनमें आवश्यक हैं। कर्ताके अधीन यह भेदज्ञान होता है! भिन्न-भिन्न देश, काल, सम्प्रदायका भेदज्ञान भी भिन्न-भिन्न होता है। क्या करणीय या ग्राह्य है और क्या अकरणीय या अग्राह्य है, इस विषयके देश, काल सम्प्रदायके ज्ञान भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भेदज्ञानके अनुसार आचारका नियमन होता है। लेकिन जो वस्तुसत्य है वह कर्ताके अधीन नहीं है। तथ्यका ज्ञान नित्य है, सर्वत्र समान है, अद्वितीय है इस तथ्यज्ञानसे जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूपमें प्रकाशित करनेसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

कर्तापनेका भाव ही कर्ममें लिप्त करता है। हम वस्तुको विशेष देखने लगे तो हमने संकल्पसे उसके रूपमें परिवर्तन किया। इस परिवर्तनमें हमें सुख होगा या दुःख? इस प्रकार कर्ता भोक्ता बन जायगा। लेकिन जिसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व बाधित हो गया है, वह प्रकाशक कहीं लिप्त नहीं होता।

लिप्त होना क्या है? जब 'इदं' और 'अहं'का सम्बन्ध होता है, तभी लिप्त होना होता है। 'अहं ज्ञाता' यह लिप्त होना हो गया। जब किसी विषयको लेकर हम अपनेमें 'अहम्'का आरोप करेंगे, तभी लिप्त हो जायँगे। यह वस्तु मेरी, यह क्रिया मेरी, यह देह मेरी, यह अन्तःकरण मेरा, यह कर्ता मैं, यह भोक्ता मैं, यह ज्ञाता मैं—यही सब लिप्त होना है।

ध्यान रखें कि ज्ञाता और द्रष्टा एक नहीं है। ज्ञाता बुद्धि द्वारा होता है तो द्रष्टा दृष्टिमात्रसे। बुद्धि भिन्न-भिन्न देहोंमें पृथक्-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पृथक् है। उस बुद्धिका अभिमानी ज्ञाता है। ज्ञाता प्रतिशरीरमें भिन्न चिदाभास है, लेकिन द्रष्टा तो सम्पूर्ण दृश्यका एक ही है। वह अपनी दृष्टिमात्रसे पूरे विश्वको प्रकाशित कर रहा है। इसलिए जो बुद्धि द्वारा ब्रह्मबोध करना चाहते हैं, उनका बोध भी भ्रम-रूप रहता है। बुद्धिमें विक्षेप, भोक्तृत्वादि आनेपर अपनेमें उन्हें विक्षेप एवं भोक्तृत्व लगता है और बुद्धिकी ब्रह्माकारवृत्तिको ही वे बोध मान लेते हैं। एक बुद्धिके अभिमानको लेकर ही यह सब होता है।

बुद्धि द्वारा देह और विषयको अनात्मा कह देनेपर भी बुद्धि ब्रह्माकार बनी रहे, यह आग्रह एकदेहस्थ बुद्धिमें अहंभाव होनेसे ही होता है। लेकिन बुद्धि निरन्तर ब्रह्माकार रह नहीं सकती। निद्रा और स्वप्नमें ब्रह्माकारता कैसे रहेगी? जाग्रत्में भी घट-पटादिकी वृत्तिका रूप बुद्धि लेगी ही। बुद्धिका आकार बदलता ही रहेगा। एक बुद्धिके 'अहं'को पकड़कर ही नाना विभ्रम होते हैं।

केवल ज्ञानमात्र ही वस्तुमें ज्ञातृत्व नहीं। ज्ञातृत्व तो देहमें है बुद्धिकी उपाधिसे। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे 'कर्तृत्व' है। कर्मेन्द्रियसे कर्म किया तो 'कर्ता' और ज्ञानेन्द्रियसे जाना तो 'ज्ञाता' बन गये। मनकी सुखाकार या दुःखाकार वृत्तिमें अहंभाव करनेसे 'भोक्ता' हुए। जड़ कर्मेन्द्रियोंको अपना मानकर हम कर्ता बने, ज्ञानेन्द्रियों-के प्रकाशको अपना मानकर ज्ञाता बने और फलांशमें अभिमान करके भोक्ता बने। इस प्रकार जब सत्को परिच्छिन्न माननेपर कर्ता, चित्को परिच्छिन्न माननेपर ज्ञाता और आनन्दको परि-च्छिन्न माननेपर भोक्ता बन जायँगे।

हमारा सच्चिदानन्द स्वरूप परिच्छिन्न नहीं है। अतः चाहे किसी भी शरीरमें कोई भी कर्म होता हो, हमारा उससे कोई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्ध नहीं। किसी देहके कर्म, बुद्धि तथा भोगसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल प्रतीतिमात्र है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा प्रतीतिसे समस्त सृष्टिका भोग करते हुए भी कहीं युक्त नहीं होता।

एक ही चेतनमें ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ कैसे बन जाते हैं और अवस्थाएँ कहाँसे आती हैं, यही बात उपनिषद्के अनुसार कारिकामें बतायी गयी है।

बात यह है कि वेदान्तका सिद्धान्त श्रोता झटपट समझ जाय, इसकी आशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उसका अबतक-का अभ्यास भोगों या विषयोंको समझनेका ही है। विषय, कर्म तथा मनोवृत्तिको ही उसने समझा है। बिना प्रयोजन, बिना भोग उसने अबतक कुछ नहीं समझा। अबतक उसका सब प्रयत्न स्वार्थ-प्रेरित रहा है। केवल सत्यके ज्ञानके लिए उसने प्रयत्न नहीं किया। अतः ऐसे श्रोताको अनेक प्रकारसे एक ही बात समझानी पड़ती है।

जिसने पर्याप्त समयतक धर्मानुष्ठान किया, उपासना की, स्वाध्याय किया, सत्संग किया, उसके समान सामान्य श्रोता भी झटपट वेदान्तकी बात समझ ले—यह आशा नहीं की जा सकती। उसे समझनेमें देर लगती ही है।

दूसरी बात यह कि सामान्य जन अधिक समय अपने व्यव-हारके कार्य एवं चिन्तनमें देते हैं और वेदान्तके चिन्तन-श्रवणको थोड़ा समय दे पाते हैं। समस्त व्यवहार भेदमूलक है, अतः बुद्धिमें भेदज्ञान बैठा है। अद्वैत-ज्ञान बुद्धिमें कठिनाईसे स्थिर हो पाता है।

लेकिन सत्य वस्तुको प्रकाशित करना और उसका श्रवण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करना अत्यन्त आवश्यक है। इससे कुछ संस्कार तो चित्तपर पड़ेगा ही। सत्यका संस्कार पड़ेगा तो उसकी प्राप्तिकी इच्छा होगी। सच्ची जिज्ञासा न होनेपर भी इच्छा होगी। जो संसारमें दुःखानुभव कर रहा है, उसके मनमें मुमुक्षा जाग्रत् होकर रहेगी। वह पाप-तापके बन्धनसे मुक्त होनेके लिए समझनेका प्रयत्न करेगा। जो ज्ञानी जीवन्मुक्त हैं, उन्हें सुननेमें आनन्द आता है। उनको समझना तो है नहीं, पर सुनना अच्छा लगता है। जिज्ञासु-का श्रवणसे ग्रन्थिभेद हो जाता है, अर्थात् समझनेमें जहाँ कुछ बातें नहीं आयी थीं, जहाँ कुछ उलझन बुद्धिमें थी, वह दूर हो जाती है। जिनके चित्तमें जिज्ञासा नहीं है, उनमें जिज्ञासाका उदय होता है। सामान्य श्रोता देरसे समझेंगे, इसलिए तत्त्वका प्रकाश करना बन्द नहीं करना चाहिए। उसे बार-बार प्रकाशित करना चाहिए।

प्रायः साधक स्थिति-विशेष चाहते हैं। सोचना चाहिए कि अभीष्ट स्थितिका कोई आकार है या नहीं। यदि आकार नहीं है, तो उसकी कल्पना क्यों करते हो ? यदि उसका विशेष आकार है, तब निर्विशेष सत्य तुमने नहीं जाना। यदि स्थिति निर्विशेष अभीष्ट है तो वह इस समय नहीं है, ऐसा क्यों मानते हो ?

कोई स्थिति प्राप्त होगी तो कहाँ प्राप्त होगी ? ब्रह्ममें तो प्राप्त होगी नहीं, होगी अन्तःकरणमें ही। यदि तुमने अन्तःकरणकी अनात्मकता, मिथ्यात्व, विकारित्वका निश्चय कर लिया है तो अन्तःकरणके स्थिति विशेषका आग्रह क्यों ? यदि स्थिति तुम्हारे किसी प्रयत्नसे होगी, ऐसा सोचते हो तो तुम कर्ता या अकर्ता बन गये ? यदि तुम समझते हो कि कोई आनन्द जो अब नहीं है, मिलना चाहिए तो तुम भोक्ता बने या नहीं ? अतः विचार तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वको दूर करनेके लिए है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह तुरीय वस्तु आत्मा ही प्राज्ञ होकर सुषुप्तिका, तैजस होकर स्वप्नका और विश्व होकर जाग्रत्‌का भोग करता है। ये भोग करता हुआ भी वह लिप्त नहीं होता। वास्तवमें आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा विश्व, तैजस, प्राज्ञसे विलक्षण है। वह चौथा तत्त्व नहीं, इन तीनोंमें रहते हुए भी इनकी क्रिया तथा भोगसे लिप्त नहीं है। अब इन विश्व, तैजसादिके भेदकी उत्पत्ति आगे बताते हैं।

६.

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः। वक्ष्यति च—'वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते' इति। यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद् ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः। दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम्। न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्: इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति 'ब्रह्मैवेदम्' (मु० उ० २.२.११) 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० उ० १.४.१) इति।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादि-देहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंऽशवो ये तान् पुरुषः पृथग्विषयभाव-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत् सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणाँस्त्वितरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति—'यथोर्णनाभिः' (मु० उ० १.१.७) 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' (बृ० उ० २.१.२०) इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

सत्से ही समस्त भावोंकी उत्पत्ति होती है, यह निश्चित बात है। प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है और पुरुष चिदाभासोंको पृथक्-पृथक् व्यक्त करता है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

इस मूल श्रुतिकी व्याख्या इस कारिकामें है।

जाग्रत् और स्वप्नमें जितने अविद्याकृत नाम-रूपवाले पदार्थ प्रतीत होते हैं उनका प्रभव या उत्पत्तिस्थान सुषुप्तिमें रहनेवाला बीजात्मा प्राण, प्राज्ञ है। उसीसे सम्पूर्ण स्वप्न तथा समस्त जाग्रत्-अवस्था प्रकट होती है। इसीलिए 'एष योनिः' श्रुति इसे सबकी योनि यानी कारण बतलाती है। बीजात्मा प्राणसे ही यह समस्त सृष्टि व्यक्त होती है।

सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुरूपसे विद्यमान भेद प्रपंच है नहीं; किन्तु अविद्याकृत नाम-रूपात्मक मायिक रूपसे विद्यमान विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि भेदवाले अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ एवं जाग्रत्-स्वप्नके समस्त दृश्य इसीसे उत्पन्न होते हैं।

जैसे अण्डेके जल या वीर्यमें सम्पूर्ण अंग बीजरूपसे निहित रहते हैं, इसी प्रकार सुषुप्तिमें सब जाग्रत्-स्वप्न बीजरूपसे रहते हैं। कल दिनकी समस्त स्मृतियाँ सोकर उठने पर स्मरण आती हैं। वे सुषुप्तिमें बीजरूपसे न होतीं तो उनका स्मरण कैसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता ? जैसे हम इस देहमें प्रतिदिन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अनुभव करते हैं, वैसे ही समस्त सृष्टिकी जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्तावस्थापर विचार करो। समष्टिके जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति महाप्रलयमें रहनेवाले बीजात्मासे ही व्यक्त होते हैं।

अपने हृदयमें यह जो 'अहम्-अहम्'की वृत्ति है, उसे देखो। मैं सूँघता हूं, मैं सोचता हूं आदि यह 'अहम्'की स्फुरणा कहाँ हो रही है ? यह किस उपादानमें हो रही है ? यह 'मैं' रूप धारणा न हो तो क्या किसी भी वस्तुका ज्ञान होगा ? अत: सबके आधार इस 'अहम्'की स्फुरणाका मूल देखो।

अभी तुम बाहर इन्द्रियोंसे देख रहे हो। 'अहम्'को देखनेके लिए भीतर लौटना होगा। इस पीछे-भीतर लौटनेका वर्णन सन्तोंने किया है :

चरनदास गुरु किरपा कीनी उलटि गई मोरी नैन पुतरिया।

गुरुदेवकी कृपासे हमारी नेत्र-पुतली उलट गयी अर्थात् हम बाहर देखनेके स्थान पर भीतर देखने लगे।

सुरत बिरहुलिया छाड़ निज देश।

मध्य-युगके सन्तोंने 'सुरत' का बहुत वर्णन किया है। सुरत अर्थात् हमारा ध्यान। हमारा ध्यान गुरु-कृपासे अपने देशमें पहुँच गया। अपना देश क्या ?

जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत पूरन धनी दिनेश।

जहाँ कोई शब्द नहीं, कोई रूप नहीं, उस सर्वविभासक, स्वयंप्रकाश प्रत्यक्-चैतन्य परमात्मामें हमारा ध्यान पहुँच गया। वही निज देश है।

ततोऽहम: शोधय जन्मदेशम्।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः अपनी बुद्धि द्वारा इस 'अहम्' वृत्तिके जन्म-देशकी शोध करो। इसे अपने हृदयमें ढूँढना पड़ेगा। वृत्तिके बीजको ढूँढनेपर जाग्रत्, स्वप्नमें तो यह स्पष्ट ज्ञात होती है; किन्तु सुषुप्तिमें नहीं। उठनेपर 'मैं सुखसे सोया' यह अनुसंधान होता है; किन्तु सुषुप्तिकी दशामें अविद्यासे आक्रान्त रहनेके कारण 'अहम् वृत्तिका' अनुभव नहीं रहता। उस अविद्या-वृत्तिको देखनेवाला कौन है ?

सुषुप्तिमें अविद्याकृत समस्त नाम-रूप लीन हो जाते हैं, तब प्रज्ञाका घनीभाव 'प्राज्ञ' रहता है। वहींसे 'तैजस' व्यक्त होकर स्वप्न देखता है। वहींसे हम जाग्रत्में आकर 'वैश्वानर' बनते हैं। अतः ये विश्व, तैजस, प्राज्ञके भेद और जाग्रत्, स्वप्नके अनुभव सब सुषुप्तिमें बीजात्मा प्राणमें लीन रहते हैं। अतः उत्पत्ति किसीकी होती ही नहीं।

उत्पत्तिकी चार ही प्रक्रिया हैं। पाँचवीं प्रक्रिया सम्भव नहीं। वे हैं : १. सत्से सत्की उत्पत्ति, २. सत्से असत्की उत्पत्ति, ३. असत्से सत्की उत्पत्ति और ४. असत्से असत्की उत्पत्ति। अब इनपर विचार करें :

१. सत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यदि पहलेसे वह वस्तु विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति क्या होगी ? २. सत्से असत्की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि यदि उत्पन्न वस्तु असत् है, सत्ताहीन है तो उसकी उत्पत्ति कहाँ हुई ? ३. असत्से सत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि बिना किसी सत्ताके कोई सत्तावान् वस्तु कैसे उत्पन्न होगी ? ४. असत्से असत्की उत्पत्ति; इसका तो कुछ अर्थ ही नहीं। कोई सत्ता नहीं थी, उससे कोई सत्ता उत्पन्न नहीं हुई। यहाँ उत्पत्तिका प्रश्न ही कहाँ रहा ?

वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वन्ध्यापुत्रकी उत्पत्ति वस्तुतः तो होती ही नहीं, मायासे वाजीगरोंसे भी नहीं हो सकती। 'वन्ध्यापुत्र' शब्दपर विचार करें। वन्ध्या स्त्री होती हैं संसारमें और पुत्र भी लोगोंके होते हैं। 'का' विभक्ति भी स्वतन्त्र रूपमें ठीक है; किन्तु यहाँ विभक्ति द्वारा 'वन्ध्याका पुत्र' यह जो सम्बन्ध सूचित है, वह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि वन्ध्या वही होती है जिसे पुत्र होता नहीं। इसी प्रकार उत्पत्ति किसीकी सम्भव नहीं है।

जब किसी वस्तुकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, तब दीख रही उत्पत्ति क्या है वह? वह केवल प्रतीति है। जब उत्पत्ति नहीं तो विनाश भी नहीं। इस तरह विनाश भी प्रतीति है। अखण्ड एक-रस परिपूर्ण सत्तामें दृश्यमान प्रपंचकी न तो कोई बीजावस्था है, न अंकुरावस्था। वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य है।

हमने अपनी स्थितिके सम्बन्धमें कभी विचार नहीं किया। अतएव अविद्यासे हमें वस्तुका उत्पत्ति-विनाश प्रतीत हो रहा है। बिना उत्पत्ति-विनाशके ही हम उसकी कल्पना करके सुखी-दुःखी हो रहे हैं। यदि असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति हुआ करती तो अव्यव-हार्य ब्रह्मको ग्रहण करनेका कोई मार्ग न रहनेसे 'वह है ही नहीं' ऐसी आशंकाका प्रसंग आ जाता।

यह परब्रह्म परमात्मा अव्यवहार्य है। उसमें नाम-रूप क्रिया नहीं है। उसका बोध अविद्यानिवर्तक है। अविद्याका तो अपरोक्ष हो रहा है—'मैं भ्रान्त हूँ, परिच्छिन्न हूँ, जीव हूँ, यह प्रतीति स्पष्ट हो रही है। यदि यह प्रतीति न होती तो 'मैं' ब्रह्म हूँ, इस प्रतीतिकी भी आवश्यकता न रह जाती। लेकिन यह जो अज्ञता, परिच्छिन्नता आदि है ही नहीं, उसीकी भ्रान्ति दुःखका कारण बनी है। अतएव अव्यवहार्य ब्रह्मके ज्ञानके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस कल्पित वृत्तिकी आवश्यकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'मैं जीव हूँ' यह कल्पित वृत्ति है। विना देखे, विना सोचे मान ली गयी है। इस भ्रमको मिटानेके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस कल्पित वृत्तिकी आवश्यकता है। इस वृत्ति द्वारा ब्रह्मज्ञान न हो तो ब्रह्मको जाननेका कोई साधन नहीं रहेगा। ऐसी अवस्थामें ब्रह्म-अखंड परिपूर्ण सत्ता कोई वस्तु है, यह भी सिद्ध नहीं होगा। अत: नाम-रूपात्मक भासमान प्रपंचका वीज समष्टिकी सुषुप्तावस्थामें विद्यमान रहता है; क्योंकि यह वात देखनेमें आती है।

यद्यपि रस्सीमें जो सर्प दीखता है अथवा सीपमें जो चाँदी प्रतीत होती है, वह अविद्याकृत मायारूप वीजसे ही उत्पन्न होती है। उत्पन्न होनेके पूर्व रज्जु आदि रूपसे वे रहते हैं। क्योंकि यदि अधिष्ठानरूप रज्जु और मरुभूमि न हों तो सर्प और मृगतृष्णा कहाँ देखनेमें आवें ? अत: यह वात स्वीकार करना पड़ता है कि प्रतीतिके रूपमें उत्पन्न होनेके पूर्व सर्प रज्जुके रूपमें ही था अर्थात् उसकी प्रतीतिका वीज रज्जुमें था। यह वीज रज्जुका अज्ञान है। अविद्याकृत माया ही वीज है। इस प्रकार समस्त उत्पन्न होनेवाले भावोंके वीज प्राणमें थे।

अत: श्रुति कहती है कि इस समय जो 'इदं'के रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह सवका सव पहले ब्रह्म था। उत्पत्तिके पूर्व यह सव आत्मा ही था।

जैसे सूर्यसे किरणें निकलती हैं, वैसे ही चिदात्मक पुरुषमें चित्तरूप किरणें हैं, चिदाभास है। यही चिदाभास वीजात्मक प्राण है। जैसे जलमें सूर्यका प्रतिविम्व पड़ा हो, वैसे ही चिदाभास रूप बीजात्मा प्राणसे प्राज्ञ, तैजस, विश्व आदिके रूपमें देवता, पशु, पक्षी, मनुष्यादिके देहोंमें भिन्न-भिन्न रूप प्रपंच व्यक्त होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चिदात्माका जो स्वरूप है वह जीवोंका, चिदाभासोंका बीज बन जाता है और उसमें जो उपाधि है कि वह सब शरीरोंका मानों बीज है, उस बीजात्मक अवस्थाको लक्ष्यमें रखकर ही यहाँ प्राज्ञका निरूपण किया गया है।

ये जितने पृथक्-पृथक् जीव प्रतीत होते हैं, सब चिदाभास और जितने विषय प्रतीत होते हैं—देहादि एवं पदार्थके रूपमें नाम-रूपात्मक जगत्—सबके सब सुषुप्तिमें या प्रलयमें बीजात्मा प्राणमें ही रहते हैं।

जैसे मकड़ी अपने जालेको कभी अपने मुखसे निकाल लेती है और कभी अपने मुखमें लीन कर लेती है, इसी प्रकार बीजात्मा प्राणसे सृष्टिकी उत्पत्ति-प्रलय देखा जाता है।

जैसे अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही एक ही चिदात्मासे नाना प्रकारके चिदाभास व्यक्त होते हैं। उस एक ही बीजसे यह समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि निकली है। इस प्रकार यह प्राज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका बीज है।

तात्पर्य यह कि परमात्माको ढूंढ़ना है तो यह वृत्ति बनाओ कि हम यह जो कुछ सामने संसारके रूपमें देख रहे हैं, यह परमात्मा है। यह नाम, उस नामवालेका रूप और उस रूपसे होनेवाली क्रिया, सब ईश्वर है। दीखता कुछ है और भावना कुछ—यह हम बराबर करते हैं। पूजा आदिमें गोबरसे गौरी बनाते हैं और सुपारीसे गणेश। दीखता है गोबर-पिण्ड तथा सुपारी और उसमें भावना करते हैं गौरी तथा गणेशकी। निमित्त कुछ दूसरा है, उस निमित्तको लेकर हम चित्त-वृत्ति बदलते हैं। मन्दिरमें मूर्ति पत्थरकी दीखती है परन्तु उसमें भावना हम परमात्माकी करते हैं। यही उपासना है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें भक्तिके दो पुत्र कहे गये हैं : ज्ञान और वैराग्य। आप राम, कृष्ण, शिव आदि किसीकी भक्ति करेंगे तो आपका प्रेम उस इष्टसे हो जायगा, चित्तस्थ मूर्तिसे होगा और संसारमें बाह्य विषयोंसे वह घट जायगा। विषयोंसे वैराग्य हो जायगा। वैराग्य होकर चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होगी। तब किसी जिज्ञासाका उदय होगा कि देखनेमें तो यह मूर्त्ति है, बनी है और नष्ट होगी; किन्तु हमारे चित्तमें यह परमेश्वरके रूपमें विराजमान कैसे ? इस जिज्ञासासे चित्तवृत्ति तत्त्वकी ओर जायगी। तब हम अन्वेषण करेंगे कि जो नित्य है, सर्वव्यापक है, सबका कारण है, वह क्या है ? वह बाहर तो मिलेगा नहीं। विश्वका जितना भी 'यह' है वह सब 'मैं' के रूपमें ही है। 'मैं' नहीं हो तो 'यह' रहता ही नहीं। इस प्रकार 'मैं' का अन्वेषण तुम्हें ईश्वर तक पहुँचा देगा। ज्ञानका उदय हो जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति पृथक् सोता है, पृथक् जागता है। अतः यदि हम अनुमानके आधारपर ही 'मैं' का अन्वेषण करें और सुषुप्तिमें उसकी बीजावस्थाको देखें, तो सबका बीज पृथक्-पृथक् जान पड़ेगा और उसकी धारा अनादिकालसे है। यदि वह कभी इस जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी धारासे पृथक् भी होगा तो अपने स्वरूपमें पृथक् स्थित होगा। जिस परिपूर्णमें पृथक् रहनेवाले बीज स्थित होंगे, वह ईश्वर होगा और जो पृथक्-पृथक् स्थित होंगे वे जीव होंगे। जब हम आधार रूपसे अन्य वस्तुकी कल्पना करेंगे तब उस अल्प वस्तुमें जीवोंकी पृथक्-पृथक् अवस्थिति होगी। उपासना-सिद्धांतमें एक परिपूर्ण ईश्वर और पृथक्-पृथक् जीव माने जाते हैं। ये जीव जब जाकर ईश्वरमें स्थिर होंगे तब उनकी सायुज्य-मुक्ति होगी, उनकी स्थिति भेद सहिष्णु अभेदकी होगी।

जीवके मूल रूपसे अवस्थानका एक रूप तो यह उपासना-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्धांतमें माना हुआ है। दूसरा रूप है कि हम ढूँढ़ते हुए बीजावस्थामें पहुँचते हैं तो ज्ञानके प्रकाशमें वह बीजावस्था भी प्रकाशित हो जाती है। हम उस बीजावस्थाके भी साक्षी हैं। वह बीज सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुका भी बीज है और उसके हम प्रकाशक हैं। अतः परिच्छिन्न नहीं हैं। परिपूर्ण ब्रह्म हम हैं। इस प्रकार बीजके साक्षीका अनुसन्धान करनेसे तुरीय वस्तुकी उपलब्धि होगी। वह तुरीय वस्तु साक्षी अपना स्वरूप ही होगा।

यहाँ सृष्टिके सम्बन्धमें जो अनेक प्रकारके मतवाद हैं, उनकी थोड़ी चर्चा कर लें; क्योंकि आगे विस्तारसे इनकी चर्चा होनी है।

७.

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० उ० २. ५. १९) इति श्रुतेः। न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति। तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः। सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्। अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति। स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुछ लोग कहते हैं कि यह दृश्यमान सृष्टि ईश्वरकी विभूति है, अर्थात् ईश्वर ही इन सब रूपोंमें प्रकट हो गया है। जड़-चेतन समस्त जगत् ईश्वरका ऐश्वर्य है।

यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि माण्डूक्य-उपनिषद्में ईश्वर प्राज्ञसे एक करके वर्णित है। सुषुप्तिमें जो प्राज्ञ है, उसे ही 'एष सर्वेश्वरः' बताया गया है। स्वप्नावस्थामें वही अपने ऐश्वर्यका स्थापन करता है। अर्थात् स्वप्नमें जो पृथ्वी, आकाश आदि समस्त प्राणि-पदार्थ हैं, सब वह स्वयं बना है। इसी प्रकार जाग्रत्में भी उसीके ऐश्वर्यका विस्तार है। प्राज्ञसे अभिन्न सर्वेश्वर, अपना ही आत्मा स्वप्न जाग्रत्‌का विस्तार करता है।

स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंका विस्तार करनेवालेके सम्बन्धमें विचार करते समय जो सृष्टि-चिन्तक किस धातुसे ये नाम-रूप बने हैं, इसका विचार न कर मात्र नाम-रूपका विचार करते हैं, वे इसे 'ईश्वरकी विभूति' बतलाते हैं।

जो सृष्टिके चिन्तक केवल नाम-रूप-क्रियापर विचार करते हैं, वे परमार्थकी ओर नहीं देखते; किन्तु जो परमार्थको देखते हैं, उनके लिए सृष्टिका कोई मूल्य नहीं। श्रुति कहती है कि इन्द्र-परमात्मा ही अपनी मायासे अनेक रूपोंमें देखा जा रहा है।

परमार्थका चिन्तन करनेवालोंका सृष्टि-चिन्तनमें आदर नहीं; क्योंकि जब हम संसारके व्यवहारमें कोई वस्तु लेने चलते हैं तो उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार, लम्बाई आदिका विचार करते हैं। व्यवहारमें घड़े, सकोरेका भेद करना पड़ता है। लेकिन जब परमार्थका चिन्तन करना हो, मूलतत्त्वकी खोज करनी हो तो घड़े या सकोरेकी आकृतिपर न जाकर उनके मूलतत्त्व मिट्टीका विचार करना चाहिए। इस तरह व्यवहारमें तो नाम-रूप-क्रिया-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का विचार और परमार्थमें मूलतत्त्वका अनुसन्धान किया जाता है।

अर्थका परमस्वरूप एक सत्ता है। वह प्रकाशक है, द्रष्टा है। पृथक्-पृथक् शरीरोंमें उनका ज्ञाता है। अतः ज्ञाता है परम अर्थ और दृश्य है अर्थ; क्योंकि ज्ञाताके बिना ज्ञेय रह नहीं सकता, अतः ज्ञेयका परम स्वरूप ज्ञाता ही है।

पृथक्-पृथक् शरीरोंमें ज्ञाता पृथक्-पृथक् हैं। सब ज्ञाताओंका भी द्रष्टा एक है। अतः द्रष्टा हुआ परम अर्थ और ज्ञाता हो गये अर्थ। द्रष्टा भी दृश्यकी अपेक्षासे है। दृश्यकी अपेक्षासे द्रष्टा और द्रष्टाकी अपेक्षासे दृश्य। अतएव जो निरपेक्ष दृङ्मात्र, ज्ञानमात्र वस्तु है वह है परमार्थ और जो सापेक्ष है, वे हैं अर्थ।

इस परमार्थके चिन्तकोंका सृष्टि-चिन्तनमें आदर नहीं है। वे शुद्ध वस्तुका ही चिन्तन करते हैं। लेकिन जो राग-द्वेष-प्रेरित चिन्तन करना चाहते हैं, उनके चित्तमें 'हमारी देह, हमारा परिवार, हमारी जाति, हमारा धर्म, हमारा राष्ट्र' आदि आग्रह होता है। जब हम सीमित दृष्टिसे वस्तुका चिन्तन करेंगे तो चिन्तन उपयोग दृष्टिसे होगा। जिससे हमारा स्वार्थ सिद्ध होता होगा, उससे राग और जिससे उसमें बाधा पड़ती हो, उससे द्वेष हो जायगा।

जिससे राग होगा, उसके गुण ही गुण दीखेंगे, उसके दोष दीखनेमें राग प्रतिबन्धक होगा। जिससे द्वेष होगा उसके दोष ही दोष दीखेंगे, उसका गुण दीखनेमें द्वेष प्रतिबन्धक होगा। अतः जब तक अन्तःकरणमें राग-द्वेष है, वस्तुके सच्चे रूपका, सत्यका ज्ञान हमें नहीं होगा। इसीलिए अन्तःकरणकी शुद्धि आवश्यक है।

अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी तो हम सृष्टिका ही चिन्तन करते रह जायँगे, परमार्थका चिन्तन नहीं होगा। राग-द्वेषको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दूर करनेको अनेक युक्तियाँ हैं। एक कल्पित पदार्थमें राग करो तो संसारका राग छूट जायगा, यह उपासना हुई। किसीसे भी राग-द्वेष न करके चित्तवृत्तिका निरोध करो, यह योग है। भेद मानकर ही राग-द्वेष होता है, अतः विचार द्वारा इस भेद दृष्टिको ही दूर करो, यह ज्ञानका मार्ग है।

वस्तुके स्वरूपको समझनेका यत्न करनेपर राग-द्वेष स्वतः घट जाता है। कर्मसे सृष्टि माननेवालोंका आदर कर्ममें होता है। उनकी प्रवृत्ति सत्कर्ममें होती है, अपना जन्म सुधारनेके लिए। जो सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं, उनकी आदर-बुद्धि ईश्वर-के प्रति होती है। वे ईश्वरकी उपासना करते है। जब हम मानते हैं कि हमारे चित्तने ही यह सृष्टि बनायी है तो चित्तके निरोध अथवा सिद्धियोंको पानेकी लालसा होती है। यदि चित्तमें राग हुआ तो सिद्धि पानेमें प्रवृत्ति होगी और वैराग्य हुआ तो निरो-धमें। इस प्रकार सृष्टि कैसे हुई, यह मान्यता हमारे जीवनको प्रभावित करती है।

इस विषयमें उपनिषद् कहती है :

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

अर्थात् इन्द्र ही मायासे अनेक रूपोंमें उपलब्ध होता है। इन्द्रका अर्थ है ईश्वर और ऐश्वर्यशाली भी। "इदं' का जो द्रष्टा है, वही इन्द्र है—उपनिषदोंमें इन्द्र शब्दकी यही व्युत्पत्ति है।

यह इन्द्र या द्रष्टा अपनी मायासे अनेक रूपोंमें देखा जा रहा है। यही द्रष्टा है और यही दृश्य। इसकी माया है काल, ज्ञाने-न्द्रियाँ, मन। इन्हींके कारण एक ही चिद् वस्तु अनेक रूपोंमें दीख रही है। मनके कारण हम अपने आपको अनेक रूपोंमें संकल्पित करते हैं। बुद्धिके कारण हेय-उपादेयका विचार करते हैं। अन्तःकरणके कारण अहं और अन्यका भेद होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मीयतें जगद् अनया इति माया—जिससे जगत् देखा जाता है, जिससे जगत् प्रमाणित होता है, वह है माया। नेत्रसे रूप, कर्णसे शब्द, नासिकासे गन्ध, रसनासे स्वाद, त्वचासे स्पर्श, हाथसे क्रिया और चरणसे गति प्रमाणित होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत, संकल्प-विकल्प एवं चिन्तन इन्द्रियों तथा अन्तःकरणसे प्रमाणित होता है।

संसारमें यह भेद क्यों दीख रहा है? इन्द्रियोंकी उपाधिसे हम पदार्थ-दर्शन कर रहे हैं, इसलिए यह उपाधि माया है। मायाका कार्य होनेसे माया है। इस कार्यरूपा मायाका कारण 'मूलभूता माया' है। यह अपने स्वरूपमें आरोपित है। इस उपाधिको दूर कर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारको छोड़कर प्रपंचको देखो तो यह कैसा दीखता है। तुम अपने आपको ही देखकर, अपने आपको ही अन्य समझ रहे हो।

'माया' शब्दका अर्थ है जादू, इन्द्रजाल। मायावी है जादूगर, वह जादूके खेल दिखा रहा है। उसने एक सूत आकाशकी ओर उड़ा दिया और फिर शस्त्र लेकर उसी सूतपर चढ़ता आकाशमें अदृश्य हो गया। दर्शकोंको लगता है कि आकाशमें कोई युद्ध हुआ। उस युद्धके फलस्वरूप जादूगरके अंग टुकड़े-टुकड़े कटकर नीचे गिरने लगे। उसका पूरा शरीर टुकड़े होकर अपने शस्त्रके साथ नीचे गिर गया। खेल देखनेवाले बालक रोने लगते हैं, कि जादूगर मारा गया। फिर वही जादूगर जीवित खड़ा हो जाता तो बालक आश्चर्यचकित हो उठते हैं।

इस प्रकारका जादूका खेल श्री शंकराचार्यजीके समयमें तो होता ही होगा। इस शताब्दीके प्रारम्भ तक होता था। ऐसे जादूगर विदेशोंमें भी गये थे, यह वर्णन मिलता है। सम्भव है, अब भी कोई इस प्रकारके खेल दिखा सकते हों।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जादूके इस खेलको देखकर बालक तो रोता है; किन्तु समझदार समझता है कि सूत सच्चा नहीं, उसपर जादूगरका चढ़ना सच्चा नहीं, आकाशका युद्ध और वहाँ कटना-मरना भी सच्चा नहीं। यह तो जादूगरकी करामात है। यह सब बातें न होकर भी दीखती हैं, इस खेलमें सूत, सूतपर चढ़नेवाला, कटनेवाला, कटकर जीनेवाला—ये सभी महत्त्वके नहीं। महत्त्वका तो वह जादूगर है जो पृथ्वीपर ही रह गया था।

इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ चिदाकाशमें सूतके समान हैं। इन अवस्थाओंके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये सूतपर चढ़े दीखनेवाले जादूगरके समान हैं। जाग्रत् स्वप्नमें और स्वप्न सुषुप्तिमें लीन हो जाता है—यही इनका एक दूसरेका काट देना हुआ। फिर सुषुप्तिमेंसे स्वप्न और स्वप्नमेंसे जाग्रत् प्रकट हो गया। यह सब जादूका खेल है। इनमें न विश्व सच्चा है, न तैजस और न प्राज्ञ। यह एक ही जादूगर इन रूपोंमें दीख रहा है।

केसव कहि न जात का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहो मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।

ये सब चित्र-दृश्य शून्य भित्ति पर बने हैं। इनमें रंग सर्वथा नहीं है और इनका चित्रकार अशरीरी है, अर्थात् यह सब माया है। अतः जो भी राग-द्वेष शून्य होकर सत्यका आदर करेगा, वह इस मायाके खेलमें नहीं फँसेगा।

जैसे जादूके खेलमें कोई वस्तु दीखी और नष्ट हो गयी, स्वप्नमें कोई वस्तु दीखी और नष्ट हो गयी, इसी प्रकार संसारमें जो दृश्य दीखते और नष्ट होते हैं, वे फिर लौटकर आनेवाले नहीं हैं। ये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भवन, स्वजन, धन, यह कुछ रह नहीं सकता। जादूके खेलके समान यह सब आता है, दीखता है और चला जाता है।

इस खेलके पदार्थोंमें अहंता-ममता, राग-द्वेष करके ही लोग दुःखी हो रहे हैं। तुम्हारे भीतर कोई दुःख नहीं है। तुमने विश्वके पदार्थोंको सत्य समझा और उनमेंसे कुछसे मोह कर लिया, कुछसे घृणा हो गयी। बस, इसीसे तुम सुख-दुःखके चक्रमें पड़े हो। अपने जीवनको केवल अविचारके कारण नष्ट कर रहे हो।

स्वप्नमायासरूपेति। स्वप्नरूपां मायासरूपा चेति।

सृष्टि स्वप्नके समान है। सृष्टि मायाके समान है। यह बात दूसरा पक्ष कहता है। सृष्टि-चिन्तक तो इसे ईश्वरकी विभूति मानते ही हैं; किन्तु स्वप्न और मायाके समान कहने वाले भी कई प्रकारके हैं।

सृष्टिको सत्य माननेवाले भी इसे स्वप्न और मायाके समान कहते हैं। शून्यवादी भी शून्य और मायाके रूपमें वर्णन करते हैं। ब्रह्मवादी भी इसे स्वप्न और माया बतलाते हैं। अतः स्वप्न या माया कह देनेसे सृष्टिके रहस्यकी मीमांसा नहीं हो जाती। इसे समझना पड़ेगा।

शास्त्रोंमें, पुराणोंमें सृष्टिको माया अथवा स्वप्नके समान कहा गया है। अतएव शास्त्रको माननेवाले सभी मतोंमें आचार्योंको शास्त्रकी संगति लगानी पड़ती है। जो जगत्को सत्य माननेवाले हैं, वे कहते हैं कि स्वप्नके समान संसारको कहनेका तात्पर्य यह नहीं कि यह सर्वथा मिथ्या है। जाग्रत्में सत्य वस्तुका संस्कार चित्त पर पड़ता है, वही संस्कार स्वप्नमें वस्तुरूपमें व्यक्त होता है। स्वप्नका सुख-दुःख भी पुण्य-पापका ही फल भोग है। कर्म-वादी भी मानते हैं कि जो कर्म इतने अल्पसत्त्व हैं कि जाग्रत्में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थूल सुख-दुःख नहीं दे सकते, वे अपना फल स्वप्नमें देते हैं। इसलिए स्वप्न भी फलरूप है। जाग्रत्‌में जैसे सुख-दुःख संस्कारजन्य हैं, वैसे ही संस्कारजन्य स्वप्नमें भी हैं। अतः स्वप्न भी सत्य है।

मायाके सम्बन्धमें शास्त्रवादियोंका एक यह मत है कि यह दृश्य प्रपञ्च जीवकी माया नहीं है, यह ईश्वरकी माया है। ईश्वरमें प्रपञ्च अध्यारोपित नहीं हैं। ईश्वरकी अचिन्त्य शक्तिका नाम ही माया है। उसीसे सृष्टि बनती है। इस प्रकार सगुणवादियों-के मतमें माया झूठी नहीं, ईश्वरकी होनेसे सत्य है।

बौद्ध लोग चित्तकी क्षणिक-अवस्थाको 'विज्ञान' कहते हैं। वे जाग्रत् और स्वप्न दोनोंको विज्ञानमात्र कहते हैं। उनके मतमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों विज्ञानमात्र हैं। वे सृष्टिको विज्ञान-स्पन्दित मानते हैं। उन विज्ञानवादियोंके मतमें भी सृष्टि स्वप्नके समान ही है, लेकिन उनका विज्ञान क्षणिक है। वे विज्ञानकी धाराके प्रवाहको ही संसार मानते हैं। अतः सृष्टिको स्वप्नरूप कहनेका उनका तात्पर्य है—चित्तस्पन्दित, मनःस्पन्दित, विज्ञान-स्पन्दित है। उनके मतमें भी सृष्टि मिथ्या है; किन्तु इसका कोई अधिष्ठान नहीं है।

बौद्धोंने भी मायाको स्वीकार किया है। स्वप्नका दृष्टान्त वैसे तो उपनिषदों, पुराणोंमें आता है; किन्तु मुख्य रूपसे उसका प्रयोग विज्ञानवादियोंने ही किया है। मायाका उनका अपना अर्थ है। वे शून्यको माया मानते हैं। वे कहते हैं कि नितान्त असत्य, नास्तिरूप, अनिरुक्त शून्य ही सृष्टिके रूपमें निरधिष्ठान प्रतीत हो रहा है। निरिधिष्ठानमें यह प्रपञ्चकी प्रतीति ही माया है।

अद्वैत वेदान्तका स्वप्न और मायाका प्रयोग विलक्षण है। वह स्वप्नको कर्मका फल नहीं मानता और न ईश्वरका फल मानता है। मनःस्पन्दितमात्र स्वप्न है। स्वप्नके पदार्थ जिस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समय दिखाई देते हैं; उस समय वे भले ही संस्कारजन्य हों या उनका और कोई कारण हो; किन्तु प्रतीति-कालमें वे दीखते हुए भी होते नहीं, मिथ्या होते हैं। जैसे रज्जुमें सर्प दीखना किसी कर्मका फल नहीं, प्रतीतिमात्र है, वैसे ही स्वप्न भी प्रतीतिमात्र है। इस अर्थमें वेदान्ती स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। स्वप्नका दृष्टान्त हम कार्य-कारणका विवेक करनेके लिए नहीं देते। स्वप्न-प्रतीति-कालमें उसके सब पदार्थ मिथ्या हैं, यह समझानेके लिए स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं कि इसी प्रकार जाग्रत् भी मिथ्या है। जाग्रत्का मिथ्यात्व समझनेके लिए हमारा स्वप्न-दृष्टान्त है।

बौद्धोंके मतमें जाग्रत्-स्वप्न एक ही अवस्था है, अतः उन्हें दोनोंको एक कर देना अभीष्ट है। सुषुप्तिको भी वे स्वप्नके अन्तर्गत कर देते हैं। लेकिन हमारे मतमें स्वप्न और जाग्रत् दो अवस्थाएँ हैं। स्वप्नके दृष्टान्तसे हम जाग्रत्का मिथ्यात्व समझते हैं।

इस प्रकार एक मत है कि यह सृष्टि ईश्वरकी एक विभूति है और दूसरा मत है कि यह स्वप्नके समान या मायाके समान है।७

८-९.

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥ ८॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥ ९॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः संकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित्॥ ८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

कोई-कोई कहते हैं कि प्रभुकी इच्छामात्र ही सृष्टि है, यह निश्चित है। कालके विषयमें विचार करनेवाले मानते हैं कि कालसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोग मानते हैं कि सृष्टि भोगके लिए है। दूसरोंकी मान्यता है कि यह क्रीड़ाके लिए है। लेकिन यह देव-परमात्माका स्वभाव ही है, अन्यथा उन पूर्णकामको भला क्या इच्छा हो सकती है।

एक पक्ष है कि प्रभुकी इच्छामात्र ही सृष्टि है। ईसाई, मुसलमान कहते हैं कि प्रथम सृष्टि नहीं थी। ईश्वरने कहा : 'हो जा' और सृष्टि हो गयी। सृष्टिके मूलमें कोई परमाणु, प्रकृति, जीव या जीवका प्रारब्धरूप कारण नहीं था। ईश्वरने इच्छा की और सृष्टि हो गयी।

कट्टर वैष्णव, कट्टर शैव और कट्टर शाक्तोंके दो भेद हैं। उनमें एक तो मानते हैं कि ईश्वरने कर्मसापेक्ष सृष्टि बनायी है। आचार्य लोग कहते हैं कि ईश्वरने सापेक्ष होकर अर्थात् पूर्वकल्पमें जैसी सृष्टि थी, जीवोंके जैसे कर्म थे; उसके अनुसार सृष्टि बनायी। लेकिन दूसरा कट्टर ईश्वरवादी पक्ष मानता है कि ईश्वर सापेक्ष सृष्टि नहीं, वह स्वतन्त्र सृष्टि बनाता है।

शास्त्रवादी कहते हैं कि यदि ईश्वर स्वतंत्रतासे सृष्टि करेगा तो उसमें वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष आयेंगे अर्थात् वह पक्षपाती और निर्दय सिद्ध होगा। क्योंकि यदि उसने अपनी इच्छासे स्वतंत्र रूपसे सृष्टि की तो किसीको सुखी और किसीको दुःखी क्यों बनाया? पशु, कीट, दुर्बल, रोगी, दरिद्र, आदि वह क्यों बनाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है ? अतएव ईश्वरकी सृष्टि-रचनाका कुछ न कुछ निमित्त होना चाहिए। यह निमित्त है पूर्व सृष्टिके जीवोंके कर्म। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही अनादि कालसे यह सृष्टि चली आ रही है।

इस कर्मप्रधान हिन्दू-शास्त्रके साथ दूसरे पक्षका मतभेद है। कट्टर ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर यदि लोगोंको उनके कर्मके अनुसार ही भोग देता है तो ईश्वरकी स्वतन्त्रता कहाँ रही ? वह न किसीपर दया कर सकता, न किसीको कर्म भोगसे छुटकारा दे सकता। अतः वह तो कर्म-परतन्त्र हुआ। अतः ईश्वर कर्मके अनुसार सृष्टि करता है, यह बात ठीक नहीं है। ईश्वर तो पूर्ण स्वतन्त्र है। सृष्टि प्रभुकी इच्छा-संकल्पमात्र है। लीला कैवल्य है। जब इच्छा हुई, अकेला रह गया और जब मौज हुई सृष्टि कर ली। मध्ययुगीन संत सृष्टिको 'मालिककी मौज' कहते हैं।

अब इसपर विचार करें कि यह इच्छा ईश्वरके पूर्णांशमें है या एकांशमें ? एक कालमें है या सर्वकालमें ? ईश्वरमें एक इच्छा है या अनेक ? ईश्वरमें अपनी इच्छाका अभिमान है या नहीं ? ईश्वरेच्छा ज्ञात विषयक है या अज्ञात विषयक ? प्राप्त विषयक है या अप्राप्त विषयक ? इच्छा अनिमित्त हुई या सनिमित्त ? यदि सनिमित्त हुई तो वह निमित्त ईश्वरसे भिन्न या अभिन्न ?

ये सब-के-सब प्रश्न किसी पक्षमें उत्तर नहीं देने देंगे। ईश्वरमें इच्छा किसी निमित्तसे हुई तो वह निमित्त पहलेसे था ही, फिर सृष्टि तो थी ही। वह निमित्त चेतन था या जड़ ? इस प्रकारके अनेक प्रश्न उठेंगे। इच्छा ईश्वरके एकांशमें हुई मानेंगे तो ईश्वर देश परिच्छिन्न हो जायगा; क्योंकि जिसमें कोई अंश होगा, उसका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूरा आकार उस अंशका करोड़-अरब आदि गुणित होगा। अंश द्वारा उसकी माप हो सकेगी। इसी प्रकार ईश्वरमें इच्छा किसी कालमें माननेपर ईश्वर काल परिच्छिन्न हो जायगा; क्योंकि जिसमें इच्छाका वर्तमान काल होगा, उकका भूत और भविष्य दोनों होगा।

ईश्वरकी इच्छा स्वविषयक है या अन्यविषयक? अन्य विषयक हो तो अन्यकी उपस्थिति पहलेसे माननी पड़ेगी। वह अन्य ईश्वरके भीतर है या बाहर? अन्यकी उपस्थिति ईश्वरकी व्यापकताको सीमित करेगी। ईश्वर अज्ञातविषयक इच्छा करे तो उसे भी कुछ अज्ञात है, यह मानना होगा और ज्ञातविषयक इच्छा करे तो वह ज्ञात उससे भिन्न है या अभिन्न? यह प्रश्न फिर उठेगा।

ईश्वरकी इच्छा एक मानें तो सदा सृष्टि एक-सी रहेगी उस इच्छाके अनुसार। इच्छाएँ अनेक मानें तो यह मानना होगा कि ईश्वर एक इच्छा करता है, फिर उसे मिटाकर दूसरी इच्छा करता है। तब ईश्वर सत्यसंकल्प नहीं हुआ। जो ईश्वर पहले एक इच्छा करे, एक ज्ञान दे और फिर उसे त्रुटिपूर्ण देखकर मन्सूख करके दूसरा ज्ञान दे, वह सर्वज्ञ कहाँ रहा?

ईश्वर इच्छाका विषय है या आश्रय? इच्छा ईश्वरसे भिन्न है या अभिन्न? इन सबका तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार ईश्वरमें इच्छाका निर्वचन नहीं किया जा सकता। अन्ततोगत्वा यह मानना पड़ता है कि जो लोग सृष्टिको पहिले ही सत्य मान लेते हैं, उन्हें मानना पड़ता है कि सृष्टि बनायी गयी है। जब बनायी गयी है तो बनानेवाला कोई है, जिसके संकल्पसे बनी है। इस प्रकार ये सब विकल्प पहले आरोपित कर तब इसके सिद्धांतका प्रतिपादन करते हैं। सृष्टि-चिन्तक सृष्टिको सत्य मान-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर तब उसके निर्माणका कारण ढूँढते हैं। अतः वे कहते हैं कि यह सृष्टि ईश्वरकी इच्छासे बनी है।

दूसरे मतवादी कहते हैं कि ईश्वर तो तटस्थ है। समूची सृष्टि कालके आधारपर है। जैसे समयपर वर्षा होती है, समयपर वृक्ष फूलता-फलता है, वैसे ही सृष्टि-प्रलय भी अपने समयपर होते हैं। ये कालचिन्तक, ज्योतिषी लोग समयको ही सृष्टिका हेतु मानते हैं।

इनमें कोई मूल कारण सृष्टिका काल मानते हैं, कोई स्वभाव (प्रकृति) मानते हैं, कोई यदृच्छा (संयोग) मानते हैं। सृष्टिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके विचार चलते हैं।

ज्योतिषशास्त्रके विद्वान् सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रह-नक्षत्रोंकी गति, स्थितिका गणित करके संसारके प्राणि-पदार्थकी अवस्थाका निश्चय करते हैं। ग्रहादिकी गतिके आधारसे ही उनके मतमें सृष्टि एवं प्रलयका निश्चय होता है।

कालके सम्बन्धमें लोग बहुत कम जानते हैं। काल क्या है? कालका मापक घड़ी है? रात-दिन हैं? सूर्य-चन्द्र हैं? ज्योतिष-नीहारिकापिण्ड है? इनमें कोई नहीं है; क्योंकि महाप्रलयमें इनमेंसे कोई नहीं रहता। कालका मापक है क्रम-संवित्। पुष्पकी कली थी, पुष्प बना फिर सूख गया—यह जो क्रम है, यही क्रम-संवित् भूत, भविष्यादि कालके मापक हैं। इस क्रम संवित्से ही कालका अनुमान होता है। अब सोचो कि महाप्रलयमें जब सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्रादि नहीं थे, अन्धकार-प्रकाश नहीं था, मन भी संकल्प नहीं करता था, उस समय भूत, वर्तमान, भविष्य रूप कालका ज्ञाता कौन था? उस समय काल अभेद रूप था। सृष्टिमें भेद रूप काल और प्रलयमें अभेद रूप काल; किन्तु इन दोनोंका जो साक्षी है, उसमें काल आया कहाँसे? काल तो केवल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्फुरणा ही है और वस्तु भी स्फुरणा है। स्फुरणाका भी आरोप इसलिए किया जाता है; क्योंकि ये तीनों प्रतीत होते हैं। आत्म-दृष्टिसे तो स्फुरणा भी आरोपित ही है। अतः जो लोग अर्थके परम स्वरूपका चिन्तन करते हैं, वे इस भेदरूप प्रपंचपर दृष्टि नहीं डालते।

ईश्वर सत्यसंकल्प है, अतएव घट आदिकी सृष्टि प्रभुका संकल्पमात्र है। उनके संकल्पसे भिन्न सृष्टि नहीं है। दूसरे सृष्टि-कालसे ही है, ऐसा कहते हैं।

इस सृष्टिका प्रयोजन क्या है? अन्ततः यह सृष्टि बनी ही क्यों? इस प्रश्नका उत्तर सृष्टि-चिन्तक, सृष्टिको सत्य माननेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारसे देते हैं।

'यह सृष्टि भोगार्थ है अथवा क्रीडार्थ है' इस प्रकार दूसरे कुछ लोग मानते हैं कि 'यह देवका स्वभाव है' यह कहते हुए देवके स्वभावपक्षको लेकर कारिकाकार इन दोनों पक्षोंको दोषयुक्त बत-लाते हैं। अथवा 'आप्तकामको स्पृहा कैसी' यह चतुर्थ कारिका-चरण अब तकके सभी पक्षोंको दोषयुक्त बतलाता है; क्योंकि अविद्यारूप स्वभावके अतिरिक्त रज्जु आदिमें सर्पादिकी अभि-व्यक्तिका दूसरा कोई कारण बता पाना शक्य नहीं है।

सृष्टि भोगके लिए है, यह माननेपर प्रश्न उठा कि किसके भोगके लिए? जीवके भोगके लिए। संसारकी सब वस्तुएँ अनादि हैं; क्योंकि प्रत्येक वस्तुका बीज स्वीकार करना पड़ता है। बीज-वृक्ष न्यायसे प्रत्येक प्राणि-पदार्थकी परम्परा अनादि है।

यदि सृष्टिका बीज हो तो वह ज्ञानात्मक है या अज्ञानात्मक? अज्ञानात्मक है; क्योंकि सृष्टिके बीजकी किसीको कोई ज्ञान नहीं है। अतः यह सृष्टि अनादि है और अनादि कर्मके वशवर्ती होकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीव प्रलयकालमें सुषुप्तावस्थामें रहता है। सृष्टिकालमें परम-कृपालु परमेश्वर उसे भोगके लिए जगाता है। इस प्रकार जीवके भोगके लिए सृष्टि है यह एक प्रयोजनकी कल्पना की गयी।

दूसरी कल्पना है कि सृष्टि ईश्वर अपनी क्रीड़ाके लिए करता है। यह सृष्टि-प्रलयका खेल एक प्रकारकी आँख-मिचौनी है। प्रलयकालमें जीव अज्ञानान्धकारमें सो जाते, छिप जाते हैं और ईश्वर उनको ढूँढ़कर जगाता है। सृष्टिकालमें ईश्वर छिप गया, जीव उसे ढूँढ़ रहे हैं—यह क्रीड़ा चल रही है जीवोंके साथ ईश्वरकी।

श्रुति जीव और ईश्वरको मित्र कहती है: **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।** दोनों परस्पर खेल रहे हैं। लेकिन जीव अल्पज्ञ होनेसे संसारमें आकर यहाँके पदार्थोंसे लुभाकर भूल जाता है कि उसे अपने परममित्रको ढूँढ़ना है। जो संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादिमें भूल जाते, वे ही उसे ढूँढ़ते हैं। इसे ढूँढ़नेके अनेक प्रकार हैं। कोई उसे नाम ले-लेकर पुकारते हैं, कोई उसके न मिलनेसे रोते हैं, कोई ढूँढ़ते हुए थककर आँखें बन्द कर समाधि लगाते हैं, कोई 'नेति-नेतिके मार्गसे प्रत्येक आवरण दूर कर उसे ढूँढ़ते हैं।

जो संसारके पदार्थोंमें लुब्ध, खाने-पीनेमें मस्त हैं, उनके पास ईश्वरको आनेकी कोई आवश्यकता नहीं। जो उसका नाम लेकर पुकारते हैं या उसके लिए रोते हैं, उनके सम्मुख सगुण-साकार ईश्वर प्रकट होता है। लेकिन जो बहुत चतुर हैं, वे सोचते हैं कि परमात्मा तो अद्वितीय है। उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु तो है ही नहीं। तब कहीं हमारे साथ क्रीड़ा करनेके लिए उसने ही तो दूसरा रूप बना लिया है? वे संसारको देखकर ही कहते हैं: 'देख लिया'। वेदान्तका मत है कि शुद्ध वस्तुका साक्षात्कार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता नहीं है। साक्षात्कार सदा अन्तःकरण रहते, अन्तःकरण उपहितका ही होगा। अतः देखते तो अन्तःकरणोपहितको हैं और कहते हैं कि देख लिया। उनके सामने भी परमात्मा प्रकट हो जाता है; क्योंकि उपहित भी वही है। अतः जिसने पहिचान लिया, उससे छिपना आवश्यक है।

इस प्रकार सृष्टिके सम्बन्धमें अब तक इतने मतोंकी चर्चा हुई : १. ईश्वरने अपना ऐश्वर्य प्रकट करनेको सृष्टि बनायी। २. सृष्टि स्वप्न और मायाके समान है। ३. सत्यसंकल्प ईश्वरके संकल्पसे सृष्टि हुई है। ४. सृष्टि कालसे उत्पन्न हुई। ५. सृष्टिका प्रयोजन भोग है। ६. क्रीडाके लिए सृष्टि है।

इन सब कारणोंमें दोष हैं। इनमें निर्दोष कोई कारण नहीं है। ईश्वरने भोगके लिए सृष्टि बनायी तो जीव सदा कर्म करे और भोग भोगे। उसकी मुक्ति कभी होगी ही नहीं। यदि ईश्वरने खेलनेके लिए सृष्टि बनायी तो खेलनेमें केवल बालकोंकी रुचि होती है। गम्भीर लोगोंकी रुचि नहीं होती। फिर दूसरोंसे खेलनेकी इच्छा भी कामना ही है। जब अपनेमें कोई अभाव या अतृप्ति हो, तभी अन्यके साथ खेलनेकी इच्छा होती है। जो अपनेमें ही तृप्त है, पूर्णकाम है, वह दूसरोंसे खेलनेकी इच्छा क्यों करेगा ? इस प्रकार क्रीड़ा वाली बात भी असंगत है।

अन्तमें सृष्टि क्या है ? इसका उत्तर देते हैं कि यह देवका स्वभाव ही है। जो आप्तकाम, सबसे परे है, जिसमें अन्तरंग-बहिरंग आत्मा-अनात्माका भेद नहीं है, उसमें मायाके बिना ऐश्वर्यका ख्यापन नहीं हो सकता। क्योंकि जिसमें द्वितीय सत्ता ही नहीं, वह ऐश्वर्य किसे दिखावेगा ?

स्वप्न और माया शब्दका प्रयोग अवस्तुके लिए होता है। जैसे विज्ञान स्वप्नमें प्रत्ययाकार परिणामको प्राप्त होता है, वैसा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिणामी परमात्मा तो है ही नहीं। उसमें परिणाम सम्भव नहीं। परमात्माकी अवस्तुसे एकात्मता न हो तो स्वप्न और मायाकी सृष्टिसे संगति लगायी नहीं जा सकती।

परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मायाके बिना इच्छाकी संगति भी नहीं लगेगी। उस नित्य निर्विकारमें इच्छाका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार मायाके बिना भोग या क्रीडाकी उपपत्ति भी नहीं होगी। अतः दृश्यमान सृष्टिकी किसी प्रकार संगति नहीं लगती।

इस सबका तात्पर्य यह है कि जो कोई किसी भी युक्तिसे सृष्टिका निर्वचन करना चाहेगा, उसकी युक्तिसे, उसीकी मान्यता असंगत हो जायगी। अब कहो कि सृष्टि अनिर्वचनीय है। यह सत्य है कि सृष्टिकी सभी वस्तु सापेक्ष हैं—अनिर्वचनीय हैं। उदाहरणके लिए गन्ध किसे कहते हैं, यह पूछें तो कहा जायगा कि नासिकासे जो गुण ग्रहण होता है, उसे गन्ध कहते हैं। नासिका किसे कहते हैं? गन्धको जो इन्द्रिय ग्रहण करे वह नासिका। नासिकाके ज्ञानके बिना गन्धका ज्ञान नहीं और गन्धके ज्ञानके बिना नासिकाका ज्ञान नहीं। गन्ध और नासिका दोनों सापेक्ष हो गये। इस प्रकार समस्त दृष्टि सापेक्ष है। इस सापेक्षताको प्रकाशित करनेवाला इनका जो अधिष्ठान है, वही निरपेक्ष तथ्य है। वह निरपेक्ष तथ्य अपनी आत्मा है।

सबको प्रकाशित करनेवाले, सर्वाधिष्ठान इन निरपेक्ष आत्मदेवका यह स्वभाव है—यह सृष्टि उनका स्वभाव है। क्योंकि ये आप्तकाम हैं, इनमें कोई स्पृहा तो हो नहीं सकती।

स्वभावका क्या अर्थ? प्रकाशित करना, देखना आत्मदेवका स्वभाव है और वे अन्य न होनेसे अपनेको ही अन्य रूपमें देखते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। पूर्ण देखा नहीं जा सकता, अतः पूर्ण ही अपूर्णके रूपमें दीख रहा है। जैसे नेत्रमें आकाशको देखनेकी शक्ति न होनेसे उसमें नीलिमा दीखती है यह नीलिमा दीखना स्वभाव है, वैसे ही यह विश्वप्रपंचकी प्रतीति स्वभाव है। यह अन्यथाग्रहण अग्रहणका परिणाम है।

आत्मदेवका स्वभाव है ज्ञानमात्र। ज्ञान ज्ञेय नहीं हुआ करता। इसीसे अन्यथा ग्रहण होता है। प्रतीतिमात्र उसका स्वभाव है। प्रतीति उपाधिके द्वारा होती है। उपाधि स्वयं साक्षिभास्य है। साक्षिभास्य होनेसे जो अन्तःकरणकी उपाधिका साक्षी है, वही उपाधिके द्वारा दृश्यमान सम्पूर्ण विषयोंका भी अधिष्ठान है—साक्षी है। इस प्रकार जब साक्षी और सर्वाधिष्ठानकी एकताका बोध होता है तब प्रपंचमें सत्यत्वकी भ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है।

सृष्टिके सम्बन्धमें जितनी प्रक्रिया हैं, वे तो परमात्माके रूपमें उतरनेकी केवल सीढ़ियाँ हैं। उनके द्वारा हमारी बुद्धि परमात्माकी ओर चले। सत्य वस्तुका प्रतिपादन तो अब आगे चतुर्थ पादमें करेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चतुर्थ पाद

यह बात पहिले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि आत्मामें पशुके समान चार पाद नहीं हैं। रुपयेमें चार चवन्नीकी भाँति पादकी कल्पना है। आत्मामें अवस्था या स्थितियाँ भी नहीं होती। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ उसमें प्रतीयमान ही हैं। जैसे दर्पणमें कहीं पर्वत, कहीं सूर्य और कहीं अन्धकार दीखनेसे दर्पण स्थूल, प्रकाश या अन्धकार नहीं होता, वैसे ही इन जाग्रत् आदि प्रतीतियोंसे आत्माकी एकरसतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्ति-निमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेष-प्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति। शून्यमेव तर्हि तत्; न; मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृग-तृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वा-स्पदाः शक्याः कल्पयितुम्। एवं तर्हि प्राणादि सर्वविकल्पास्पदत्वा-त्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वम् इति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वम्। उदकाधारादेरिव घटादेः। न; प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिका-दिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्त भागवस्तुत्वात्। नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत् आत्मनो निरुपाधिकत्वात्। गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्। नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्। अतो नाभिधानेन निर्देश-मर्हति। शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि। न; आत्मत्वावगमे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजत-तृष्णायाः। न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोऽस्ति। न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्तिः सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६.८.१६) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० उ० २.५.१९)। 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा० उ० ६ ८.१६) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० उ० ३.४.१) 'सबाह्याभ्यान्तरो ह्यजः' (मु० उ० २.१.२) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० उ० ७.२५.२) इत्यादीनाम्।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसमनुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाह नान्तःप्रज्ञमित्यादि।

अब तक तीन पादका वर्णन हुआ है। अब क्रमके अनुसार चतुर्थ पादका वर्णन प्रारम्भ होगा।

आगेका यह प्रसंग **नान्तःप्रज्ञ** श्रुतिसे प्रारम्भ हुआ है। किसी भी वस्तुका वर्णन करनेकी हमारी पद्धति पांच प्रकारकी है। १. सम्बन्ध वृत्तिसे, जैसे 'जलका घड़ा ले आओ।' जलसे बना तो कोई घड़ा है नहीं, बोलनेका तात्पर्य इतना है कि जिस घड़ेमें जल है, जलसे जिसका सम्बन्ध है वह घड़ा लाओ। २. रूढ़वृत्ति, हमने एकका अमुक नाम रख दिया। उस नामके अर्थसे तात्पर्य नहीं, बस उस वस्तुका वह नाम है। जैसे—पंकजका अर्थ तो है कीचड़से उत्पन्न वस्तु; किन्तु कीचड़से उत्पन्न सब वस्तुओंको हम पंकज नहीं कहते। पंकज हम कहते हैं जलमें होने वाले पुष्प विशेषको। ३. जातिसामान्य, अर्थात् यह मनुष्य, यह पशु, यह पक्षी। इसमें एक विशिष्ट पदार्थका निर्देश न करके हम एक पूरी जातिका निर्देश कर देते हैं। ४. क्रियावृत्ति-कर्मके द्वारा हम निर्देश करते हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जैसे—यह ड्राइवर है, यह रसोइया है, ये कवि हैं, ये कथावाचक हैं। ५. गुणवृत्ति—हम गुणके द्वारा वस्तुका निर्देश करते हैं, जैसे—लाल, काला, मीठा, खट्टा, विद्वान्, मूर्ख, सीधा-टेढ़ा।

इन पाँच वृत्तियोंसे ही हम समस्त वस्तुओंका वर्णन करते हैं। यह वर्णन करनेकी शास्त्रीय परिपाटी है। जो बिना विचारके अशुद्ध-असंगत बोलते हैं, उनकी बात भिन्न है। अब तुरीयवस्तु ब्रह्मका वर्णन करना है, तो उसका वर्णन पाँच रीतियोंमेंसे किस रीतिसे किया जायगा? उपनिषद्में तो ब्रह्मका वर्णन इन पाँचोंसे भिन्न परिपाटीसे किया गया है। ऐसा क्यों किया गया, यही बात भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य पहिले समझाते हैं।

समस्त शब्दोंकी प्रवृत्तिके जितने निमित्त हैं, उनसे यह आत्मा रहित है। पहिलेके वर्णनकी पाँचों वृत्तियाँ इसमें नहीं हैं, न तो इसका किसीसे सम्बन्ध है, न यह दृश्य है कि कोई नाम कल्पित करके निर्देश कर दें, न इसमें कोई जाति, क्रिया या गुण ही है। अतः जिन-जिन निमित्तोंसे शब्दोंका प्रयोग होता है, वे कोई निमित्त तुरीयतत्त्व आत्मामें नहीं हैं। अतएव शब्दके द्वारा आत्माका, ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता।

ब्रह्म शब्दके द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, यह इसलिए कहते हैं कि अपने आपको तो कोई देख सकता नहीं। इन्द्रियोंके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा तो केवल बाह्य विषयोंका ग्रहण होता है। मन-बुद्धिकी भी गति नहीं; क्योंकि इन्द्रियगोलक जाग्रत् तक रहते हैं और मन-बुद्धि स्वप्न तक। ये सुषुप्तिमें ही लीन हो जाते हैं। रह गया शब्द प्रमाण, उसकी भी गति परमात्मामें नहीं है; क्योंकि जो वस्तु पहिलेसे प्रत्यक्ष हो, शब्दके द्वारा उसीकी पहिचान करायी जाती है। घड़ी है, उसे भी पहिचानता नहीं, उसे बता देंगे कि यह घड़ी है। अथवा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहलेसे शब्द तथा अर्थज्ञान हो, घड़ी शब्द भी जानता हो और घड़ी वस्तु भी देखी हो; किन्तु शब्दार्थके सम्बन्धका ज्ञान न हो, इसे घड़ी कहते हैं—यह न जानता हो तो उसे शब्द-अर्थके सम्बन्धका ज्ञान करा देंगे; किन्तु ब्रह्म ऐसा भी नहीं है।

अतएव किसी वस्तुके निर्देशके जितने निमित्त हैं, उनमेंसे कोई ब्रह्ममें नहीं है। इसीलिए उपनिषद् सबका निषेध करके आत्माका निर्देश करनेकी प्रणाली अपनाती है; क्योंकि अपना अस्तित्व है, यह स्वतः सिद्ध है। इसमें किसीको सन्देह नहीं है; किन्तु यह अपना आपा अप्रमेय है। प्रमाणकी आवश्यकता वहाँ है, जहाँ वस्तुमें सन्देह हो। अपने अस्तित्वमें कोई सन्देह है नहीं। इस प्रमाणनिरपेक्ष तुरीयवस्तुका निर्देश दृश्यका निषेध करके ही किया जा सकता है।

जब निषेध ही निषेध है तो वह तुरीयवस्तु शून्य होगी, इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं: नहीं। क्योंकि जितने मिथ्या विकल्प होते हैं, वे बिना निमित्तके नहीं होते। यदि सीप न हो तो चाँदीका भ्रम किसमें होगा? यदि रस्सी न हो तो सर्पकी भ्रान्ति कहाँ होगी? यदि स्थाणु (ठूँठ) न हो तो मनुष्यकी प्रतीति किस आधारमें होगी? यदि मृग-मरीचिका न हो तो जलकी कल्पना किसमें उठेगी? अतः अधिष्ठानके बिना मिथ्या कल्पना नहीं हुआ करती। जब कुछ होता है, तभी उसमें अन्य कुछका भ्रम भी होता है।

जो कुछ दीख रहा है वह किसी वस्तुमें, किसी देशमें, किसी कालमें दीख रहा है। अतः जितने परिच्छिन्न पदार्थ दीख रहे हैं, उनके दीखनेका आधार कोई अपरिच्छिन्न सत्ता अवश्य होनी चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह बाहरका संसार, इसे देखनेवाले इन्द्रिय-गोलक, इन्द्रियों-को देखनेवाला मन, मनको देखनेवाली बुद्धि—ये सब दृश्य हैं। इनका लय जिस सुषुप्तिमें होता है, उसका भी हमें अनुभव है, अतः वह भी दृश्य है। इस सब दृश्यका आधार एक होना चाहिए।

यह सब प्रपंच किसीमें हैं और किसीको दीख रहे हैं। द्रष्टा न हो तो दीखे किसे? अतः इस प्रपंचका निषेध कर देनेपर जो बच रहता है वह शून्य नहीं हो सकता।

अच्छा, यदि प्रपंचका आधार शून्य है तो उसका कोई साक्षी है या नहीं? यदि कोई साक्षी नहीं है तो शून्य है, इसमें प्रमाण ही कुछ नहीं रहा। यदि कोई साक्षी है तो शून्य रहा कहाँ? वहाँ द्रष्टा सिद्ध हो गया। अतः विना किसी आधारके अभावकी सिद्धि नहीं हो सकती।

यहाँ फिर प्रश्न उठा कि यदि प्राणादि समस्त विकल्पोंका आधार तुरीयतत्त्व है तो उसे शब्दवाच्य होना चाहिए; क्योंकि तब आधार वृत्तिसे उसका वर्णन सम्भव होगा। अतएव ऐसा वर्णन क्यों नहीं करते कि जो नाम, रूप, क्रियाका आधार है, वह ब्रह्म-आत्मा प्रत्यक्चैतन्य है। जैसे कहते हैं कि जिसमें जल है, वह घड़ा। इसी प्रकार ऐसा क्यों नहीं कहते कि जिसमें वायु, सूर्य जलादि दृश्यप्रपंच, देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि हैं, वह ब्रह्म है। केवल निषेधके द्वारा ही परमात्माका वर्णन हो सकता है, ऐसा नियम क्यों बनाते हैं?

अब प्रश्नका उत्तर देते हैं कि संसारका आधार परमात्मा है, इस प्रकार परमात्माका वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार सीपमें चाँदी नहीं होती, रस्सीमें साँप नहीं होता, उसी प्रकार ये प्राणादि विकल्प तुरीयतत्त्वमें नहीं हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि यह दृश्यप्रपंच सत्य होता तो सत्यके साथ इसका सम्वन्ध हो जाता; किन्तु दृश्यप्रपंच तो है ही नहीं। अतः इसका सम्वन्ध नहीं वन सकता।

सत् और असत्का सम्वन्ध शब्दक प्रवृत्तिका निमित्त नहीं हो सकता। अतः जहाँ सम्वन्ध सत्य नहीं है, वहाँ सम्वन्धवृत्तिसे वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता।

अव यदि कहा जाय कि हम जैसे रूढ़िवृत्तिसे गौका वर्णन करते हैं; क्योंकि **गच्छतीति गौः** जो चले वह गाय, किन्तु सव चलनेवालोंका नाम न कहकर हम एक पशुमें इसे रूढ़ मान लेते हैं। इसी प्रकार परमात्माका वर्णन करेंगे तो ऐसा वर्णन भी नहीं कर सकते। क्योंकि रूढ़िवृत्ति तो देखे हुए पदार्थमें ही होगी। जो अदृश्य तत्त्व है, उसमें रूढ़िवृत्ति चल नहीं सकती।

ब्रह्म भी एक नाम है, ऐसा समझना भ्रम होगा। 'आत्मा ब्रह्म है' का अर्थ है कि आत्माको जो तुम परिच्छिन्न मानते हो, ऐसा नहीं है। परिच्छिन्नताका निषेधक ब्रह्म शब्द है। इसी प्रकार आत्मा या परमात्मा नाम नहीं है। अन्य नहीं है, यह सूचित करनेके लिए कहते हैं कि आत्मा है। इस देहमें जो बैठा है, जो स्वर्ग-नरक जाता है, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो परि-पूर्ण चिद्वस्तु है, यह वतलानेके लिए उसे ब्रह्म कहते हैं।

आत्मामें कोई उपाधि नहीं है। इसलिए जातिके द्वारा भी उसका वर्णन सम्भव नहीं है। सामान्य या विशेष जाति अद्वितीय परमात्मामें न होनेसे जातिके द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि जाति सदा देहकी उपाधिसे होती है। अतः गौ, मनु-ष्यादिकी भाँति परमात्मामें जाति-निर्देश नहीं हो सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाके द्वारा जैसे रसोइया, ड्राइवर आदिका वर्णन होता है, उस प्रकार भी परमात्माका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि परमात्मामें क्रिया है ही नहीं। क्रिया परिच्छिन्नमें, जड़में, उपाधिमें होती है; अपरिच्छिन्नमें नहीं। जो अपरिच्छिन्न, चेतन, अविक्रिय है, उसका वर्णन क्रियाके द्वारा अशक्य है।

नीला-पीला, खट्टा-मीठा, मूर्ख-विद्वान् आदि गुणोंके द्वारा जैसे हम वस्तुओंका वर्णन करते हैं, इस प्रकार गुणोंके द्वारा भी परमात्माका वर्णन सम्भव नहीं; क्योंकि परमात्मा निर्गुण है। जहाँ गुण होगा, वहाँ विषय होगा। परमात्मा निर्गुण है, यह कहनेका तात्पर्य है कि वह विषयसे रहित है। उसमें विषय-विषयी भाव नहीं है। अतएव जो तुरीयतत्त्व है, वह किसी अभिधानसे, शब्दकी किसी वृत्तिसे वर्णित नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उसका वाणीके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न उठा कि जब वाणीसे तुरीय वस्तुका वर्णन किया नहीं जा सकता, तब वह शशशृङ्ग (खरगोशके सींग) के समान निरर्थक होगा। क्योंकि जिस ब्रह्मका हमारे जीवनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उसका हम निरूपण करें, इससे क्या अर्थ निकलेगा? जैसे खरगोशके सींग है या नहीं, यह विचार व्यर्थ है, वैसे ही तुरीयवस्तुका विचार भी व्यर्थ होगा। इस आशंकाका उत्तर अब देते हैं :

तुरीयतत्त्वका विचार निरर्थक है, ऐसा नहीं। क्योंकि जैसे सीपका ज्ञान होनेपर उसमें प्रतीत होती चाँदीकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार अपने आत्माको तुरीयतत्त्व जान लेनेपर अनात्मा संसारमें होनेवाली तृष्णा दूर हो जाती है। तुरीयको अपना स्वरूप जान लेनेपर अविद्या, तृष्णादि दोषोंकी उत्पत्ति ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्भव नहीं। तुरीयको अपने आत्मस्वरूपमें न जाननेका कोई कारण नहीं है; क्योंकि सभी उपनिषदोंका इसी अर्थमें पर्यवसान हुआ है।

तुरीय कोई अवस्था विशेष है जो जाग्रत् आदिसे भिन्न है, ऐसा भ्रम बहुतोंको होता है। लेकिन यह भ्रम सर्वथा निराधार है। यह बात भी पहले ही बतायी जा चुकी है कि तुरीय कोई अवस्था नहीं है। यह तो तत्त्व है। सब अवस्थाएँ तुरीयमें ही प्रतीत होती हैं। तुरीय उन अवस्थाओंमें व्यापक है और उनसे परे भी है। ये अवस्थाएँ रहें तो भी तुम हो और न रहें तो भी तुम हो।

होता यह है कि प्रारम्भमें लोगोंके चित्तमें वैराग्य नहीं होता। अतः अविचारी लोग समझते हैं कि भोगके त्यागसे हम ब्रह्म हो जायँगे। अतः भोगका त्याग करके निष्काम कर्मपर उनका आग्रह होता है। आगे जाकर कर्मसे भी वैराग्य होता है। तब चित्त-वृत्ति शुद्ध रखनेका आग्रह होता है। तब इष्टाकारवृत्ति, ब्रह्माकार-वृत्ति या निरुद्धवृत्ति-समाधिका आग्रह होता है। यहाँ तक अन्तः करणसे वैराग्य नहीं हुआ। अन्तःकरणसे वैराग्य हुआ तो तदा-कारवृत्ति रखनेका आग्रह बना रहा। लेकिन यह तदाकारवृत्ति भी तो चित्तमें होगी। चित्त है देहमें। अतः अन्तःकरणकी जब तुम कोई अवस्था चाहते हो तो देहमें अहंभाव करके ही चाहते हो। क्योंकि यदि तुम सच्चिदानन्दघन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तो उसमें तो चित्त नामक कोई वस्तु है ही नहीं। अतः जब तुम चित्तकी कोई अवस्था विशेष चाहते हो तो अपनेको परिच्छिन्न मानकर ही चाहते हो।

अद्वैत-ज्ञान प्रवर्त्तक या निवर्तक नहीं होता। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान वृत्तिज्ञान केवल अविद्याका निवर्तक है। ऐसी अवस्थामें ब्रह्मा:

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्मैक्य ज्ञान क्यों प्राप्त किया जाय, यह प्रश्न स्वाभाविक है। यहाँ यह देखो कि अपनेको देह माननेके कारण सुख-दुःख, कामक्रोध, लोभादि अनर्थोंकी प्राप्ति तुम्हें हुई है या नहीं ? एक मनुष्य मृग-मरीचिकामें जल लेनेके लिए घड़ा लेकर जा रहा है तो उसको यह बतलना आवश्यक है कि वहाँ जल नहीं है। इसी प्रकार तुम्हें यह जानना आवश्यक है कि तुम देह नहीं हो। जाग्रत्में दीखनेवाला समस्त प्रपंच जाग्रत् अवस्थाका विलास है और इसका अभिमानी 'मैं' विश्व बना हूं, समष्टि स्वप्नका अभिमानी 'मैं' तैजस बना हूं और समष्टि सुषुप्तिका अभिमानी 'मैं' ही प्राज्ञ बना हूँ—इन सबके प्रतीत होनेपर भी 'मैं' इनसे निर्लिप्त हूं तथा इन अवस्थाओंके कर्तापन—भोक्तापन, सुख-दुःख, पाप-पुण्यादिसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है; इस ज्ञानसे कोई तृष्णा नहीं रह जाती। तुरीय वस्तुका ज्ञान हो जानेपर अविद्या, तृष्णा आदि दोष रहें—यह सम्भव नहीं है।

तुरीयवस्तु आत्माको कोई न समझे, इसका कोई कारण नहीं है; क्योंकि उपनिषदोंमें इसका इतना स्पष्ट वर्णन है कि कोई शंका किसीको इसमें नहीं हो सकती। तुरीयवस्तुको जाननेका अर्थ है अपने आपको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म जानना। अपनेको इस रूपमें जान लेनेपर भी शरीर, शरीरकी क्रिया, शरीरके रोग, शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता ज्ञात तो होगी; किन्तु उनमें सत्यत्वकी भ्रान्ति नहीं रहेगी।

स्वामी विद्यारण्यजीने पंचदशीमें यह प्रतिपादन किया है कि चिदात्माको शरीरसे सीमित मत करो और शरीरमें जो अहंकार शारीरिक क्रियाका निर्वाह कर रहा है, उसे अपनेसे पृथक् देखो। चिदात्मा और यह अहंकार एक हैं—यह जो अविद्याजन्य ग्रन्थि है, यह टूट गयी—खुल गयी तो चाहे कोटि-कोटि इच्छाएं होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहें, स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। संसारमें कोटि-कोटि जीव-जन्तु, कीट-पतंग, पशु-पक्षी हैं, करोड़ों मनुष्य हैं; उनके जीवनकी जैसी स्थिति है, वैसी ही स्थिति किसी एक जीवनकी और हो तो उसमें चिदात्माका क्या बनता-बिगड़ता है ?

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

ज्ञानी पुरुषको संसारकी प्रतीति नहीं होती, यह समझना भ्रम है। ज्ञानी पुरुष सेनाका सेनापति हो सकता है, राज्यका संचालक हो सकता है, दण्ड दे सकता है तथा सर्वलोकका अधिपति हो सकता है।

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ।—ब्र० सू०

परमात्मतत्त्वका अधिगम हो जानेपर उत्तरकालीन कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं होता और पूर्वकालीन कर्मका विनाश हो जाता है। अर्थात् ज्ञान-दृष्टि प्राप्त होनेपर यह निश्चय हो जाता है कि न तो इसके पूर्व हमारा जन्म था और न आगे होगा।

ज्ञानकी यह नित्य महिमा है कि कर्मसे उसकी वृद्धि या ह्रास नहीं होता। ज्ञानीको किसी कर्मके करनेका पश्चात्ताप या प्रसन्नता नहीं होती, क्योंकि जहाँ कर्तृत्व और भोक्तृत्व समाप्त हो गया, वहाँ सुख-दुःख किस बातका होगा ? अतः ज्ञानका फल है सुख-दुःखादिकी निवृत्ति, अविद्या-तृष्णादि दोषोंसे सर्वथा परित्राण।

संसारमें हमें सुख-दुःख होता है पदार्थोंके मिलने न मिलनेसे, व्यक्तियोंके संयोग-वियोगसे और परिस्थितिके अनुकूल-प्रतिकूल होनेसे। लेकिन हमारी इच्छानुसार न पदार्थ हमारे पास रह सकते, न व्यक्ति और न परिस्थिति। अतः जो सांसारिक पदार्थोंको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संग्रह करके सुख चाहते हैं, वे बराबर दुःखी रहेंगे। सांसारिक पदार्थ तो नष्ट होंगे ही।

अब कर्मवादियोंने कहा कि वस्तु और व्यक्ति तो प्रारब्धानुसार मिलते और बिछुड़ते हैं इसमें अपना कोई वश नहीं है। अतः इसमें सुख-दुःख मत मानो। यह धर्मका मार्ग है। अच्छे-अच्छे कर्म ही करो, जिससे आगे दुःख न प्राप्त हो।

उपासकोंने कहा कि सुख-दुःख न पदार्थसे होते, न व्यक्तियोंसे, न परिस्थितिसे। वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिमें हमारा जो राग है, उसके कारण सुख-दुःख होते हैं। अतः ऐसा उपाय करो कि मनमें दुःखाकार वृत्ति ही न आवे। अपना राग अपने इष्टमें लगा दो। वह परमप्रिय तुम्हारे हृदयमें ही रहेगा, अतः दुःखका कोई कारण नहीं होगा। इस प्रकार वृत्त्यन्तर कर दिया। अतः बाह्य परिस्थितिसे दुःख होना बन्द हो गया।

योगियोंने कहा कि वृत्तिका निरोध ही कर दो। वृत्ति रहेगी तब सुख-दुःखका अनुभव होगा। यह रहेगी तो इष्टाकार और अनिष्टाकार भी होगी। अतः इस वृत्तिको रोक ही दो। जब वृत्ति न रहेगी तो सुख-दुःख कहाँसे होगा?

वस्तुप्रेमका नाम विषयीपना, क्रियाप्रेमका नाम धर्म, वृत्ति-प्रेमका नाम उपासना और स्थितिप्रेमका नाम योग है। लेकिन वृत्तिकी स्थिरता सम्भव नहीं है। चाहे जितना प्रयत्न कर लो, वृत्ति यदि समाधिस्थ होगी तो विक्षिप्त भी होगी ही। सहस्रों वर्षकी समाधिके पश्चात् भी विक्षेप आता ही है। अतः संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं है कि उससे एक स्थिति बनी रहे और दुःख कभी हो ही नहीं।

ऐसी अवस्थामें सुख-दुःखके झगड़ेसे छूटनेका एकमात्र उपाय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

असंगता ही है। सुख या दुःख जो भी आयें; आ जायँ और जाते हों तो चले जायँ। तुम इनसे असंग बने रहो। यही बात वेदान्त समझाता है। वेदान्तके अनुसार ये पदार्थ, ये प्राणी, ये स्थितियाँ मिथ्या हैं। मिथ्याका अर्थ यह नहीं है कि ये प्रतीत न हों। वस्तु प्रतीत तो हो; किन्तु जहाँ—जिसमें वह प्रतीत हो, उसमें वह वस्तुतः न हो तब वह कहलाती है मिथ्या-जैसे, आकाश-में नीलिमा, रस्सीमें सर्प अनन्त स्वयं-प्रकाश सत्तामें भिन्न-भिन्न पदार्थोंका भेद नहीं है। ये केवल प्रतीत होते हैं, केवल दीखते हैं, अतः मिथ्या हैं। संसारकी सब वस्तुएँ, व्यक्ति एवं क्रियाएँ दीखती हैं, पर हैं नहीं, क्योंकि अपने अभावके अधिकरणमें भासमान हैं।

जो वस्तुओंके द्वारा सुख चाहते हैं, वे भ्रममें हैं। जो वृत्ति-परिवर्तन करके दुःख दूर करना चाहते हैं, वे भी ठीक मार्गपर नहीं हैं। जो वृत्ति रोककर दुःखसे बचना चाहते हैं, वे भी असफल रहेंगे। अतः इनसे भिन्न मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। संसारमें वस्तुएँ हैं, क्रियाएँ हैं, वृत्तियाँ हैं और वृत्तिका अभिमान है कि 'मैं' सुखी, 'मैं' दुःखी। वस्तुओंका आना-जाना तो प्रारब्धजनित हो सकता है। वृत्तिमें सुखाकारता और दुःखाकारता भी प्रारब्धसे हो सकती है; किन्तु अभिमान प्रारब्धजन्य नहीं है। यह वस्तु 'मेरी' है, यह 'मेरी' नहीं; 'मैं' सुखी हूँ या 'मैं' दुःखी हूँ—यह अभिमान अविद्याजनित है।

यदि संसारकी कोई वस्तु प्रारब्धके कारण 'मेरी' होती तो शास्त्र अभिमानको अविद्या या अविवेकजन्य नहीं कहता। वस्तुका मिलना न मिलना एक बात है; किन्तु उसे 'मेरी' मानना दूसरी बात है। किसी वस्तु या व्यक्तिमें मेरापन करना अविवेक है, यह सभी दर्शन मानते हैं। अविवेकका अर्थ है नासमझी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः समझदारी है 'मेरापन' छोड़ देना। यह शरीर भी 'मेरा' नहीं; क्योंकि न हमारे चाहनेसे यह उत्पन्न हुआ न इसकी मृत्युमें हम स्वतन्त्र हैं। संपूर्ण दुःख मेरा माननेसे है। मेरा मानना छोड़ दो, दुःख नहीं रहेगा। 'मेरा' कुछ है ही नहीं। जैसे शरीर मेरा नहीं, वैसे ही श्वास, मन, चित्त, बुद्धि भी मेरी नहीं। इन्हें अविवेकसे हम मेरा मानते हैं।

आप नहीं जानते कि मन अगले क्षण क्या संकल्प करेगा और कहते हैं कि मन मेरा है। मनकी स्फुरणाएँ, तरंगें मेरी हैं, यह व्यक्ति अविवेकसे ही मानता है। उनपर उसका कोई नियन्त्रण, स्वत्व नहीं होता। समाज-संस्कारके अनुसार व्यक्तिके संस्कार बने हैं और वह मानता है कि यह मेरा संस्कार है। वंशपरम्परासे संस्कारकी धारा प्रवाहित हो रही है। वह अपने प्रवाहरूपमें तुम्हारे अन्तःकरणमें आयी तो तुमने उसे मेरा मान लिया।

वस्तुतः यह सुख एवं दुःखकी वृत्तियाँ अन्तःकरणमें होती हैं। इसका स्वामी 'मैं' नहीं हूँ। इनको लाने, रोकने तथा हटानेवाला 'मैं' नहीं हूँ; क्योंकि मेरी इच्छासे न ये आती न रुकती और न जाती हैं। मुझ अनन्त महासागरमें ये तरंगें उठती हैं, टकराती और शान्त होती हैं। इनका न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता। इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः इन तरंगोंकी कोई सत्ता नहीं है। ये ज्ञानकी तरंगें हैं अर्थात् प्रतीतिमात्र हैं। मनमें जो बात आती है वह सामाजिक संस्कारसे, भौगोलिक परिस्थितिसे या अन्य बाह्य कारणोंसे आती है हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

विचार करनेपर अपना आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनोंसे विलक्षण है और वही विश्व-तैजस-प्राज्ञ भी है। यहाँ विलक्षणका अर्थ विश्व-तैजस-प्राज्ञसे भिन्न कोई चौथा तत्त्व नहीं। यह गणना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो मायाकी है। एक ही तत्त्व, एक ही आत्मा है जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों है। अतः विलक्षणका अर्थ यह कि आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ बनता नहीं, बना प्रतीत होता है। जैसे कोई रस्सी कभी सर्प, कभी माला, कभी डण्डा प्रतीत हो किन्तु वस्तुतः वह न सर्प है, न डण्डा है, न माला है। वह तो इनसे विलक्षण है। रस्सी चौथी नहीं हो गयी। इसी प्रकार अपनेको सर्वातीत, सर्वस्वरूप जान लेना ज्ञान है। हम सबके साक्षी हैं; किन्तु हममें सब नहीं है। हम सबके प्रत्यायक हैं और सबसे रहित हैं। हम विश्वात्माके रूपमें सर्वरूप हैं, तैजसके रूपमें सबके प्रकाशक हैं, प्राज्ञलय रूपमें सबके स्थान हैं। अतः हम सब भी हैं और सब रहित भी, सर्व-साक्षी भी हम हैं और हम इन सबसे विलक्षण भी हैं।

ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो गयी। अपनेको परिच्छिन्न मानना मिट गया।

श्रुति कहती है कि ज्ञान होनेपर हर्ष-शोक त्याग देता है। दुःखका अन्त हो जाता है। सब पाश छिन्न हो जाते हैं। मृत्युका अतिक्रमण हो जाता है।

जहाति त्याग देनेका अर्थ नाश नहीं होता, **तरति** पार होने-का अर्थ भी नाश नहीं होता। जैसे सर्पने केंचुल त्याग दी या जैसे कोई गंगा पार हो गया। इसका अर्थ है कि वह तटस्थ हो गया। सुख-दुःख भासता है और यह सुख-दुःख वाला 'मैं' हूँ, यह भ्रान्ति उसकी मिट गयी। लेकिन जबतक मनुष्य शरीर है, तबतक प्रिय-अप्रियका नाश नहीं हो सकता।

अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।

जब शरीर रहित होगा, तब प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करेंगे। इसका अर्थ है कि जो शरीररहित है, उसको सुख-दुःख नहीं है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो शरीरसहित है, उसमें सुखाकारता-दुःखाकारता है। अब वेदान्त विचारसे तुम्हारा अपने सम्बन्धमें क्या निश्चय है? तुम शरीर-सहित हो या शरीररहित? वस्तुतः शरीररहित; किन्तु व्यवहारमें शरीरसहित—यह उत्तर होगा। इसका प्रतिफल है कि तुम वस्तुतः सुख-दुःख रहित हो; किन्तु प्रतीतिमें, व्यवहारमें सुख-दुःख युक्त हो। जहाँ शरीरको स्वीकार करोगे, सुख-दुःख स्वीकार करना होगा। अपनेको अस्थि, चर्म, मांस तो स्वीकार करो और सुख-दुःख स्वीकार न करना पड़े, यह सम्भव नहीं।

सुख-दुःख वास्तवमें कोई वस्तु नहीं, पदार्थ नहीं, केवल कल्पना है। अतः प्रथम दुःख अविद्या, अविवेक, अज्ञान है। अविद्याके कारण परिच्छिन्नमें अहंकार कर लेना द्वितीय दुःख है। इस अहंकारके कारण किसीसे राग हो जाना यह तृतीय दुःख है। अपने रागके विरोधियों एवं बाधकोंसे द्वेष होना, यह चतुर्थ दुःख है। शरीरको 'मैं' मानकर मरनेका भय पञ्चम दुःख है। **अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।—योगदर्शन**

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, यही पांच क्लेश हैं। अतः जबतक हम इन्हें सत्य मानकर इनके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं तबतक दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी।

आत्माके स्वरूपको जान लेनेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, यह बात श्रुति कहती है। अपने आपको परिच्छिन्न समझ लिया है, अब इस नासमझीको दूर करके अपनेको ब्रह्म-अपरिच्छिन्न समझना, यह ज्ञान है। इस ज्ञानसे अविद्या दूर हो जायगी और तब अविद्याके कारण जो भय, दुःख, शोक, मोहादि हैं, उनसे छुटकारा मिल जायगा। आत्मतत्त्वका यह ज्ञान ऐसा भी नहीं है कि इसे समझा न जा सके। तुरीय-तत्त्वको अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मरूपमें जाननेमें कोई विघ्न नहीं; क्योंकि समस्त उपनिषद् 'यह आत्मा ही ब्रह्म है,' इस प्रकारका प्रतिपादन करते हैं।

उपनिषदोंमें कर्म, उपासना तथा योगाभ्यासका भी प्रतिपादन हैं; किन्तु उसका भी अन्तिम तात्पर्य ज्ञानमें ही है। श्रुतिमें कर्म, उपासनादिका प्रतिपादन क्यों है, यह विचार करने योग्य है। हमारा जीवन श्रुतिविहित आचारसे प्रारम्भ नहीं होता है। हम ऐसे बहुतसे कर्म करते हैं जिनमें हिंसा है, कामना है, असत्य है तथा और भी ऐसी क्रियाएँ हैं जो नहीं करनी चाहिए। अतः हमारे जीवनको नियन्त्रित करनेके लिए, हमें उचित पथपर रखनेके लिए कर्मशास्त्रकी आवश्यकता पड़ी। हमारे व्यक्तिगत जीवनको नियन्त्रित करनेके लिए कर्मशास्त्र-धर्मशास्त्र हैं। यह कर्म विहित है, यह निषिद्ध है—यह विधान धर्मशास्त्र कहता है। इस प्रकार मनके आदेशपर अंकुश रखनेका आदेश धर्मशास्त्र देता है और हमें त्यागकी ओर अग्रसर करता है। धर्मका प्रयोजन निवृत्तिकी ओर उन्मुख करनेमें है।

हमारे कर्मकी मर्यादा होनी चाहिए; क्योंकि यदि हम मर्यादा-हीन आहार-आचार रखने लगें तो शरीर रोगी हो जायगा और समाजमें परस्पर भयानक कलह होने लगेगा। हम दूसरोंकी वस्तु छीनेंगे, उन्हें तंग करेंगे तो वे हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार करेंगे। अतः जैसे कर्मकी मर्यादा अपेक्षित है, वैसे ही संकल्प-विकल्पको भी मर्यादामें रहना चाहिए। अमर्यादित मनोराज्य मनुष्यको सदा अशान्त रखता है और इससे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। हमारे मनको नियन्त्रित करनेके लिए, हमारे संकल्प-विकल्पको मर्यादित करनेके लिए उपासनाशास्त्र आवश्यक है। मन निरन्तर भोगके, छल-कपटके, हिंसाके संकल्प करता रहे तो आगे वैसी ही क्रिया होने लगेगी। क्रिया न भी हो तो संकल्पका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रभाव भी औरोंपर अज्ञात रूपसे कुछ पड़ता ही है। मन ठहरा स्वभावसे चंचल। अतः उसे नियन्त्रित करनेके लिए उपासना आवश्यक हुई। मनमें शुद्धका, प्रियका चिन्तन होना चाहिए। यदि हम भोगका, बाह्य पदार्थोंका चिन्तन करते हैं तो इन्द्रियोंकी भोगोन्मुख प्रवृत्ति होगी। अतः यह अशुद्ध चिन्तन होगा। अतः हमें हमारे मनमें ऐसे प्रिय इष्टका चिन्तन करना चाहिए जिससे इन्द्रियोंकी भोगमें प्रवृत्ति न हो। हम वहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख बनें। बाहरसे हमारा वैराग्य होगा और चित्तवृत्ति एकाग्र होगी। इस प्रकार उपासना भी निवृत्तिकी ओर ले जानेके लिये है।

जीवनमें योगकी भी आवश्यकता है। योगका अर्थ है चित्त-वृत्तिको शान्त कर देना। मनको विश्राम मिलना चाहिये। निरन्तर विविध चिन्तनमें ही मन लगा रहे तो व्यवहारमें भी ठीक कार्य नहीं हो पाता। ठीक कार्य, ठीक निर्णयके लिए एकाग्रता आवश्यक होती है। योग इस एकाग्रताके सम्पादनके लिये है।

अब हम देखते हैं कि आत्मतत्त्वका विचार करनेके लिये हमें धर्मशास्त्र, उपासना और योगकी आवश्यकता है; क्योंकि कर्म और मन नियन्त्रित होगा, तब परमात्माका विचार हो सकेगा। अतः उपनिषद्में धर्मका वर्णन जीवनकी शुद्धिके लिये, उपासनाका वर्णन मनकी शुद्धिके लिए तथा योगका वर्णन बुद्धिको विश्राम देनेके लिए है। हम उनके द्वारा सम्पादित शुद्ध जीवन, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धिसे परमात्माकी ओर अग्रसर होते हैं। अतएव उपनिषद्में जो कर्म, उपासना, योगका वर्णन है उसका भी तात्पर्य आत्मज्ञानमें ही है।

उपनिषद्में अन्नमय, प्राणमय आदि कोशोंके रूपमें शरीरका वर्णन है। यह वर्णन 'त्वं' पदार्थका ज्ञान करानेके लिए है। इसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार 'तत्' पदार्थकी उपाधि संसारका भी वर्णन है। कहीं 'तत्' पदार्थमें स्थित होनेके लिए उपासनाका वर्णन है और कहीं 'त्वं' पदार्थमें स्थित होनेके लिए योगका—समाधिका वर्णन है। इस प्रकार समस्त उपनिषदोंका प्रयत्न 'तत्' पदार्थके शोधन अथवा 'त्वं' पदार्थके शोधनके लिए है। मन संसाराकार भी रहे और ब्रह्माकार भी यह तो सम्भव नहीं है। अतः संसारसे मनको हटानेके उपाय उपनिषदोंमें वर्णित हैं।

जब हम विचार करते हैं कि संसार कार्य है और इसका कोई एक तत्त्व है, तब कारणका विचार करनेपर मन कार्यसे हट जाता है। कारणके विचारसे भेद-दृष्टि नष्ट हो जाती है। जब हम चेतनका विचार करते हैं तो जड़ता दूर हो जाती है। जब कारण रूप सत्ता और द्रष्टारूप सत्ताके एकत्वका विचार करते हैं, तब इसका फल यह होता है कि मृत्युका भय दूर हो जाता है। क्योंकि सत्स्वरूप चेतन अविनाशी है। इस एकत्वके बोधमें ही समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य है।

यह बात पहले आ चुकी है कि जो एकत्वके प्रतिपादक हैं, उन्हें महावाक्य कहते हैं और शेष सब वाक्य हैं। जैसे **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यह वाक्य है और **तत्त्वमसि** महावाक्य है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यह ब्रह्मको समझानेवाला वाक्य है। सत्य वह जिसकी सत्ता सदा एक-सी रहे। युग, मन्वन्तर, कल्प आते-जाते हैं, सृष्टि-प्रलयका क्रम चलता रहता है; किन्तु इस नाम रूप, क्रियाके समस्त परिवर्तनोंके होते रहते भी वह परमार्थ-सत्ता सदा एक-सी रहती है। सत्य कहनेसे शून्यवादका निषेध हो गया। वह शून्य नहीं, सत्य है। सत्य है, पर जड़ नहीं—यह सूचित करनेके लिए 'ज्ञानम्' कहा गया। सत्ता जड़ नहीं चेतन है। वह चेतन-सत्ता भी क्षणिक नहीं है सत्य है, वह परिच्छिन्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी नहीं है—यह सूचित करनेके लिए 'अनन्तम्' कहा। अनन्त अर्थात् देश, कालके परिच्छेदसे रहित। वह देश, कालके परिच्छेदसे रहित अद्वितीय ज्ञानरूप ब्रह्म है। यह ब्रह्मका निर्देश तो हो गया; किन्तु वह अन्य है या नहीं, यह भ्रान्ति रह गयी। समस्त दृश्यमान पदार्थोंकी एक सत्ता है। एक ही सत्तामें ये समस्त भेद प्रतीत हो रहे हैं।

सदायतनाः सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठाः।

इनका मूल सत्य है और जहाँ ये लय होंगे, वह भी सत्य है अर्थात् सत्य एक ही है। उसीमें नाम-रूपात्मक प्रपंच प्रतीत हो रहा है और वह प्रत्यक्चैतन्य अपना आत्मा ही है। **तत्त्वमसि** वह तुम हो। यह महावाक्य हो गया। जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तुम अन्य समझ रहे थे, वह तुम्हीं हो। तुम इस शरीरमें सीमित या अणुपरिमाण नहीं हो। जो देशसे अपरिच्छिन्न परिपूर्णतम तत्त्व है, जो कालसे अपरिच्छिन्न अविनाशी है, जो इन पृथक्ताओंमें भी पृथक् न होकर अखण्ड है, जिसमें अनेकत्व सर्वथा नहीं है, जो जड़ नहीं, चेतन है; वह तुम हो।

जो सांसारिक लोग हैं वे क्षुद्र और महान्का अन्तर शक्तिके कम-अधिक होनेसे, सामग्रीके कम-अधिक होनेसे, बुद्धिके कम-अधिक होनेसे या क्रियाके कम-अधिक होनेसे मानते हैं। जिसमें बहुत शक्ति है, बहुत बुद्धि है, बहुत सामग्री पास है या बहुत क्रिया करता है वह महान् और कम शक्ति, कम बुद्धि, कम सामग्री, कम क्रियावाले क्षुद्र। यही बात लोग महात्माओंके सम्बन्धमें सोचते हैं। ईश्वरके सम्बन्धमें भी इसीप्रकार लोग सोचते हैं। ईश्वर पूरे विश्वका निर्माता है, सर्वज्ञ है, अनन्त शक्ति है, इसलिए महत्तम है। लेकिन विचारकी यह पद्धति भ्रान्त है। शक्तिका कम-अधिक होना, बुद्धिका कम-अधिक होना, वृत्तिकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिरताका कम-अधिक होना, यह महत्ताके निर्णायक नहीं हैं। वास्तविक मूल्याङ्कन मूल धातुका होना चाहिए। मूल्य इसका नहीं कि आभूषण कैसा गढ़ा गया, मूल्य इसका कि स्वर्ण कितना शुद्ध है। इसीप्रकार महावाक्यके अर्थका ज्ञान सत्ताकी दृष्टिसे होता है। उसके ज्ञानमें क्रिया, बुद्धि, शक्ति आदिके तारतम्यका विचार नहीं किया जाता।

महावाक्यका अर्थ लक्षणसे होता है। लक्षणका अर्थ है संकेत। जहाँ किसी बातकी संगति शब्दोंके सीधे अर्थसे नहीं बैठती, वहाँ समझा जाता है कि यहाँ शब्द कोई संकेत कर रहे हैं। इसमें भी 'जहत्' 'अजहत्' और 'जहदजहत्' लक्षणा होती है। जहत् लक्षणा वहाँ होती है जहाँ शब्दके मुख्य अर्थका परित्याग करके उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थका ग्रहण होता है। जैसे आपने किसी चश्माधारी पुरुषको पुकारा : 'ओ चश्मा!' यहाँ आपका तात्पर्य चश्मेको पुकारना नहीं चश्माधारी पुरुषको पुकारना है।

अजहत् लक्षणा वह है जहाँ शब्दके मुख्य अर्थका परित्याग किए बिना उससे अतिरिक्त अर्थका भी बोध हो जाय। जैसे— किसीसे भोजनका आग्रह करते हुए आप कहें कि 'दो ग्रास खा लीजिए!' यहाँ तात्पर्य 'दो ग्रास' में नहीं है। तात्पर्य तो भर पेट खानेमें है। इसमें कहे हुए दो ग्रास भी आगये और दूसरे भी अनेकों ग्रास अन्तर्हित हैं।

जहत्-अजहत् लक्षणा वह है, जिसमें कुछ छोड़ा गया हो और कुछ न छोड़ा गया हो। जैसे आपने एक स्वर्णके कड़ेको तोड़कर हार बनवा लिया। अब अपने मित्रको हार दिखाकर बोले : 'यह मेरे हाथका वही कड़ा है।' इसमें कड़ेका नाम-रूप तो छोड़ दिया गया और कड़ेमें जो स्वर्ण था, वही है—यह ले लिया गया। इसीको 'भागत्याग लक्षणा' भी कहते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब इस दृष्टिसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका अर्थ समझना चाहिए। जैसे जो कड़ा था, वह हार नहीं और जो हार था, वह कड़ा नहीं। दोनोंके नाम, एवं व्यवहार भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु जो कड़ेमें स्वर्ण था वही हारमें है। इस अर्थमें कड़ा और हार एक ही हैं। इसी प्रकार जो 'तत्' है वह 'त्वं' नहीं और जो 'त्वं' है वह 'तत्' नहीं होगा। दोनोंके देश, नाम, रूप, क्रियामें अन्तर होगा; किन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। इसीको भाग-त्याग लक्षणा कहते हैं।

उपनिषद्की कथा है कि श्वेतकेतु पिताकी आज्ञासे बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके समीप गये। वहाँ बारह वर्ष तक रहकर समस्त वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके जब लौटे तो आकर उन्होंने पिताको प्रणाम नहीं किया। पिता समझ गये कि इसे अपनी विद्याका गर्व हो गया है। शास्त्रके अध्ययनसे जहाँ परिच्छिन्नता-का अभिमान दूर होना चाहिए, वहाँ वह बढ़ गया है। अतः उन्होंने पूछा : 'श्वेतकेतु! जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, उसे तुमने जान लिया या नहीं?' श्वेतकेतुको स्वीकार करना पड़ा कि उस तत्त्वका ज्ञान उसे नहीं है। उसका अहंकार दूर हो गया। पिताने उपदेश दिया कि कारण-वस्तुको जान लेनेसे उसके सब कार्योंका ज्ञान हो जाता है। हमको कारण-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

यह सृष्टि जब नहीं थी, इसके नाम-रूप पृथक्-पृथक् नहीं हुए थे, उस समय एकमात्र 'सत्' था। अर्थात् सृष्टि असत्से नहीं हुई। जगत्का मूल शून्य नहीं है। अन्तमें प्रलयकालमें भी यह सृष्टि सत्में लीन हो जाती है। अतः सम्पूर्ण सृष्टि वही 'सत्' है। अन्नका मूल जल है और जलका मूल तेज है। अन्नसे मन बनता है, जलसे प्राण बनता है और तेजसे बुद्धि बनती है। इस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्पूर्ण सृष्टिका तत्त्व एक ही है। वह मूल तत्त्व जड़ नहीं, चेतन है।

चेतनसे जगत्की उत्पत्तिकी प्रक्रिया भिन्न है और जड़से जगत्की उत्पत्तिकी प्रक्रिया भिन्न। जहाँ कार्य-कारण समान-जातीय होते हैं वहाँ परिणाम होता है; किन्तु जहाँ दोनों विजातीय होते हैं वहाँ विवर्त्त होता है। संसार दीखता जड़ है और इसकी मूलसत्ता चेतन है। चेतनसे, ज्ञानसे जड़की उत्पत्ति तो हो नहीं सकती; क्योंकि कोई भी वस्तु परिणामको प्राप्त होनेपर भी अपनी जातिका त्याग नहीं करती। सोनेसे गहना बनता है तो रहता सोनेका ही है। अतः चेतनसे जड़ जगत् परिणामके रूपमें नहीं बना। यह विवर्त्त है। अपने तत्त्वस्वरूपके विरुद्ध या विपरीत भासना-वर्तना विवर्त्त है।

आप देखो कि बचपनसे अब तक आपके शरीरमें कितने युग हुए। बालक, युवा, तरुण, वृद्ध—शरीर कितना बदला; किन्तु 'मैं' में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। शैशवमें जो 'मैं' था, वही अब भी है। 'मैं' वही हूँ, इस अनुभवमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। परिवर्तन केवल उपाधियोंमें हुआ है। चेतनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। दृश्यमें परिवर्तन हुआ और द्रष्टा ज्यों-का-त्यों है।

द्रष्टा ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है। उसमें दृश्य कहाँसे आया, यह विचार करेंगे, तब भेद मिट जायगा। **तत्त्वमसि** महावाक्य यही बतलाता है कि जगत्के मूलमें जो सत् तत्त्व है, जो चेतन-स्वरूप है, अनन्त है, जिसे तुम परोक्ष मान रहे हो, वह दूसरा कोई नहीं, वह तुम्हीं हो। अविचार कालमें स्वीकृत अन्य सत् = चेतन सत्ता विचारकी दृष्टिसे तुम्हीं हो।

तत्त्वमसि तत् अर्थात् ईश्वर। पंचभूतात्मक सृष्टिका ज्ञाता ईश्वर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। इन्द्रियोंके द्वारा जाननेवाला जीव है और बिना इन्द्रियोंके जाननेवाला, करनेवाला, सुखी होनेवाला ईश्वर। जीव है 'त्वम्' इन्द्रियोंके द्वारा जानने, करने और सुखी होनेवाला। इन दोनोंका एकत्व श्रुति बतलाती है, अतः यहाँ भागत्यागलक्षणासे अर्थबोध होगा। यहाँ इन्द्रियोंका कर्तृत्व और बुद्धिका भोक्तृत्व जो 'त्वं' में उपाधि रूपसे आरोपित है और जगत्का कर्तृत्व, ज्ञातृत्व जो ईश्वरमें आरोपित है; इसका त्याग कर देना है। सर्वज्ञता, सर्व-शक्तिमत्तामें माया कारण है। ईश्वरकी उपाधि माया है। समष्टि काल एवं समष्टि कारणवस्तु ईश्वरकी उपाधि है। व्यष्टि शरीर, व्यष्टि काल, व्यष्टि देहकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनमें अहंभाव आत्माकी उपाधि है। इन उपाधियों-को पृथक् कर दो तो एक चेतन रह जाता है। जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों उपाधिसे हैं। उपाधि न हो तो अल्पज्ञता सर्वज्ञता कहाँ? अल्पशक्ति और सर्वशक्ति क्या? तब तो एक शुद्ध चेतन रहेगा। यही बात 'तत्वमसि' महावाक्य द्वारा समझायी गयी है।

तत्वमसि महावाक्यका अर्थ करनेकी अवच्छेदवाद, आभास-वाद तथा दृष्टिसृष्टिवादकी प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। अवच्छेदवाद देशकी उपाधि मानकर पहले अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन और मायावच्छिन्न चेतनका विवेचन करके उनका एकत्व करता है। आभासवाद कार्योपाधिक चेतन और कारणोपाधिक चेतनका विवेचन करके एकत्वका प्रतिपादन करता है। दृष्टिसृष्टिवाद अविचार कालिक और विचार कालिक स्थितिका निरूपण करता है। अविचार कालमें अज्ञानके कारण जो चेतन हम परोक्ष मानते हैं, वह अज्ञानताकी उपाधिसे **तत्पदार्थ** और ज्ञात चेतन ज्ञातताकी उपाधिसे 'त्वं' पदार्थ है। अज्ञानके कारण जिसे हम अन्य मानते थे, वही विचारकालमें अपना स्वरूप है। इस प्रकार वस्तुप्रधान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपाधि आभासवाद, देशप्रधान उपाधि अवच्छेदवाद और काल-प्रधान उपाधि दृष्टिसृष्टिवाद है। इन उपाधियोंके भेदसे प्रक्रियामें भेद है।

तत्त्वमसि इस महावाक्यसे यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें है; क्योंकि उपनिषदोंमें कहीं तत् पदार्थकी उपाधिका निरूपण है, कहीं त्व पदार्थकी उपाधिका निरूपण है, कहीं उपहितका निरूपण है, कहीं शुद्धका निरूपण है। अन्तमें परम तात्पर्य एकत्वमें ही है।

अयमात्मा ब्रह्म इस महावाक्यकी विलक्षणता है कि इसमें 'अयम्' यह प्रत्यक्षके लिए संकेत है। यह आत्मा जो सबके शरीरमें अनुभूत हैं, **अहम् अहम्**के द्वारा ग्रहण किया जानेवाला यह अपना आपा परिच्छिन्न नहीं है। यह ब्रह्म है अर्थात् अप-रिच्छिन्न है, व्यापक है। जितने भेद हैं या हो सकते हैं, जितने विकल्प और इन सम्पूर्ण भेदोंका अधिष्ठान, इन सम्पूर्ण भेदोंका साक्षी तथा इन समस्त भेदोंके अभावसे जिसका संकेत किया जाता है; वह तत्त्व अपना आत्मा है।

इस महावाक्यका विचार करनेके लिए हमें पंचकोशका विचार कर लेना चाहिए। यह हमारा स्थूल देह अन्नमय कोश है इसमें क्रियाशक्ति प्राणमय कोश है, इच्छाशक्ति मनोमय कोश है, स्थूलदेह क्रिया एवं इच्छाका अभिमान विज्ञानमय कोश है और सबकी शान्ति आनंदमय कोश है। इन सबका साक्षी आत्मा है।

अन्नमय कोशके साथ सम्पूर्ण पंचभूतात्मक प्रपंच है। प्राण-मय कोशके साथ सम्पूर्ण समष्टिकी क्रियाशक्ति व्याप्त है। मनोमय कोशके साथ व्यष्टि संकल्प और समष्टि संकल्प विज्ञानमय कोशके साथ व्यष्टि कर्ता और समष्टि कर्ता। आनन्दमय कोशके साथ व्यष्टि भोक्ता और समष्टि भोक्ता है। इन सबका साक्षी दो नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो सकता। साक्षी सदा एक रहता है। जो लोग साक्षी दो मानते हैं, उन्होंने साक्षीके सम्बन्धमें कभी विचार ही नहीं किया है। व्यष्टि और समष्टिका भेद बुद्धिमें है और बुद्धि सुषुप्तिमें लीन हो जाती है उस सुषुप्तिका जो साक्षी है, उसे दो बनानेवाला वहाँ कोई नहीं है।

साक्षीके सम्बन्धमें पाँच बातें ध्यानमें रखनी चाहिए : १. साक्षीका कोई कारण नहीं है अर्थात् उसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उत्पत्ति भी साक्षीसे ही सिद्ध होती है। २. साक्षी कभी दृश्य नहीं होता; क्योंकि दृश्य होगा तो उस दृश्यका कोई द्रष्टा-साक्षी होगा। फिर दो साक्षी हो जायँगे और उनमें एक ही साक्षी रहेगा, एक दृश्य हो जायगा। परस्पर एक दूसरे भी साक्षी नहीं हो सकते; क्योंकि तब परस्पर दृश्य हो जायँगे। ३. साक्षीका कोई कार्य नहीं होता। ४. साक्षीका कोई विजातीय नहीं है अर्थात् जड़ नामकी कोई वस्तु साक्षीसें नहीं है। ५. साक्षीमें कोई अवान्तर भेद नहीं है उसमें कोई स्वगत भेद नहीं है।

साक्षी पूरे देशका साक्षी है। जन्म-मृत्युका साक्षी अर्थात् कालका साक्षी है। जो कुछ प्रतीत होता है, उसका भी साक्षी है। अतः देश, काल, वस्तुमें अपरिच्छिन्न होनेके कारण नित्य, परिपूर्ण, अनन्त, अद्वितीय है। मैं साक्षी हूं, अतः मैं ब्रह्म हूं।

संसारके जितने बन्धन हैं, वे पदार्थोंके हों, प्राणियोंके मोह-जन्य हों, पाप-पुण्यके हों, कर्मके हों या कोई भी हों, सबके सब बन्धन अपनेको परिच्छिन्न माननेसे हैं। **अयमात्मा ब्रह्म** इस महा-वाक्यका विचार करो, मनन करो तो यह परिच्छिन्नताका भ्रम दूर हो जायगा और सब बन्धन स्वतः नष्ट हो जायँगे।

तत्सत्यं स आत्मा।

तत्त्वमसि महावाक्यके समर्थनमें मूल उपनिषद्में जो श्रुति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दी हुई है, उनका उद्धरण भगवान् शंकराचार्यने दिया है। उपनिषद् बतलाती है कि सम्पूर्ण सृष्टिके मूलमें जो वस्तु तत् व्यापक है, वही सत्य है, वही आत्मा है। जिसमें सुषुप्ति और प्रलयके समय संपूर्ण भेद वृत्तियोंका लय हो जाता है और जाग्रत् और सृष्टिके समय जिससे ये सब भेद व्यक्त हो जाते हैं। अहं वृत्तिके उदय होनेपर संसार प्रतीत होता है, और 'अहम्' वृत्तिके लय होनेपर प्रतीत नहीं होता। अतः जिसमें यह 'अहम्' तथा 'इदम्' वृत्तियोंका लय तथा उदय होता है; वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तुम हो—यह बात अनेक प्रकारसे वहाँ (छान्दोग्य उपनिषद्में) समझायी गयी है।

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।

अब यहाँ विचार करना है कि अपरोक्ष किसे कहते हैं। हम जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं, उसमें हमारी इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श जो इन्द्रियोंसे ज्ञात होते हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष कहते हैं। कुछ वस्तुएँ मानस-प्रत्यक्ष होती हैं। हम जिस वस्तुको इन्द्रियोंसे नहीं देख पाते, उन्हें परोक्ष कहते हैं। जैसे स्वर्ग परोक्ष है। लेकिन जिस प्रकाशमें हम पदार्थ देखते हैं, उस पदार्थको देखनेके लिए तो अन्य प्रकाश आवश्यक नहीं है। जैसे घरमें वस्तुएँ हैं; किन्तु अन्धकारके कारण दीखती नहीं है, हमने बत्ती जला दी तो वे दीखने लगीं; किन्तु बत्तीके प्रकाशको देखनेके लिए तो दूसरा प्रकाश आवश्यक है नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियोंको और मनको भी जो प्रकाश देता है उसे देखनेके लिए तो प्रकाश-प्रमाण आवश्यक नहीं है। द्रष्टाको जाननेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। इसलिए द्रष्टा अपरोक्ष है। उसे जाननेके लिए इन्द्रियों या मनकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो वस्तु परोक्ष है, उसे स्वीकार करनेके लिए शास्त्र तथा सत्पुरुषमें श्रद्धा करनी पड़ती है। जैसे स्वर्ग-नरक परोक्ष है। उन्हें हम इन्द्रियोंसे या अनुमानसे नहीं जान सकते। पाप-पुण्य परोक्ष हैं। इन्हें हम शास्त्रपर श्रद्धा करके मानते हैं। लेकिन हमारे बुद्धि है, मन है यह बात श्रद्धा करनेकी नहीं है, यह अपरोक्ष है। मन और बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी मन बुद्धिके द्वारा देखा जाता है। और बुद्धिको द्रष्टा देखता है, अतः मन-बुद्धि भी द्रष्टाके द्वारा अपरोक्ष होते हैं; किन्तु द्रष्टाको किसके द्वारा आप देखेंगे? अतः द्रष्टा साक्षात् अपरोक्ष है। अपने आपको देखनेके लिए किसी प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है। इसमें विश्वास करने, श्रद्धा करनेकी भी बात नहीं है; क्योंकि यह परोक्ष नहीं है और घटादिके समान प्रत्यक्ष भी नहीं है। यह मन बुद्धिके समान अपरोक्ष नहीं है; क्योंकि वे भी साक्षिभास्य हैं। अतः यह आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। जो साक्षात् देखता है, उसे साक्षी कहते हैं। अपनी सत्ता स्वतःसिद्ध है। इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं।

साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, इसका तात्पर्य यह भी है कि अपना स्वरूप वृत्तियोंसे बाधित नहीं है। ब्रह्माकार वृत्ति रहेगी तब हम ब्रह्म, ऐसा नहीं है। ब्रह्माकार वृत्ति केवल एक बार अज्ञानकी निवृत्तिके लिए आवश्यक है। जैसे, जब घटाकार वृत्ति होती है तब पटाकार नहीं होती, इसी प्रकार सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति होगी तब ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होगी; किन्तु यह न होनेसे हम ब्रह्म नहीं होंगे; ऐसा नहीं है। सुखाकर और दुःखाकार वृत्तियाँ आती हैं; किन्तु बाधित हैं। साक्षात् अपरोक्षका अर्थ मन या बुद्धिके द्वारा अपरोक्ष नहीं, बल्कि मन-बुद्धि निरपेक्ष होकर बिना वृत्तिके भी अपरोक्ष है।

अज्ञान है तब उसकी निवृत्तिके लिए ब्रह्माकार वृत्ति अपेक्षित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। ब्रह्मको प्रकाशित करनेके लिए वृत्ति अपेक्षित नहीं है। जैसे अज्ञान कल्पित है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी कल्पित है। कल्पित ब्रह्मज्ञानसे कल्पित अविद्याकी निवृत्ति होती है। वस्तुतथ्यमें ज्ञान-अज्ञानका भेद नहीं है। इसीलिए वह साक्षात् अपरोक्ष है।

सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

जिसको हम दृश्य कहते हैं; वाह्य कहते हैं, तत्त्वकी दृष्टिसे वह ब्रह्म है। तत्त्वमें वाहर-भीतरका भेद नहीं है। केवल चमड़ेने वाहर-भीतरका भेद किया है। इस शरीरके ऊपर जो चर्म है, उसके भीतरको आप भीतर और उस चर्मके वाहरको वाहर मानते हैं। यह वाहर-भीतरका भेद अविचारपूर्ण है।

तत्त्वकी दृष्टिसे जहाँ 'तत्पदार्थ' और 'त्वंपदार्थ'का भेद करना पड़ता है वहाँ भी यह भेद उपासककी दृष्टिमें है। इसलिए उसकी दृष्टिके अनुसार उसे समझानेके लिए विभाजन किया जाता है। 'तत्पदार्थ पर दृष्टि रखनेवाला उपासक है और 'त्वंपदार्थ'पर दृष्टि रखनेवाला योगी। जहाँ 'तत् पदार्थ'पर दृष्टि है, वहाँ भक्ति और जहाँ 'त्वंपदार्थ'पर दृष्टि है, वहाँ आत्मरति है। लेकिन वस्तु सत्यमें तो 'तत्' तथा 'त्वं' एक है। अतएव भगवद्रति एवं आत्मरति भी एक ही है। विश्व भगवान् और भगवान् विश्व है।

आत्मैवेदं सर्वम्।

सब कुछ आत्मा ही है। सब मैं ही हूँ। परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है और आत्मा-परमात्मा दो नहीं है। अतएव सम्पूर्ण उपनिषदोंका अद्वितीय ब्रह्मसे अभिन्न आत्मतत्त्वके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसका वर्णन अबतक किया गया है कि सब आत्मा है, वही सर्वरूप है, वह केवल परमार्थ रूप नहीं है। परमार्थ रूप भी वही है। रस्सीमें जहाँ सर्पकी प्रतीति है, वहाँ रस्सी और सर्प दो वस्तु नहीं है। अज्ञानीको जो सर्प दीख रहा है, ज्ञानीको वही रस्सी दीख रही है। वह रस्सी ही अपनेमें प्रतीयमान सर्प भी है। इसी प्रकार यह आत्माके जो चार पद हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय तथा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय; इनमेंसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—विश्व, तैजस, प्राज्ञ अपरमार्थ रूप हैं। इन रूपोंमें भी है तो आत्मा ही; किन्तु ये आत्माके अपरमार्थ रूप हैं। यह रूप परिवर्तनशील हैं। परमार्थ रूप=साक्षी अधिष्ठान परिवर्तित नहीं होता। वह नित्य रूप है।

यह अपरमार्थ रूप अविद्याकृत है अर्थात् स्वरूपको न जाननेके कारण सत्य रूपमें प्रतीत हो रहा है; जैसे रस्सीमें सर्प या सीपमें चाँदी। यह तीनों पाद ऐसे हैं कि इनमें कार्य-कारणभाव है। सुषुप्ति एवं प्राज्ञ बीजावस्था है, कारणावस्था है और स्वप्न-जाग्रत्-तैजस, विश्व ये अंकुरावस्था हैं। इनका निरूपण हो चुका है।

अब अगले मन्त्रमें उस तत्त्वका प्रतिपादन **नान्तःप्रज्ञम्** से करते हैं जिसमें बीजात्मक कार्य-कारणभाव नहीं है। वह परमार्थ स्वरूप है। वह रस्सीके समान मूल वस्तु है,। रस्सीमें प्रतीत होते सर्पके समान उसमें जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—विश्व, तैजस, प्राज्ञ प्रतीत होते हैं, उनके निराकरण द्वारा उस मूल वस्तुका अब अगले मन्त्रमें निरूपण करेंगे।

यह बीजांकुरभाव परमार्थरूप नहीं है। हमें स्वप्नमें दीखता है कि घड़ा है और प्रतीत होता है कि उस घड़ेको कुम्हारने मिट्टीसे बनाया है। लेकिन अब यदि उस घड़े, मिट्टी, कुम्हारके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परमार्थ रूपको देखें तो वे स्वप्नद्रष्टासे भिन्न कुछ नहीं है। द्रष्टासे पृथक् हम स्वप्नकी सत्ताका निश्चय करते हैं तब भ्रान्त होते हैं। स्वप्नमें दीखनेवाली वस्तुओंको ही परमार्थ मान लें तब भी भूल करते हैं। सत्य यह है कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थ द्रष्टासे भिन्न नहीं हैं। वे पदार्थ सत्य नहीं हैं और द्रष्टा उन पदार्थोंसे विलक्षण है। स्वप्नमें जो दीखता है, जो नहीं दीखता, जो देखनेवाले हैं, जो दीखनेवाला है—सब द्रष्टा ही है।

ऐसे सर्वस्वरूप एवं सबसे विलक्षण द्रष्टा आत्माका निरूपण किस प्रकार किया जाय? पहले स्पष्ट कर आये हैं कि उसका निरूपण निषेधके द्वारा ही हो सकता है। विधिमुखसे अर्थात् 'यह ऐसा है' इस प्रकार आत्माका वर्णन नहीं हो सकता। अतएव तीनों स्थानोंके निराकरण द्वारा उस आत्मतत्त्वका निरूपण करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सातवाँ मन्त्र

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिव-मद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्य अन्तः-प्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः ।

न ; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत् त्र्यवस्थ-स्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्, 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६.८.१६) इतिवत् । यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीय-मन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा । रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तः-प्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञानप्रमाण-समकालमेव आत्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्, इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम् । रज्जुसर्प-विवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफलं सति रज्ज्वधिगमस्य ।

येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसम्बन्धवियोगव्यतिरेकेण अन्यतरावयवेऽपि छिदि-र्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात् ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिव छेद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम्।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः। अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति—'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (माण्डू० का० १.१८) इति। ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्। अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद् द्वैतानिवृत्तिः। तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम्।

नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः, बीजभावाविवेकरूपत्वात्। न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत् प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते। ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत् सर्वत्राव्यभिचाराद् ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम्।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न। सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात्, 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ०उ० ४ ३.३०) इति श्रुतेः।

अत एवादृष्टम्। यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अत एव अचिन्त्यम्। अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः। एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थानेऽत्रेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम् । अथवा एक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्, 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० उ० १.४.७) इति श्रुतेः ।

अन्त प्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते । अत एव शान्तमविक्रियम्, शिवं यतोऽद्वैत भेदविकल्परहितम् । चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते; प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा 'अदृष्टो द्रष्टा' (बृ० उ० ३.७.२३) 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ उ० ४.३.२३) इत्यादिभिरुक्तो यः । स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या, ज्ञाते द्वैताभावः ॥ ७ ॥

तुरीयका स्वरूप

वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है । उसीको ब्रह्मज्ञानी महात्मा अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म-प्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव, अद्वैत, तुरीयतत्त्वके रूपमें जानते हैं । वही आत्मा है । वही जानने योग्य है ।

प्रश्न उठाया कि प्रारम्भमें आत्माके चार पाद होनेका वर्णन किया और उनमेंसे तीन पादोंका निरूपण भी कर दिया, तब वर्णित तीन पादोंसे भिन्न, तीनोंसे विलक्षण जो है, वही चतुर्थ है; यह बात सिद्ध हो गयी । उसके वर्णनके लिए **नान्तःप्रज्ञ** आदि निषेधरूप वर्णनकी आगे क्या आवश्यकता है ? यह विस्तार निरर्थक है या नहीं ? यह विस्तार निरर्थक नहीं हैं; क्योंकि जैसे सर्पादि विकल्पका प्रतिषेध कर देनेसे रज्जुके स्वरूपकी प्रतिपत्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो जाती है उसी प्रकार तीनों अवस्थाओंमें स्थित आत्माके तुरीयत्वका प्रतिपादन करना है, तत्त्वमसि महावाक्यके समान।

यह जो तुरीय या चतुर्थ कहा गया है, वह तीनों अवस्थाओंसे भिन्न कोई चौथी अवस्था नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा इनके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञको छोड़ देनेपर कोई चौथी तुरीयावस्था होती होगी—ऐसी धारणा निर्मूल है। यह ध्यान अथवा समाधिसे प्राप्त होनेवाली कोई विशेष स्थिति नहीं है।

जैसे पंखेको चलानेवाली, बल्बमें प्रकाश देनेवाली, रेडियोमें शब्द देनेवाली, हीटरमें गर्मी देनेवाली शक्ति एक ही है—इसे समझ लेना आवश्यक है; किन्तु इसे दुहराना, इसकी आवृत्ति करना आवश्यक नहीं। इसी प्रकार विभिन्न शरीरोंमें जो शक्ति है, वह एक शक्ति है। वह शक्ति जिसमें आरोपित है, उसका जो अधिष्ठान है, वह चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, वही अपना आपा है। यह बात आवृत्ति करनेकी नहीं, समझनेकी है।

इन विभिन्न मशीनोंको चलानेवाली शक्ति या विद्युत् एक है और मशीनें पृथक्-पृथक् हैं, यह बात भी नहीं है। आज विज्ञान इस बातको मान चुका है कि सभी पदार्थ परमाणुओंसे बने हैं और परमाणु ढूंढ़नेपर केवल शक्ति या विद्युत् रह जाती है। अर्थात् सब पदार्थ शक्तिके ही स्थूलरूप हैं। जो विद्युत् मशीनोंको चला रही है, वही स्थूल होकर मशीन भी बनी हुई है। उदाहरणके लिए एक सेर कोयला ले लीजिये। इस कोयलेको विद्युत्के रूपमें बदला जा सकता है। अर्थात् स्थूलता शक्तिमें परिणत हो सकती है और शक्ति स्थूलतामें।

भावसे पदार्थ और पदार्थसे भाव बनते रहते हैं। वस्तु और शक्ति दोनों द्वन्द्वात्मक हैं। लेकिन यह उदाहरण परिणामवादका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। शक्तिका परिणाम वस्तु और वस्तुका परिणाम शक्ति! लेकिन चेतनका अनुसन्धान करो, जड़का नहीं। अन्य रूपमें तत्त्वका अनुसन्धान करोगे तो वह जड़ हो जायगा। परिणाम जड़में होता है। अतः 'इदं'के रूपमें तत्त्वकी खोज करनेसे जड़ता ही हाथ लगेगी। 'मैं'के रूपमें तत्त्वानुसन्धान करनेपर उसके ज्ञानात्मक होनेमें कभी व्यभिचार नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें जब कहेंगे कि चेतन ही जड़के रूपमें भास रहा है, तब जड़को 'परिणाम' न कहकर 'विवर्त' कहेंगे। जो चेतन है वह जड़ और जो जड़ है, वह चेतन। जड़ और चेतन दो वस्तुएँ नहीं हैं। यह जड़ तो केवल प्रतीत हो रहा है, वस्तुतः है ही नहीं।

जैसे रस्सीमें प्रतीत होते सर्पके विकल्पका निषेध कर देनेपर रस्सीके स्वरूपकी प्रतिपत्ति हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ यह नहीं कहना है कि तीनों अवस्थाओंसे जो परे है, वह ब्रह्म अथवा तीनों अवस्थासे जो पृथक् है वह आत्मा है। कहना यह है कि तुम अभी जो हो, वही आत्मा, वही ब्रह्म है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंमें तुम ब्रह्म हो।

प्रायः लोग नेत्र बन्द करके एक अनन्त, अनादि निर्विशेषकी कल्पना करते हैं और समझते हैं कि यह ब्रह्म है। लेकिन वह ब्रह्म नहीं, ब्रह्मसम्बन्धी मनोराज्य है। यह लम्बाई-चौड़ाई, भेद-अभेद, नित्यता-अनित्यता आदि सब कल्पनाके भीतर हैं। कल्पना मुझमें है। मैं कल्पनाका साक्षी हूँ, अधिष्ठान हूँ। जिसमें कल्पना भास रही है, वह अपना आत्मा है। अतएव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तुम हो ब्रह्म ही। हम जब हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं; तभी, वहीं, वैसे ही ब्रह्म हैं। अतः तीनों अवस्थाओंका वर्णन करके 'यह ब्रह्म नहीं' ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहनेपर तो यह अर्थ होगा कि इन अवस्थाओंका ब्रह्मसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तब ब्रह्म इन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीनोंसे भिन्न एक परोक्ष अवस्था हो जायगी। लेकिन यह ब्रह्म तो तीनों अवस्थाओंमें है, उनका अधिष्ठान है।

ब्रह्म कहनेका तात्पर्य यह है कि 'मैं' को तुम जो एक शरीर-वाला, कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग-नरक जानेवाला परिच्छिन्न समझते हो, वह वैसा न होकर अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, नित्य ज्ञानरूप है। वह 'मैं' जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें है; किन्तु उसमें न जाग्रत् है, न स्वप्न और न सुषुप्ति। आत्मा देहसे विलक्षण है, इसका यह अर्थ नहीं कि देह आत्मासे भिन्न कोई अन्य वस्तु है। जड़-चेतनका विवेक तो प्रारम्भमें जिज्ञासुको समझानेके लिए है। अन्यथा तत्त्व-दृष्टिसे आत्मासे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है। हम जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्तिमें जो कुछ भी देखते हैं, अनुभव करते हैं वह और उसको देखने तथा अनुभव करनेवाला सब आत्मा ही है।

यदि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण आत्मा कोई चतुर्थ अवस्था हो, तो उसे जाननेके लिए कोई द्वार, कोई मार्ग ही नहीं रहता। क्योंकि जो जाग्रत् नहीं है, उसे जाग्रत्में नहीं जाना जा सकता। स्वप्न और सुषुप्ति न होनेसे स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नहीं जाना जा सकता। अतः इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् आत्मा होता तो उसे हम कैसे जानते? शास्त्र भी उसका कैसे निर्देश करते? शास्त्र तो जब निर्देश करेंगे, तब जाग्रत्में ही करेंगे। 'तत्-पदार्थ'का अपरोक्ष नहीं होगा तो 'तत्त्व-मसि' का अर्थबोध कैसे होगा और 'तत्-पदार्थ'का अपरोक्ष तो जाग्रत्में ही होगा। ऐसी अवस्थामें यदि विश्व, तैजस, प्राज्ञ ब्रह्म न हों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ब्रह्म न हों तो शास्त्र भी उसका निर्देश नहीं कर सकेंगे। फिर तो केवल शून्य रहेगा। ब्रह्म है भी, या नहीं यह मानने-जाननेका कोई उपाय नहीं होगा। इसलिए वह आत्म-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्त्व सभी अवस्थाओंमे है। यही द्रष्टा है, यही दृश्य है, यही स्रष्टा है, यही सृष्टि है। द्रष्टा और दृश्यके भेदसे रहित यही है।

जैसे सर्पके रूपमें या हारके रूपमें एक ही रस्सी प्रतीत हो रही है, उसी प्रकार एक ही आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनोंमें प्रतीत हो रहा है। अन्तःप्रज्ञादि विकल्पों-के प्रतिषेधरूप विज्ञान प्रमाणकी उत्पत्तिके साथ ही आत्मामें अनर्थ-प्रपंचकी निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है। एक रस्सी किसीको सर्प दीखती है, किसीको माला और किसीको डण्डा दीखती है। रस्सी अनेक नहीं है। इसी प्रकार संसारमें जो भेद दीख रहा है, वह करणके, इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न होनेसे दीख रहा है। अर्थात् अपनेको इन्द्रियोंवाला मानना ही भेद-प्रतीतिका कारण है। वस्तु सत्यको ठीक समझ लें तो मनुष्यके सब सुख-दुःख उपेक्षणीय हो जायँगे। जबतक रस्सीको सर्प समझेंगे, तबतक वह सर्प भयदायक रहेगा। उसे रस्सी समझ लेनेपर सब भय मिट जायगा।

जिस वस्तुको हम जान लेते हैं, वह यदि दूर हो तो उसकी प्राप्तिके लिए यात्रा करनी पड़ती है। यदि वह समयविशेषमें मिलनेवाली हो तो प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि वह वस्तु अपनेसे भिन्न अन्य हो तो तदाकार वृत्ति करनी पड़ती है। अर्थात् ज्ञात वस्तु अपनेसे भिन्न हो तो उसकी प्राप्तिके लिए श्रम और साधन करना पड़ता है। किन्तु यदि वह अपना स्वरूप है, तब तो वह अप्राप्त नहीं है कि उसकी प्राप्तिके लिए कुछ साधन करना पड़े। वह तो नित्यप्राप्त है। अतएव तुरीय तत्त्वके साक्षात्कारके लिए अन्य किसी प्रमाण अथवा साधनको ढूँढ़ना नहीं चाहिए; क्योंकि रस्सीका ज्ञान होते ही सर्पभ्रमकी निवृत्ति हो जाती है।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछू होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥

अपना स्वरूप सदा अपरोक्ष है। अज्ञानके कारण हमने अपने आपको परिच्छिन्न, दुःखी आदि मान रखा है। ज्ञानके द्वारा जहाँ उसका निषेध हुआ और निषेधका विज्ञान हुआ कि 'अरे! मैं अपनेको ऐसा परिच्छिन्न आदि मान रहा था; किन्तु यथार्थमें ऐसा नहीं हूँ' तो बस, अज्ञानकी निवृत्ति हो जायगी। अज्ञानकी निवृत्तिके साथ अज्ञानके कारण होनेवाले जितने अनर्थ हैं, वे सभी निवृत्त हो जायँगे। अपनेको देह माननेसे ही मृत्युका भय, राग-द्वेष, शोक-मोह, लोभ-तृष्णादि दोष थे। अपने स्वरूपको जान लिया कि 'मैं देह नहीं हूँ, अपरिच्छिन्न आत्मा हूँ' तो देहके सम्बन्धसे होनेवाले सभी दोष तत्काल नष्ट हो गये।

इसलिए तुरीय तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अन्य साधन या अन्य प्रमाणकी खोज करना निरर्थक है। प्रमाणकी खोज क्यों निरर्थक है, यह देखना चाहिए। प्रमाण दो प्रकारके होते हैं: बाह्य और आन्तरिक। बाह्य प्रमाण दूसरोंकी वाणी है और लिखित प्रमाण शास्त्र हैं। लेकिन हमें दूसरेके सम्बन्धमें विचार नहीं करना है, अपने सम्बन्धमें विचार करना है। हमें नेत्रके दृश्य या मनके चिन्त्यका विचार नहीं करना है। हमें तो उसका विचार करना है, जो नेत्रादि इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिका भी द्रष्टा है। अतः उस द्रष्टाको देखनेवाला साक्षी कहाँ हो सकता है? जब किसीने उसे देखा नहीं तब उसके विषयमें किसीका लिखित प्रमाण भी कैसे ठीक हो सकता है?

'मैं हूँ' यह प्रमाणका विषय नहीं है; क्योंकि इसमें किसीको सन्देह नहीं। अपनी सत्ता तो स्वतःसिद्ध है। इसमें प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं। मैं हूं, मैं अपनेको जानता हूं, मैं अपनेको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्यार करता हूं—इन तीनों बातोंसे हम कभी वंचित नहीं होते। अर्थात् हम नित्य सच्चिदानन्द हैं। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। हम तो प्रमाणोंके प्रकाशक हैं।

'मैं सच्चिदानन्द हूं' यह होनेपर भी हमें यह भूल गया कि हम कितने बड़े हैं, हमारी आयु कितनी है और हम अकेले हैं या और भी कोई है। हमने देहको 'मैं' मान लिया और देहके आकारको अपना मान लिया, देहकी आयुको अपनी आयु मान लिया, देहके वजनको अपना वजन मान लिया, देहको लेकर बहुतसे भेदोंकी सत्ता स्वीकार कर ली है। इस प्रकार अपनेको सच्चिदानन्द समझते हुए भी हम परिच्छिन्न समझते हैं। बिना विचार किये ही हम अपने आपको परिच्छिन्न समझ बैठते हैं, सोच-समझकर नहीं। अब विचार करके इस अज्ञानको मिटा देना है। यह निश्चित तथ्य है कि संसारमें यह लम्बाई-चौड़ाई अर्थात् देश, देह तथा वस्तुओंकी आयु अर्थात् काल तथा वस्तुओंका भेद जो प्रतीत होता है, वह बुद्धिकी उपाधिसे ही प्रतीत होता है। जैसे नीले चश्मेको लगाकर देखनेपर सब वस्तुएँ नीली ही दीखती हैं, चश्मा उतार देनेपर फिर वे नीली नहीं दीखतीं, इसी प्रकार अन्तःकरणकी उपाधि दूर कर देनेपर देश, काल तथा वस्तुओंका भेद कुछ भी नहीं दीखता।

एकबार कल्पनासे ही अपनेको ब्रह्म मान लो तो देखो कि जगत् तुम्हें कैसा दीखता है। इस समय हमने अपनेको मनुष्य मान लिया, अतः शास्त्रका अर्थ हमें अपनी कल्पनाके अनुरूप प्रतीत होता है। लेकिन अपनेको ब्रह्म मानते ही दृश्य बदल जायगा। उस अनन्तमें सृष्टिका कोई स्थान नहीं। उसमें न देश है, न काल और न वस्तुभेद।

इस दृश्यमान विश्वके सम्बन्धमें हमारी, मनुष्यकी दृष्टि ठीक है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या भगवान्‌की ? कहना पड़ेगा कि भगवान्‌की। भगवान्‌को कभी देश, काल या वस्तुका भेद नहीं दीखता। उनमें बाहर-भीतर नहीं है। उनके लिए कोई वस्तु परोक्ष नहीं है, यह बात पहले बता आये हैं। अतः भगवान्‌की दृष्टिसे जो तथ्य है, उससे भिन्न हम देखते हैं, तो यह अज्ञानसे देखते हैं। ईश्वरको अन्यका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि ईश्वरमें अन्तःकरणकी उपाधि नहीं है। अन्तःकरणकी उपाधिके बिना अन्यका ज्ञान नहीं होता। ईश्वरको अपनेसे भिन्न कुछ प्रतीत नहीं होता। ईश्वरीय ज्ञान ही सत्य है, अतः ईश्वरसे भिन्न कुछ नहीं है। सब परमात्मा ही है; अतएव परमात्माकी प्राप्तिके लिए हमें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय, इसे छोड़कर अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि साधन या तो शरीरसे शारीरिक कर्मके रूपमें होंगे या मनसे मानसिक कर्मके रूपमें। साधनका कोई कर्ता होगा। कर्ताके करनेपर ही कर्म होंगे। अतः कर्म, उपासना, योगादि सब साधन कर्ताके अधीन हैं। कर्ता जो साधन करता है, उसके फलके सम्बन्धमें श्रद्धा रखनी पड़ती है। श्रद्धामूलक प्रवृत्तिका नाम साधन है। साधन स्वयं आवृत्तिरूप है। अर्थात् क्रिया या भावनाकी बार-बार आवृत्तिका नाम है साधन। आवृत्तिके परिपक्व होनेपर साध्यकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानके सम्बन्धमें बात कुछ अन्य ढंगकी है। ज्ञानके मूलमें श्रद्धा है; किन्तु प्रारम्भ अन्वेषणसे होता है। ज्ञान अपौरुषेय है; क्योंकि यह पुरुषके वशकी बात नहीं कि वह घड़ीको पुस्तक और पुस्तकको घड़ी समझे। ज्ञान पुरुषके अधीन नहीं है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझना ज्ञान है। वह वस्तुस्वरूपके अनुरूप होता है। अज्ञानकी निवृत्तिके अतिरिक्त ज्ञानका दूसरा कोई फल नहीं है। ज्ञानमें आवृत्ति नहीं है। अतः अविद्या-निवर्तक ज्ञानके अतिरिक्त अपने स्वरूपके साक्षात्कारके लिए अन्य साधनकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यकता नहीं। यहाँ साधनका विरोध मैं नहीं कर रहा हूँ। पहले आपको यह निश्चय करना चाहिए कि आप चाहते क्या हैं? आप जो कुछ चाहते हैं, वह कैसे मिलेगा, यह निश्चय करके अगर उसका साधन करेंगे तो वह अवश्य मिलेगा।

एक महात्माने मुझसे कहा : 'जो दृश्य है वह परिणामी है और जो परिणामी है, वह नश्वर है।'

मैंने उनसे हँसीमें कहा : 'आप जिसे परिणामी कहते हैं वह तो नित्य-नूतन है। यही तो सौन्दर्यका स्वरूप है—**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः**। परिणामी होनेसे तो कोई वस्तु त्याज्य नहीं होती। हम प्रतिदिन कितने प्रेमसे भोजन करते हैं; किन्तु जानते हैं कि वह परिणामको प्राप्त होकर क्या बनता है?'

महात्मा बड़े सच्चे थे। बोले : 'अभीतक मैंने यही सोचा था कि जो परिवर्तनशील है, वह दृश्य, जड़ होता है। जड़ अनात्मा है। अतः परिणामी अनित्य है, अनित्य होनेसे मिथ्या है। अब मिथ्या होनेसे त्याज्य नहीं है, इस दृष्टिसे विचार करके कल बतलाऊँगा।'

दूसरे दिन मैं उनके समीप गया तो उन्होंने बतलाया : 'वस्तुतः हम लोग जो विक्षेपको दुःख मानते हैं, यह कल्पना ही है। पागलके, उपासकके मनमें चंचलता होती है। उपासक अपने आराध्यकी लीलाका ध्यान करता है, तब उसका मन लीलामें कितने ही चरित सोचता है। किन्तु न पागलके मनको दुःख है, न उपासकको ही। उपासकको तो इस विक्षेपमें आनन्द ही आता है।'

'सच्ची बात यह है कि यह भ्रम है कि चंचलता दुःखरूप है। यह दुःखरूपता आरोपित है; क्योंकि यह स्फुरण है। वस्तुतः दृश्यमान जगत् स्फुरणसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अतः यह दृश्य भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्म ही है। ब्रह्म सदा आनन्दरूप है। संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु आदि सब आनन्द है। जबतक किसी क्रियामें, किसी वस्तुमें, किसी भावमें दुःखरूपताकी प्रतीति है तबतक ब्रह्मकी पूर्णताका बोध नहीं होता। यह क्रिया ब्रह्म, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार भावमें, क्रियामें भेददृष्टि तबतक गयी नहीं। यह भेद-ज्ञान है, अभेद-ज्ञान है ही नहीं। अतः विचार करनेपर ज्ञात होता है कि केवल स्फुरण होनेसे अन्य वस्तु नहीं हो जाती।'

जो लोग ईश्वरको अन्य मानते हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरकी गोदमें मानते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें ही यह अपना ब्रह्माण्ड है, जिसमें पृथ्वीपर अपना देश, नगर तथा शरीर है। अतः यह शरीर ईश्वरकी गोदमें है। जब ईश्वर अन्य नहीं, मैं हूँ तब अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड और यह शरीर सब अपनी गोदमें—अपने भीतर है। यह अपनेसे भिन्न नहीं। मैं परिपूर्ण हूँ, अतः यह मेरी स्फुरणा है। स्फुरणा जिसमें उठती है, उससे भिन्न नहीं होती और न वह कोई वस्तु बनाती ही है। अतः एक सच्चिदानन्द ब्रह्मसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसे सिद्ध करनेके लिए आपको किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं।

यह आत्मतत्त्व स्वयं अनुभवरूप है। 'अनुभव' शब्दका अर्थ आपने सोचा है? 'अनु' का अर्थ पीछे और 'भव'का अर्थ होना है। जो सबके पीछे हो, उसे अनुभव कहते हैं। जैसे यह पुस्तक है, मैं इसे जानता हूँ—इस प्रकार प्रत्येक वस्तु, भाव, क्रियाके होने-न होनेके पीछे जो ज्ञान है, इसे अनुभव कहते हैं। यह समाधि-विक्षेप, निखिल दृश्य जिसे ज्ञात हो रहे हैं, वह अनुभव है। अतः आत्मा ही अनुभवरूप है।

जैसे सपनेमें जो दृश्य दीखते हैं, वे दृष्टिरूप हैं। वहाँ दृष्टि और द्रष्टाका भेद नहीं होता। जहाँ दृष्टि और विषयका भेद नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता, वहाँ दृष्टि और द्रष्टाका भी भेद नहीं होता। जहाँ घट दृश्य होगा, वहाँ घटका द्रष्टा घटसे पृथक् होगा; किन्तु जहाँ घट नहीं है वहाँ घटका द्रष्टा दृष्टिसे पृथक् नहीं है। अतः जहाँ दृश्यकी अन्यता दूर हुई, बाधित हुई, वहाँ दृश्य भी अपना स्वरूप ही होगा।

इसीसे आत्माको 'अहं-प्रत्ययालम्बन' कहकर समझाते हैं। 'अहं-प्रत्ययालम्बन'का अर्थ है, 'अहं-वृत्ति'का अधिष्ठान। 'अहं'-प्रत्यय है देह। यह 'अहं'का विषय, 'अहं-वृत्ति' द्वारा दृश्य, अनुभाव्य जो है, वह 'अहं-वृत्तिके अधीन होनेके कारण सापेक्ष सत्तावान् है, अनित्य है, विकारी है और है मिथ्या। इस प्रकार विचार करनेपर जब विषयका बोध हो जायगा, तब वृत्ति नहीं रहेगी। वह वृत्ति दृष्टि हो जायगी और दृष्टि द्रष्टासे अभिन्न होती है। अतः जो पहले विषयरूपसे प्रतीत हो रहा था, वह तत्त्वज्ञानके अनन्तर आत्मरूपसे भासता है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें जगत्, जीव, ईश्वर आदिके रूपमें जो कुछ भासमान है वह सब स्थिति, मति, गति, कृति आदि अपना स्वरूप ही है। अतएव अपने स्वरूपकी उपलब्धिके लिए साधनान्तर या प्रमाणान्तर आवश्यक नहीं। रज्जुमें जो सर्पकी प्रतीति है, उसमें केवल अज्ञानकी निवृत्ति अपेक्षित है। अज्ञानकी निवृत्ति ही सर्पकी निवृत्ति है। वहाँ सर्पको दूर करने या रस्सीको जाननेके लिए अज्ञानकी निवृत्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व किसी भी साधनकी आवश्यकता या उपयोगिता नहीं या किसी प्रमाणकी उपयोगिता नहीं है। ऐसा समझनेपर बात उलटी हो जायगी; क्योंकि तुरीयतत्त्वका अधिगम महावाक्यके द्वारा होता है।

महावाक्यके द्वारा भी तुरीय तत्त्वका ज्ञान लक्षणासे होता है। अतः जो अभिधाको पहले नहीं समझ लेगा, उसको लक्षणा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कैसे समझमें आयेगी। जैसे कोई कहे कि 'घड़ा और सकोरा एक हैं' तो पहले यह ज्ञान होना चाहिए कि 'घड़ा' किसे कहते हैं और 'सकोरा' किसे कहते हैं। फिर यह बात समझमें आयेगी कि कहनेवालेका तात्पर्य बड़ेसे घड़े और छोटेसे सकोरेके नाम-रूपको एक बतलाना नहीं है, वह यह कहना चाहता है कि दोनों मिट्टीसे बने हैं। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्यका अर्थ जाननेके लिए पहले 'तत्' 'त्वं' और 'असि' इन शब्दोंका अर्थ जानना होगा और इन शब्दोंके वाच्यार्थको जानना होगा, तब महावाक्यका अर्थ समझमें आयेगा। अतः वाक्यार्थ-ज्ञानके लिए पदार्थ-ज्ञान और पदार्थ-ज्ञानके लिए उपाधि और उपहित दोनोंका ज्ञान आवश्यक है। इसलिए साधनकी उपयोगिता तो है ही।

त्वंपदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए योगकी आवश्यकता होती है। सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेपर यह अनुभव होता है कि मैं असंग द्रष्टा हूँ। इस प्रकार 'त्वं'पदार्थका ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए योग आवश्यक है। 'तत्'-पदार्थका ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए बार-बार 'तत्'-पदार्थके चिन्तनकी आवश्यकता है। इस बार-बार चिन्तनका नाम ही 'भक्ति' है।

जीवकी उपाधि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए धर्मानुष्ठान आवश्यक है। अन्तःकरणमें जो काम-क्रोधादि हैं, उनकी निवृत्तिके लिए, पापवासनाके प्रशमनके लिए धर्माचरण आवश्यक है। अतः धर्म-योग और भक्ति दोनोंमें उपकारी है; क्योंकि काम-क्रोधादिसे दूषित चित्त न तो भगवान्में लगता है और न उसकी वृत्तियाँ ही एकाग्र होती हैं। भगवान्में लगाना हो या वृत्ति-निरोध करना हो तो चित्तकी शुद्धि प्रथम आवश्यक है।

इसी प्रकार अपने स्वरूपके ज्ञानमें भी धर्म उपकारी है। तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिए हमारा जीवन धर्मात्माका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीवन होना चाहिए। अर्थात् हमारे जीवनसे असत्य, हिंसा, चोरी, अनाचारादि दोष दूर होने चाहिए। विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न धर्मोंमें इन दोषोंको दूर करनेकी परिपाटी, पद्धति पृथक्-पृथक् है; किन्तु सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि धर्म सभीको अभीष्ट हैं। सभी असत्य, हिंसा, चोरी आदि दोषोंका निवारण इष्ट मानते हैं। धर्माचरणसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब 'तत्'पदार्थका चिन्तन होने लगता है। यह उपासना हो गयी। 'त्वं'पदार्थाकार वृत्ति हो गयी तो यह द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान हो गया।

हमारे चारों आश्रम जीवनके सत्यको उपलब्ध करनेकी सीढ़ियाँ हैं। ब्रह्मचर्याश्रम साधन और सत्यकी खोज करनेके लिए, इस ओर उन्मुख करनेके लिए है। गृहस्थाश्रम धर्मनिष्ठा बनानेके लिए है। गृहस्थाश्रममें नियन्त्रित भोग है। वानप्रस्थाश्रममें विषय हैं; किन्तु भोग नहीं है। संन्यासाश्रम कैवल्याश्रम है। इसमें न विषय है और न भोग।

आश्रमों के समान ही वर्णोंकी भी संगति है। शूद्र सेवाप्रधान वर्ण ब्रह्मचर्याश्रमकी कोटिमें है। क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम भी गुरुसेवा-प्रधान है। वैश्य गृहस्थाश्रमकी कोटिमें है; गृहस्थाश्रममें नियन्त्रित भोग है। इसी प्रकार वैश्यके लिए धर्मपूर्वक व्यापार तथा अर्थ-संग्रह विहित है। गृहस्थ और वैश्य दोनोंके लिए संग्रहका विधान है। क्षत्रिय वानप्रस्थकी कोटिमें है। वृत्तियोंका निरोध करके जैसे योगी चित्तकी शुद्धि करता है, द्रष्टा रहता है, कामादि दोषोंको मार देता है, वैसे ही क्षत्रिय रक्षक है। शत्रुओंको परास्त करके सबको मर्यादामें रखता है, सबके ऊपर दृष्टि रखता है। ब्राह्मण संन्यासाश्रमकी कोटिमें है। ब्रह्मको जाननेवाला ब्राह्मण और कैवल्यरूपसे स्थित संन्यासी समान हैं।

जन्ममात्रसे ब्राह्मण होनेसे किसीको ज्ञान नहीं हो जाता;

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु ज्ञानके लिए हमारे जीवनमें ब्राह्मणत्वका विकास आवश्यक है। ब्राह्मणमें जो गुण होने चाहिए, वे गुण जब आपमें आवेंगे, तब ज्ञानके पात्र आप बनेंगे। इसलिए जहाँ शास्त्रमें ब्राह्मणको ही ज्ञानका अधिकारी कहा गया है वहाँ जन्मना ब्राह्मणको ज्ञानका अधिकारी नहीं कहा है। वहाँ गुणसे जिसमें ब्राह्मणत्वका उदय हुआ हो, उसे अधिकारी बताया है।

इस प्रकार विश्वके साथ शूद्रवर्ण, ब्रह्मचर्य आश्रम, धर्म साधन, तैजसके साथ वैश्यवर्ण गृहस्थ आश्रम, उपासना साधन; प्राज्ञके साथ क्षत्रियवर्ण, वानप्रस्थ आश्रम योग साधन; तुरीयके साथ ब्राह्मण वर्ण, संन्यास आश्रम, ज्ञान साधन समन्वित हैं एवं ब्रह्म ज्ञानके साधन हैं। ऐसे ही तमोगुणकी निवृत्तिके लिए कर्म-योग-धर्मानुष्ठान, विक्षेप-रजोगुणकी निवृत्तिके लिए उपासना, अन्यत्वकी निवृत्तिके लिए योग और अपनी पूर्णताके प्रतिपादनके लिए ज्ञानकी उपयोगिता है। किसीको चोरी, बेईमानी, हिंसा, छल-कपट, अनाचार करते तत्त्वज्ञान हो जायगा, यह समझना सर्वथा भ्रम है।

ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन करना आवश्यक नहीं, यह बात अन्तःकरणशुद्धिके पश्चात् ठीक है। योग्यता प्राप्त ही नहीं हुई तब तक ऐसी बात करना अनर्गल प्रलाप है। लेकिन जबतक योग्यता चित्तमें न आ जाय तबतक ज्ञानप्राप्तिका प्रयास ही न किया जाय, यह मानना भी ठीक नहीं है। योग्यता प्राप्तिके रागमें पड़कर लोग जीवनभर ज्ञानसे वंचित रह जाते हैं। अतः ज्ञानको बढ़ाओ। जैसे-जैसे जानकारी बढ़ेगी, चित्तकी योग्यता बढ़ती जायगी। चित्तकी योग्यता बढ़ेगी तो जानकारी भी बढ़ती जायगी। अतः ज्ञानप्राप्तिका प्रयत्न बराबर करते रहो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह बात चरम सत्य है कि तत्त्वज्ञानके विना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। लेकिन सहसा अन्तःकरण शुद्ध किए विना तत्त्वज्ञान नहीं होता। अतएव अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए साधनोंकी उपयोगिता है।

तत्त्वज्ञानके लिए अज्ञानकी निवृत्तिके अतिरिक्त अन्य साधन आवश्यक नहीं, यह बात ठीक ही है। इसे और स्पष्ट समझ लेना चाहिए। संसारमें ममत्व कैसे उत्पन्न होता है? 'यह मेरा है', क्यों? इसलिए कि मैंने इसे अपने श्रमसे या बुद्धिसे अथवा कौशलसे प्राप्त किया है अथवा मुझे किसीने दिया है या उत्तराधिकारमें मिला है। श्रमसे, बलसे, बुद्धिसे, धनसे या दूसरेके देनेसे अथवा प्रारब्धसे वस्तु हमें मिली; अतः हमारी है। लेकिन विचार करना है कि क्या इनमेंसे किसी रीतिसे हमारा स्वत्व स्थापित होता है या हमने केवल अज्ञानवश अपने स्वार्थके कारण यह ममता बना ली है। यदि विचार करनेपर अज्ञान मिट जानेपर भी अहंता-ममता बनी रहे, तब वह सच्ची। लेकिन किसी वस्तुको हम अपनी मानते हैं चाहे धर्मशास्त्रके अनुसार या राज्यनियमके अनुसार; परन्तु धर्मशास्त्र तथा राज्यनियम सर्वत्र एकसे नहीं हैं। भिन्न-भिन्न धर्मोंके नियम भिन्न-भिन्न हैं। राज्यके नियम समयानुसार बदलते रहते हैं। अभी धन आपका है, पता नहीं कब वह राज्यका या और किसीका हो जाय। अतः ये नियम तो कल्पित हैं। पृथक्-पृथक् लोग समय-समयपर अपनी मान्यताके अनुसार इन्हें बना लेते हैं। एक भी वस्तु ऐसी है जिसमें होते परिवर्तनको, जिसके ह्रास-विनाशको आप रोक सकें? ऐसा तो कुछ नहीं है। फिर अब तक जितने विचारशील हुए हैं, उन सब ज्ञानियोंका अनुभव और सब शास्त्र कहते हैं कि 'मैं-मेरापन' झूठा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वस्तु न मेरी है, न तुम्हारी। वह आज मेरे पास है, कल तुम्हारे पास होगी। वस्तुको मेरी माननेसे भय होगा। वस्तुके छिन जाने, नष्ट हो जाने या खो जानेका भय। उस वस्तुके दूसरे चाहनेवालोंसे द्वेष, संघर्ष होगा। इस प्रकार उसके दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी। कोई तत्त्वज्ञानी भी हो जाय और वस्तुको मेरी भी मानता रहे तो उसके दुःखकी निवृत्ति हुई नहीं; ऐसे तत्त्वज्ञानसे क्या लाभ?

तत्त्वज्ञानका मार्ग है राग-द्वेषरहित, निष्पक्ष, सत्प्रेमी जिज्ञासुके लिए। जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष पूर्ण है, वह सत्यकी शोध नहीं कर सकता। अतः आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए अन्य साधन अपेक्षित नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसीको धर्मका साधन नहीं करना चाहिए और अधर्म करते हुए भी तत्त्वज्ञान हो जायगा। ज्ञानके द्वारा ही तत्त्व-साक्षात्कार होगा; किन्तु ज्ञान-प्राप्तिके लिए अन्तःकरणको शुद्ध करना होगा और अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए दूसरे सब साधन उपयोगी हैं।

अवश्य ही तत्त्वज्ञानकालमें दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं है। तत्त्वज्ञानके साथ उपासना होती रहेगी, योग होता रहेगा, धर्मानुष्ठान भी रहेगा; ऐसा नहीं है। ज्ञान तो सब साधनोंके फलस्वरूप उत्पन्न होता है। वह अकेला ही रहता है। वह कैवल्य है। दूसरे साधनोंसे ज्ञान पुष्ट होता है; किन्तु अज्ञानको वह अकेले ही नष्ट करता है।

ज्ञान कैवल्य-एकाकी रहनेवाला है। एक समय दो विषयोंका ज्ञान नहीं होता। जिस समय घटज्ञान होता है, उसीकालमें पटज्ञान नहीं हो सकता। घटाकार वृत्ति और पटाकार वृत्ति एक साथ नहीं रहती। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति और निरोधाकार-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वृत्ति, अथवा ब्रह्माकारवृत्ति और उपास्याकारवृत्ति एक साथ नहीं रह सकतीं। धर्माकारवृत्ति, निरोधाकारवृत्ति, उपास्याकारवृत्तिके फलस्वरूप महावाक्यजन्य आत्मा एवं ब्रह्मकी एकरूप ज्ञानकी वृत्ति उदय होती है। इस वृत्तिज्ञानके उदयसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानकी निवृत्तिकालमें धर्मकी, योगकी, उपासनाकी आवश्यकता नहीं; किन्तु अज्ञाननिवृत्तिके पश्चात् अधर्म, विषयासक्ति या विक्षेप रहेगा; ऐसी बात नहीं है। यह बात तो संसारमें है कि जब धर्म नहीं तब विक्षेप; जब उपासना नहीं तब विषयासक्ति; किन्तु तत्त्वज्ञानके समय तो धर्म-अधर्म, निरोध-विक्षेप, ईश्वरासक्ति-विषयासक्ति कोई नहीं है। वृत्तिज्ञान अज्ञानको नष्ट करके उसी क्षण स्वयं भी नष्ट हो जाता है। केवल ब्रह्म रह जाता है।

इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिका साधन केवल ज्ञान है। इसमें दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं है। लेकिन ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए दूसरे सब साधन उपयोगी हैं। कर्मका फल ज्ञान है; क्योंकि 'हमने अमुक कर्म किया' यह ज्ञान होता है। उपासनाका फल ज्ञान है :

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। —गीता।

भगवान् प्राप्त हुए, यह ज्ञान उपासनासे होगा या नहीं? योगका फल भी ज्ञान है; क्योंकि समाधिका ज्ञान न हो तो समाधि कैसी? अतः सब साधनोंका फल ज्ञान है और ज्ञान अकेले अज्ञान-को निवृत्त करता है।

जब हम रस्सीमें प्रतीत होते सर्पका विवेक करते हैं तो पहले लगता है कि सर्प रस्सीमें लिपटा न हो; किन्तु भलीप्रकार देखने-पर ज्ञात होता है कि वहाँ न रस्सीमें लिपटा सर्प है, न स्वतन्त्र सर्प है। अतएव ठीक-ठीक रस्सीको देख लेनेसे सर्पकी निवृत्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने आप हो जाती है। यहाँ सर्पकी निवृत्ति नहीं हुई; क्योंकि सर्प था ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होनेपर भेदकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि भेद पहलेसे था ही नहीं। यहाँ भेदके भ्रमकी निवृत्ति होती है।

जिनके मतमें घट ज्ञानमें अन्धकारकी निवृत्तिके अतिरिक्त किसी अन्य कार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है, उनका कथन तो ऐसा है मानो छेदन क्रियामें छेद्य पदार्थके अवयवोंका परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद करनेके अतिरिक्त भी वस्तुके किसी अंगमें कोई अन्य व्यापार होता है। छेद्य अवयवोंका सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें प्रवृत्त छेदन क्रिया जिसप्रकार उसके अवयवोंके विभक्त हो जानेमें समाप्त होनेवाली है, उसी प्रकार जब घट और अन्धकारका पार्थक्य करनेमें प्रवृत्त प्रमाण अन्धकारकी निवृत्तिरूप फलमें समाप्त हो जानेवाला है, तब घटज्ञान अवश्यम्भावी है, वह प्रमाणका फल नहीं है। अज्ञानको निवृत्त करनेके अतिरिक्त ज्ञान दूसरा कोई कार्य नहीं करता। जैसे एक घड़ा अन्धकारमें रखा है, प्रकाश उस अन्धकारको दूर कर देता है। प्रकाश अन्धकारको दूर करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं करता। अन्धकार दूर हो जानेपर घड़ेका ज्ञान तो स्वतः हो जायगा। जैसे हम कुल्हाड़ेसे लकड़ी काटते हैं। हमारा कुल्हाड़ी चलाना, लकड़ी या लकड़ीका कोई अंश उत्पन्न नहीं कर देता। वह लकड़ीके टुकड़े अलग कर देता है। लकड़ी काटनेकी क्रिया काटनेके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं उत्पन्न करती। इसी प्रकार ज्ञान कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता, वह केवल अज्ञानको दूर कर देता है। ज्ञान न ब्रह्मको उत्पन्न करता, न ब्रह्म और आत्माकी एकताको। उसका काम केवल अज्ञानको दूर कर देना है। अज्ञानके दूर हो जानेपर जो शुद्ध तत्त्व है, वह स्वतः है ही। उसका साक्षात्कार हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसीके समान, आत्मामें आरोपित अन्त:प्रज्ञत्वादिके विवेक करनेमें प्रवृत्त प्रतिषेध विज्ञानरूप प्रमाण निषेध करने योग्य अन्त:-प्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके अतिरिक्त तुरीय आत्मामें कोई अन्य व्यापार नहीं करता है, क्योंकि अन्त:प्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके समकाल ही प्रमातृत्वादि-भेदकी निवृत्ति हो जाती है।

इसे इस प्रकार समझो कि आत्मामें यह अन्त:प्रज्ञ (तैजस) बहिष्प्रज्ञ (विश्व) आदि अरोपित हैं। अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें हम इन्द्रियोंद्वारा बाह्य वस्तुओंको देखते हैं और स्वप्नमें बाहरी इन्द्रियगोलकोंके प्रयोग बिना भीतर ही वस्तुओंको देखते हैं, यह देखनेवाले हम दो नहीं एक ही हैं। इन दोनों अवस्थाओंको छोड़ कर सुषुप्तिमें अज्ञानकी उपाधिसे सोनेवाले भी हम ही हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी जो उपाधियाँ हैं बहिःकरण, अन्त:करण और ज्ञान, उनका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इन अवस्थाओंका अभिमानी हम से भिन्न है। जैसे एक ही व्यक्ति घरमें सोता है, दूकानमें व्यापार करता है, खेलके मैदानमें खेलता है; वैसे ही हम भी इन जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें एक ही हैं।

इन तीन अवस्थाओंके भेदको जो दूर कर दे, वह ज्ञान है। अज्ञानके कारण भेद प्रतीत होता है। यह भेद पाँच प्रकारका प्रतीत होता है १. जड़-चेतनका भेद, २. जीव-जीवका भेद, ३. जड़-जड़का भेद, ४. जीव-ईश्वरका भेद, ५. जड़-ईश्वरका भेद। ये पाँचों प्रकारके भेद जगत्के मूलमें जो अद्वय-तत्त्व है, उसे न जाननेके कारण प्रतीत होते हैं। इस अज्ञानको तत्त्वज्ञान दूर कर देता है। ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रह जाता। तुरीयतत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर मैं ज्ञाता हूँ, प्रमाता हूँ आदि भेद भी मिट जाते हैं। ज्ञान भी द्वैतकी, अज्ञानकी निवृत्ति करके स्वयं निवृत्त हो जाता है। यह ज्ञानका स्वभाव है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वृत्तिज्ञानकी स्थिति द्वैतनिवृत्तिके क्षणके अतिरिक्त दूसरे क्षणमें नहीं रहती। यदि उसकी स्थिति मानी जाय तो अनवस्थाका प्रसङ्ग आ जानेसे द्वैतकी निवृत्ति ही नहीं होगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणके प्रवृत्त होनेके समकाल ही आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है। द्वैतकी निवृत्ति करके, अज्ञानका प्रशमन होते ही ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है। क्योंकि यदि ऐसा मानें कि अज्ञान निवृत्त होनेपर ज्ञान रह जाता है, तो ज्ञानवृत्तिको निवृत्त करनेवाला और कोई चाहिए। इससे अनवस्थादोष आयेगा। द्वैतकी भी निवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि द्वैतके रूपमें वृत्तिज्ञान रह जायगा। इसलिए निषेधके द्वारा हम अपने स्वरूप ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान प्राप्त करते हैं और अज्ञानकी निवृत्तिके साथ यह वृत्तिज्ञान स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए तत्त्वज्ञानीके लिए स्मृति-विस्मृतिका कोई प्रश्न नहीं रहता।

स्मृतिका नियम यह है कि जिस वस्तुका हमने कभी अनुभव किया, उसके परोक्ष हो जानेपर उसका स्मरण हुआ करता है। जबतक वस्तुका हमने अनुभव नहीं किया तबतक स्मरण नहीं होगा और अनुभव करके वस्तु हमारे सम्मुख रहे, तब भी स्मरण नहीं होगा। जिसने परमात्माका अभी अनुभव नहीं किया, वह जो परमात्माका स्मरण करता है, यह स्मरण कल्पना है, स्मृति नहीं है। शास्त्र तथा सत्पुरुषोंसे श्रवण किये तत्त्वका स्मरण भी कल्पना ही है। उपासनाकी भाषामें इसे भावना कहते हैं; क्योंकि स्वयं विना अनुभव किये किसी वस्तुकी स्मृति नहीं होती। प्रत्यक्षकी भी स्मृति नहीं होती। स्मृति सदा अनुभूत परोक्ष हुएकी होती है। जिन्होंने परमात्माका अनुभव कर लिया, उनके लिए क्या कभी परमात्मा परोक्ष हो सकता है? ज्ञान अथवा भक्ति,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसी भी सिद्धान्तमें उनके लिए परमात्मा परोक्ष नहीं हो सकता। अन्तर्यामीरूपसे परमात्मा अपने हृदयमें है। न अन्यत्र है, न अप्राप्त है। ज्ञान-सिद्धान्तमें तो अपनी आत्मा ही परमात्मा है और आत्मा कभी परोक्ष नहीं होता। यतः परोक्ष नहीं होता अतः उसकी स्मृति भी नहीं होती। परमात्मामें ये जितने भेद प्रतीत हो रहे हैं, उनका जहाँ एकबार निषेध हुआ, वहाँ निषेधके साथ ही अध्यारोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिरूप जो अनर्थ है, उसकी निवृत्ति हो जाती है।

श्रुतिमें जो **नान्तःप्रज्ञं** कहा है, वह तैजसका प्रतिषेध करनेके लिए है। **न बहिष्प्रज्ञं** विश्वका प्रतिषेध करनेके लिए है। **नोभयतः प्रज्ञं** जाग्रत् और स्वप्नके मध्यकी अवस्थाका प्रतिषेध करनेके लिए है तो **न प्रज्ञानघनं** सुषुप्तावस्थाका प्रतिषेध करनेके लिए हैं; क्योंकि सुषुप्तावस्था बीजभावमय, अविवेकरूपा है। **न प्रज्ञं** के द्वारा एक साथ सब विषयोंके ज्ञातृत्वका प्रतिषेध किया और **नाप्रज्ञं** इसलिए कहा कि वह अचेतन-जड़ या शून्य नहीं है।

तुम्हें प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्थामें मैं अपने भीतर सब कुछ देख रहा हूँ और वह देखनेवाला मैं तैजस हूँ। लेकिन व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियोंसे हम हिरण्यगर्भ हैं। विश्व हमें अपने भीतर ही ठीक स्वप्नके समान दीख रहा है। तैजस और हिरण्यगर्भ दोनोंकी एक करके समूची सृष्टिको अपने भीतर अनुभव करते हैं। चिन्तनकी दशामें भी ऐसा ही होता है। लेकिन यह स्वप्न देखने या चिन्तन करनेवाला मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह सुषुप्तिमें नहीं रहता अर्थात् चिन्तन करना या स्वप्न देखना यह धर्म मुझमें आरोपित है। मैं तैजस नहीं हूँ, तैजसत्व मुझमें कल्पित है।

अपनेको देहमें या विराट्में स्थित करके मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि यह सब दृश्य मैं बाहर देख रहा हूँ। लेकिन यह बाहर-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भीतरका भेद मनमें ही है। यदि यह निश्चय हो जाय कि मैं स्थूल देहका अभिमानी नहीं हूँ, विश्वका अभिमानी हूँ तो इतनेसे ही राग-द्वेष, लोभ-मोहादिकी निवृत्ति हो जायगी; क्योंकि तब पूरे विश्वकी सामग्री मेरी है, पूरे विश्वमें जो क्रिया हो रही है वह मेरी है और पूरे विश्वके भोग मेरे हैं। इस प्रकार स्थूलदेहमें अभिमान छूटकर विश्वरूपताका ज्ञान होनेसे ही 'मैं-मेरा' छूट जायगा। इससे व्यष्टि देहमें स्थित भय, शोक, मोहादि सब छूट जायँगे। तैजसत्वके ज्ञानसे जन्म-मृत्युका भय छूट जाता है; क्योंकि जन्म-मृत्यु स्थूल देहकी होती है। मैं स्थूल नहीं, सूक्ष्म हूं, यह निश्चय होते ही मृत्युका भय मिट गया।

मनुष्य चार प्रकारके होते हैं: पामर, विषयी, साधक और तत्त्वज्ञ। जो अधर्मपूर्वक भोग-संग्रह करता है, वह अपना सत्यानाश कर रहा है। विषयी भी वह नहीं; क्योंकि विषयी तो अपने भोग एवं भोगनेकी शक्तिकी रक्षाका ध्यान रखता है। लेकिन धर्म-अधर्मकी चिन्ता न करनेवाले तो पामर हैं। वे अपने अविवेकसे अपना, अपने भोगका ही नाश कर रहे हैं। कोई इतना भोजन कर ले कि बीमार हो जाय, फिर भोजन करने योग्य ही न रहे अथवा सब द्रव्य एक दिनमें खा-पीकर समाप्त करके भूखों मरे, तो वह क्या जिह्वालोलुप हुआ? इस प्रकार अधर्म करके जो भोग एकत्र करते हैं, उनको अधर्मके फलसे आगे दरिद्रता, रोग, शोक, कष्ट मिलते हैं। वे तो अपने ही लिए दुःख, शोक, अभावकी सामग्री एकत्र कर रहे हैं; वे पामर हैं।

विषयी वे हैं जो धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक उपार्जन करके धर्मानुसार भोग भोगते हैं। जो भोगके लिए स्वास्थ्य सुरक्षित रखे, बराबर, नित्य भोजन मिले यह चिन्ता रखे; वह विषयी। धर्मपूर्वक भोग आगे भी भोग प्रस्तुत करेगा। अभीका धर्म आगे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी सुख, स्वास्थ्य, सम्पत्ति देगा, यह समझकर जो चले वह विषयी। विषयी अधार्मिक नहीं, धर्मनिष्ठ होता है।

साधक वह जो धर्मपूर्वक प्राप्त भोगको भी भोगनेमें संकोच करे, न्यायपूर्वक प्राप्त पदार्थका भी संग्रह न करना चाहे। अपना काम इतनेसे चल जाता है, अधिकका क्या करना है, यह जिसकी वृत्ति है, वह साधक।

जिसको संग्रह और भोगकी आवश्यकता ही नहीं, केवल जीवननिर्वाहमात्र हो रहा है, वह है सिद्ध। लेकिन जिसे जीवनके निर्वाह-अनिर्वाहकी भी चिन्ता नहीं, जिसके लिए सिद्ध, असिद्ध दोनों प्रतीतिमात्र हैं; वह है तत्त्वज्ञ।

आज जो 'विश्वमानवता' की सबसे बड़ी बात कही जाती है, उसमें भी मनुष्यके हितके पक्षमें अनेक प्राणियोंकी निर्मम हिंसा होती है। यह 'विश्वमानवता' अपनेको सम्पूर्ण विश्वका अभिमानी अनुभव करनेसे बहुत निम्न स्तरकी वस्तु है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्व मैं हूं, इस अनुभवके साथ विश्वके समस्त प्राणी अपने अंग हो गये। हिंसाकी सर्वथा निवृत्ति हो गयी

अब सूक्ष्म संकल्पात्मक सृष्टिका अभिमानी मैं हूं, यह अनुभव करते ही संसारमें जितने वाद, जितने मत-सम्प्रदाय हैं, जो आज हैं या कभी थे या आगे होंगे, सब मेरे मत हो गये। जितने भी संकल्प हैं, वे अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप किसी प्रकारके हों, सब मेरे संकल्प हैं। देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सबके विचार, सबकी इच्छा-वासना—सब हमारी हैं। ऐसी अवस्थामें राग-द्वेषको कहाँ स्थान रहा? राग-द्वेष तो एक अन्तःकरणको 'मेरा' माननेसे होता है। हमारा एक मत, एक सिद्धान्तमें विश्वास है; हम एक बात ठीक मानते हैं तो उसके अनुकूल लोगोंसे राग और उसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिकूल मत, सिद्धान्त माननेवालोंसे द्वेष होता है। किन्तु जब हम समष्टि अन्तःकरणको अपना मानते हैं तो सभी विचार, सभी सिद्धांत, सभी वासनाएँ हमारी हो जाती हैं। तब राग-द्वेष कहाँ ?

सूक्ष्मको भी छोड़कर हम प्राज्ञसे एक हो गये। अर्थात् सुषुप्तिके अभिमानी हो गये। यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि सुषुप्ति एक-एक शरीरमें पृथक्-पृथक् नहीं होती। शरीरका सोना, जागना और स्वप्न देखना मेरा सोना-जागना या स्वप्न देखना नहीं है। स्वप्नमें जो स्वप्नद्रष्टा है, वह न सोता है, न जागता और न स्वप्न देखता है। वह तो सभी अवस्थाओंका द्रष्टा है, कर्ता नहीं है। वह तो स्वप्नमें जो अपना शरीर है, उसके भी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा है। अतः सुषुप्तिका अर्थ एक देहकी सुषुप्ति नहीं, समष्टिकी सुषुप्ति है, जब कोई संकल्प नहीं रहता। यह ईश्वरकी अवस्था है।

अब ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों अपने स्वरूप नहीं हैं। मैं जाग्रत् अवस्थाका अभिमानी नहीं हूं; क्योंकि मैं स्वप्नमें भी रहता हूं; किन्तु उस समय जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी नहीं रहता। इसी प्रकार मैं स्वप्नावस्थाका भी अभिमानी नहीं और सुषुप्तिका भी अभिमानी नहीं; क्योंकि अवस्थाएँ और अभिमान बदलते रहते हैं। ये तीनों अवस्थाओंके अभिमान तो वस्त्रोंके समान हैं, जिन्हें मैं स्वीकार करता और पृथक् कर देता हूं। अतः यह विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप मुझमें अध्यारोपित है।

अच्छा, जाग्रत् और स्वप्न या स्वप्न तथा सुषुप्तिके मध्य जो सन्धि है, वह मैं होऊं, ऐसा भी नहीं है। मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका अभिमानी नहीं हूं और इनके अन्तराल या मध्यकी सन्धिका भी अभिमानी नहीं हूं। इन सब अवस्थाओंका पृथक्-पृथक् अभिमानी नहीं हूँ और इन सबके सम्मिलित रूपका भी अभिमानी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं हूं। तात्पर्य यह कि अभिमान नामकी कोई वस्तु मुझमें है ही नहीं।

अभिमान कब होता है? मान कहते हैं परिमाणको। जब कोई परिच्छिन्न, मापमें आने योग्य वस्तु हमारे सम्मुख होती है तो 'यह मेरी' ऐसा अभिमान होता। लेकिन अपना आत्मा तो अमाप है। इसमें देश, काल, वस्तुजन्य परिच्छेद, (लम्बाई-चौड़ाई, उम्र और वजन) नहीं है। अतः सम्पूर्ण अवस्थाओंसे पृथक् केवल ज्ञेयस्वरूप है। हम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें किसीके तथा इनके सम्मिलित रूपके भी अभिमानी नहीं हैं और इनमेंसे कोई अवस्था भी नहीं हैं। इस प्रकार अवस्थाओंके अभिमानी तथा अवस्थाओंका भी निषेध हो गया। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूं,' बस यही रहा।

इसे यों समझना चाहिए कि सुषुप्ति प्रकृतिकी अवस्था है। उसमें चेतनाकी जागृति महत्तत्त्व है। जब यह ध्यान आया कि 'मैं कौन हूं' तब अहंकार हो गया। सुषुप्ति और जाग्रत्के मध्य जो चेतना है, बुद्धि है, यह महत्तत्त्व है। इसे क्लोरोफार्मसे भी मूर्च्छित कर दिया जाता है। जिस चेतनापर दवा, क्रिया या इन्द्रियोंका प्रभाव पड़ता है, वह चेतना वास्तविक चेतना नहीं है। वह तो प्रकृतिकी विकारभूत चेतना है।

एक ऐसा चेतन है जो सुषुप्ति-कालमें भी और सुषुप्तिके न रहनेपर भी रहता है, जो सुषुप्तिके होने-न होनेसे प्रभावित नहीं होता। उसपर औषध, क्रिया, इन्द्रियादि किसीका प्रभाव नहीं पड़ता। वैज्ञानिक उसे कभी पकड़ नहीं पाते; क्योंकि वह ज्ञप्ति-मात्र है। इस प्रकारका जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न चैतन्य है, वही अपना स्वरूप है। इस अपने स्वरूपका नाम ही अनुभव है। वह अनुभवरूप है। वह अपना 'अहं' ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'अहं' शब्दका अर्थ समझने योग्य है। पृथ्वीका बीज है 'लं', जलका बीज है 'वं', अग्निका बीज है 'रं', वायुका बीज है 'यं' और आकाशका बीज है 'हं'। यह आकाश-बीजात्मा प्रकृति 'हं' जिसमें न हो; जो देश परिच्छेदसे रहित हो, वह 'अहं' हुआ। 'अहं'-का दूसरा अर्थ है—'न हन्यते' जो कभी मारा न जा सके अर्थात् अविनाशी, काल परिच्छेदसे रहित। 'अहं'का है तीसरा अर्थ—'अ' से 'ह' तक जितने वर्णमालाके अक्षर हैं, उनसे जितने शब्द बनते हैं और उन शब्दोंद्वारा जो कुछ वर्णित होता है, वह सब 'अहं' है। अर्थात् 'अहं' सर्वस्वरूप है, विषयसे परिच्छिन्न नहीं है। **इदं** न होकर भी वही **इदं** रूप भी है। 'अहं' = जो 'न हीयते' कभी छोड़ा न जा सके। **न हिनस्ति न हन्ति**—किसीका विरोधी, नहीं, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, ज्ञान-अज्ञान किसीका भी विरोधी नहीं। **न जहाति**-जो किसीका त्याग नहीं करता। **न जिहीते**—जो कहीं चलता नहीं, वह 'अहं' अपना स्वरूप है। वही सबसे विलक्षण, नित्य, एकरस, ब्रह्म है।

जो जाग्रत्-अवस्थामें रहकर भी जाग्रत्का अभिमानी नहीं, स्वप्नावस्थामें रहकर भी स्वप्नावस्थाका अभिमानी नहीं, जो सन्धि-अवस्थाका अभिमानी नहीं, और जो सुषुप्तावस्थामें रहकर भी सुषुप्तिका अभिमानी नहीं। जो सब अवस्थाओंमें रहकर भी सबका अभिमानी नहीं है। जो सब अवस्थाओंकी प्रतीतिके राहित्य-साहित्यमें ज्यों-का-त्यों है। जो ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा देखा नहीं जाता; किन्तु दर्शन-अदर्शन दोनों अवस्थामें विद्यमान है। जो व्यवहारमें कभी नहीं आता; पर व्यवहार-दशामें भी उपस्थित है। जो कर्मेन्द्रियोंद्वारा गृहीत नहीं होता; परन्तु कर्मेन्द्रियोंके व्यापारमें विद्यमान है। जिसमें कोई पहचान, कोई कार्य-कारणसम्बन्ध नहीं है; किन्तु सब सम्बन्धोंमें उपस्थित है। जिसमें वृद्धि नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहुँच सकती, लेकिन बुद्धिके पहुँचने - न पहुँचने दोनोंमें है। किसी शब्दके द्वारा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर वर्णन करना-न-करना उसीमें हो रहे हैं। वह हर स्थानपर, प्रत्येक दशामें, हर वस्तुमें है; किन्तु ज्ञात नहीं होता—वह 'एकात्म-प्रत्ययसार' है।

सृष्टिके मूलके विचारकी दो पद्धतियाँ हैं : अन्यरूपसे विचार और स्वरूपसे विचार। अन्यरूपसे विचार करनेपर प्रत्येक पदार्थका एक कारण मानना पड़ता है। फल आया बीजसे और बीज आया वृक्षसे। बीज-वृक्षकी अनादि-परम्परा हुई। जहाँ प्रलयमें बीज सुप्तावस्थामें होगा, वहाँ घनीभूत होगा। सम्पूर्ण विश्व-बीजमेंसे एक बीज होगा। वहाँ उसका नियन्ता एक चेतन होगा। वह नियन्ता चेतन ही मायाके कारण बीजरूप एवं वृक्षरूपमें परिणत हुआ होगा। अथवा चेतन होनेके कारण विवर्तित हुआ होगा। इस प्रकार चाहे अन्यके सम्बन्धमें चिन्तन करो या अपने सम्बन्धमें, सृष्टिका मूलकारण एक परमात्मा है। सृष्टिका मूलकारण एक परमात्मा है, ऐसी जो वृत्ति बनी, इसीका नाम है, एकात्मप्रत्यय। प्रत्ययका अर्थ है वृत्ति। इस एकात्मप्रत्ययका सार है, एकात्मा—अद्वितीय परमात्मा। यही तुरीय तत्त्व है।

विचार करनेकी दूसरी प्रणाली यह है कि हमें ये दृश्य कैसे दीखते हैं। ये वृक्ष, पशु, पक्षी आदि कैसे उत्पन्न हुए, यह मत देखो। यह देखो कि ये दीखते कैसे हैं; क्योंकि इनसे मूल-कारणकी शोधकी प्रणाली तो ऊपर बता आये। दूसरी बात यह कि मूल-कारणके सम्बन्धमें हम केवल अनुमान कर सकते हैं, केवल कल्पना। मूल कारण किसीने देखा तो है नहीं। अनादि कारणकी कल्पना ही करनी पड़ती है। आजसे कुछ लाख वर्ष पूर्व या पश्चात् संसार कैसा था या होगा, इसकी ठीक-ठीक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कल्पना बड़ेसे बड़ा वैज्ञानिक भी नहीं कर सकता। सृष्टिके मूल-कारणकी कल्पना ही लोग करते हैं। कारणानुसन्धानपूर्वक जो सृष्टिके मूलकी उपलब्धिकी कल्पना है, वह आकाशकुसुम है। अनन्तकालसे जिसका कोई काल नहीं, अनन्त देशमें जिसका कोई देश नहीं, अनन्त सत्तामें जिसका कोई माप नहीं, ऐसी वस्तुके आदि-अन्तको ढूँढ़नेका प्रयास अविवेक ही है। सृष्टि, प्रलयका निरूपण वन्ध्यापुत्रके पूर्वज एवं सन्तान-परम्पराके निरूपणके समान है। रस्सीमें जो सर्प प्रतीत हो रहा है, उसका कौन पिता और कैसी सन्तान?

अतएव विवेककी ठीक प्रणाली यह है कि हम समझें कि हम देखते कैसे हैं? हम नेत्रसे पुष्प देखते हैं। जिस समय चित्तकी पुष्पाकारवृत्ति होती है, उस वृत्तिके गर्भमें पुष्प होता है, अर्थात् हमारी वृत्ति पुष्परूपमें परिणत हो गयी। लेकिन जब पुष्प नहीं था, तब भी वृत्ति थी और पुष्प नहीं रहेगा, तब भी वृत्ति रहेगी। अतः वृत्तिका सार पुष्प नहीं है। पुष्प वृत्तिका विषय है, वृत्तिका सार नहीं। इसी प्रकार समस्त दृश्य वृत्तिके विषय हैं। जिस समय पुष्पाकार वृत्ति है, उस समय पुष्प वृत्तिका विषय है। पुष्प-का आश्रय वृत्ति है। वृत्तिका आश्रय अपना आपा है। अतः वृत्तिका सार है वह, जो वृत्तिमें रहकर उसे प्रकाशित करता है।

प्रतीतिका न होना ब्रह्म नहीं है। क्योंकि प्रतीतिका होना, न होना दोनों अवस्थाएँ हैं। संसारकी प्रतीतिका मिट जाना तो जड़ता होगी, चेतनता नहीं। जहाँ भाव-अभावकी, अपने-परायेकी प्रतीति नहीं है, वह तो जड़ता है। इसीलिए ब्रह्म ज्ञानमात्र कहा गया है। जो लोग समझते हैं कि संसारकी प्रतीति नहीं होगी तब हम ब्रह्म होंगे, उनकी कल्पना तो ऐसी है कि नीलिमा नहीं दीखेगी तब हम आकाशको जान सकेंगे। लेकिन ऐसे लोगोंको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आकाशका ज्ञान कभी नहीं होगा; क्योंकि नेत्र नहीं रहेंगे तो आकाशका ज्ञान होगा नहीं और नेत्र रहेंगे तो नीलिमा दीखेगी। अतः प्रतीति तो रहेगी, प्रतीतिमें सत्यका भ्रममात्र दूर करना है। जगत् कैसा प्रतीत हो और कैसा प्रतीत न हो, इसका अपनी ब्रह्मरूपतासे कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि जो सत्स्वरूप है, उसे प्रतीति प्रभावित नहीं कर सकती। अतः जगत्के मूलमें एक ही आत्मा है, वह स्वयंप्रकाश है।

आधुनिक पाश्चात्त्य-दर्शन जगत्का मूल कारण एक ही सत्ता मानता है; किन्तु उसे जड़ मानता है। वे जड़ाद्वैत मानते हैं; किन्तु उसमें स्वयंभवनका सामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वह अपने आप नानारूपोंमें परिवर्तित होता रहता है। हमारी भाषामें यह स्वयम्भू हुआ। इधर हमारे चेतनवादी जगत्के मूलतत्त्वको चेतन, किन्तु निष्क्रिय मानते हैं। अब चेतनका निष्क्रिय होना और जड़का स्वयंभवन-सामर्थ्ययुक्त होना, इन दोनोंको मिलाओ तो चित्-शक्तिको ही स्वयंभवन सामर्थ्य कहते हैं और चेतनमें जो निष्क्रियता है, वही उसमें जड़ताका आरोप है। तात्पर्य यह कि न तो जड़ाद्वैतवादियोंकी मूल सत्ता अचेतन है और न चेतनाद्वैत-वादियोंका चेतन असत्। चेतनाद्वैतचेतन सत् है और जड़ा-द्वैतवादियोंका जड़ाद्वैत चेतन है। वस्तुतः यह प्रतिपादन-शैलीका अन्तर है, वस्तु एक ही है। इस अन्तरका कारण है। अन्यके रूपमें जगत्के मूलकारणका जिन्होंने अन्वेषण किया, वे जड़तापर पहुँचे। जो 'अहं'के रूपमें परमात्माको ढूँढ़ने चले, वे इस परि-णामपर पहुँचे कि परमात्मा चेतन है; क्योंकि 'अहम्' को अचे-तन, अप्रकाश कहना बनता नहीं। अन्यके रूपमें जो ईश्वरको चेतन मानते हैं, उनके पास अनुमान है, अनुभूति नहीं है। क्योंकि अन्यके रूपमें जो होगा, दृश्य होगा, अतः जड़ होगा। हम श्रद्धाके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण उसे चेतन कहते हैं। यह अन्यताका अभिशाप है कि या तो श्रद्धाके कारण चेतन कहो, या जड़ कहो या शून्य कहो। वही वस्तु केवल हार्दिक-यान्त्रिक अनुमानसे जड़सत् कारण, वैदिक एवं श्रद्धायुक्त अनुमानसे सर्वज्ञ ईश्वर चेतन, अवैदिक श्रद्धारहित शुष्क ध्यानसे शून्य तथा औपनिषद आत्मानुभूतिसे अद्वय निर्विशेष प्रत्यगभिन्न ब्रह्म सिद्ध होती हैं।

अतएव जगत्के मूलकारणकी खोजकी ठीक पद्धति यह है कि हम देखें कि वस्तु हमें कैसे दीखती है। इन्द्रियोंके बिना हम किसी वस्तुका कोई ज्ञान नहीं पाते। समस्त ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा आता है। कोई इन्द्रिय कोई अनुभव न दे, यदि मन उसके साथ न हो। इस प्रकार वृत्तियाँ ही सृष्टिके रूपमें दीखती हैं और हम द्रष्टा हैं वृत्तियोंके। दृष्टि ही सृष्टि है। ये वृत्तियाँ, सृष्टिप्रत्यय पृथक्-पृथक् हैं, उत्पत्ति-विनाशशील हैं; किन्तु अपना आत्मा एक रहता है। सम्पूर्ण वृत्तियोंका सार, सम्पूर्ण वृत्तियोंका आधार और प्रकाशक आत्मा है। उसी एक आत्माको जानो। संसारमें हमें जो दुःख है, अहंकार है, राग-द्वेष है, वह आत्माका अज्ञान है। आत्मा और ईश्वरकी एकताके अज्ञानसे यह सब है। संसार हमें जगत्के अधिष्ठान और अपने आत्माके एकत्वके अज्ञानसे भेदात्मक प्रतीत होता है। अतएव एकताके ज्ञानद्वारा अनेकताकी भ्रान्ति दूर की जाती है।

जड़वादी लोग कहते हैं कि दो प्रकारके पदार्थ हैं: द्रव्यवस्तु और पर्यायवस्तु। जैसे एक मिट्टीसे ही घड़ा, सकोरा आदि अनेक पदार्थ बनाये तो इनमें मिट्टी द्रव्य है और घड़ा, सकोरादि पर्याय हैं। पर्याय अर्थात् नाममात्र। पर्याय परिवर्तनशील होता है और द्रव्य अपरिवर्तनीय होता है। यह हमारी जो वृत्ति है, वह भी पर्यायवस्तु है और आत्मा द्रव्य है। आत्मा वह द्रव्य है जिसमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाना प्रकारकी वृत्तियाँ उठती हैं, मिटती हैं; किन्तु वह एकरस रहता है। हमारा यह द्रव्य अजीव नहीं, जीव-द्रव्य है। देश, काल, वस्तुके कारण यह खंड-खंड नहीं होता। यह अपरिच्छिन्न, अखंड है। एक अखंड चैतन्यमें परिणाम नहीं होता, विवर्त होता है। जब यह कल्पना करते हैं कि सृष्टि अन्यमें दीख रही है, तब यह ब्रह्मका विवर्त है और जब यह कल्पना करते हैं कि अपनेमें दीख रही है, तब यह अपनी दृष्टि ही है। 'त्वं'पदार्थकी प्रधानतासे सृष्टि दृष्टि है और 'तत्' पदार्थकी प्रधानतासे सृष्टि विवर्त है। इस प्रकार दृश्यकी समस्त विशेषताएँ हमारी दृष्टिमें हैं। दृष्टि द्रष्टासे भिन्न नहीं है। हम द्रष्टा हैं, चेतन हैं। चेतन देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं होता है। प्रत्ययमें एक विषयरूपसे प्रतीत होता पदार्थ और दूसरा चित्तकी वृत्ति, ये दो भेद हैं। एक ज्ञेय है और एक ज्ञाता। ये दोनों भेद जिस अधिष्ठानमें प्रतीत हो रहे हैं, वही एकात्मप्रत्ययसार है। वह वृत्तिके रहने-न-रहनेसे सर्वथा अप्रभावित है।

जो लोग समझते हैं कि ज्ञानका अर्थ है प्रपंचकी प्रतीति न होना, वे जीवन्मुक्तिके विशेष आनन्दसे वंचित हो जाते हैं। भूतकाल चाहे वह पांच सहस्र वर्ष पूर्व हो या पांच मिनट पूर्व, उसके विषयमें सोचना चिन्ता है और इसी प्रकार भविष्यके सम्बन्धमें सोचना मनोराज्य है। हमारी चित्तवृत्ति इस भूतकी चिन्ता तथा भविष्यके मनोराज्यमें वर्तमानको खो रही है, च्युत हो रही है। अपने ठीक स्थानसे हट गयी है। भूत, भविष्य दोनों अपने हाथमें नहीं हैं। उनकी चिन्ता मनश्च्युति है। यह भूत-भविष्यकी चिन्ता एक स्वप्न है। हमारा मन प्रायः इस स्वप्नमें ही मग्न रहता है। यह भूत-भविष्यके सम्बन्धमें विचार कल्पना है, स्वप्न है। इसी प्रकार यह प्रपंच भी स्वप्न है। जैसे हम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्नको लौटाकर नहीं ला सकते, वैसे ही जाग्रत्को भी लौटाकर नहीं ला सकते। इच्छानुसार न स्वप्न दीखता है, न जाग्रत् चलता। अतः इस दृश्यमान प्रपंचको स्वप्न समझ लेना है। यही प्रपंचका निवारण है।

पंच शब्दके दो अर्थ हैं। एक तो पाँच संख्या, दूसरा विस्तार। उसीसे पंचानन शब्द सिंहवाचक बना है। पंचाननका अर्थ है विस्तृत मुख वाला। अब प्रपंच शब्दके अर्थ हुए—पाँचका विलास। हमारे पास जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उनका ही यह विलास है। उनके द्वारा ही यह प्रतीत होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरणकी चार वृत्तियाँ और एक स्थिति—पाँच स्थितियाँ (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और निरोध-वृत्ति) इनका ही यह सब विलास है। यह प्रपंच ब्रह्मज्ञान होनेपर नहीं दीखेगा अर्थात् अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ नहीं रहेंगी, ऐसा मानना तो अविवेक है। इस प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धि नहीं रह जायगी। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है, केवल भ्रान्तिका विरोधी है। इसलिए ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको प्रपंचकी प्रतीति एक सी ही होती है।

प्रपंचका एक अर्थ है बखेड़ा झंझट। यह संसार एक जादूगरके खेलके समान मिथ्या बखेड़ा है, जो अपने स्वरूपमें दीख रहा है। इन सब बदलनेवाले दृश्योंमें अपना स्वरूप स्थिर है, कूटस्थ है। कूटस्थका अर्थ भी समझने योग्य है। 'कूट' का एक अर्थ पर्वतकी चोटी है। जैसे चित्रकूट, त्रिकूट आदि। सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि परिवर्तन होते हैं; किन्तु पर्वत स्थिर खड़ा रहता है। इसी प्रकार समस्त दृश्यपरिवर्तनोंमें अपना स्वरूप—आत्मा एकरस, निश्चल स्थित रहनेवाला है। कूट शब्दका दूसरा अर्थ है झूठ, मिथ्या।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह जितना दृश्य प्रपंच है, मिथ्या है। न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है। इस मिथ्यामें जो सत्य रूपसे स्थित है, वह कूटस्थ है।

योगी समाधिमें, मन्त्रयोगी जपमें, भक्त इष्टके स्मरणमें इस संसारको विस्मृत कर देते हैं, इसकी प्रतीतिको हटा देते हैं; किन्तु यह एक अवस्था है। यह वस्तुतत्त्वका ज्ञान नहीं है। जब हम जान गये कि नीलिमा कोई वस्तु नहीं, वह केवल दीखती है, तो वह न दीखे, यह आग्रह नहीं रह जाता। वह दीखे तो या न दीखे तो भी ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं होता।

अन्तःकरणमें एक वृत्ति बना लो कि संसार मिथ्या है, इसे भी ज्ञान नहीं कहते। क्योंकि अन्तःकरण भी संसार ही है। संसारको मिथ्या समझनेके साथ इस मिथ्या समझने वाली वृत्तिका भी बाध हो गया। इस वृत्तिको भी मिथ्या समझना चाहिए। वृत्तिका बाध अधिष्ठानके ज्ञानसे होगा। वृत्ति न तो वृत्तिको जानेगी, न वृत्तिको बाधित करेगी। अतः अधिष्ठानके ज्ञानके बिना वृत्तिका बाध नहीं होगा। वृत्तिका जो अधिष्ठान है, प्रकाशक है; उसके ज्ञानसे वृत्तिका बाध होगा।

अतएव **नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं** आदिसे यह बताया कि तुम विश्व नहीं हो, तैजस नहीं हो, प्राज्ञ नहीं हो, जाग्रत् आदि अवस्था नहीं हो। इन विश्व, तैजस, प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिको रहने दो। इन्हें प्रतीत होने दो। तुममें ये प्रतीत हो रहे हैं। तुम न अवस्था हो न ही अवस्थाके अभिमानी। जैसे आँधी, बादल, वर्षाके आने जानेपर भी आकाश शान्त है, वैसे ही अवस्थाओंके रहने-न रहनेपर भी अपना स्वरूप सर्वथा अलिप्त है, शांत है। यह अपना स्वरूप प्रपंचोपशम उपशान्त है। अर्थात् इसमें प्रपंचकी प्रतीति होनेपर भी यह उपशान्त है। शान्त, शिव अद्वैत है। शान्तका तात्पर्य यह कि इसमें विक्षेप नहीं है, कारण-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाव भी नहीं है। शिव कहनेका तात्पर्य कि उसमें आवरणशक्ति-मायामल नहीं है।

शास्त्रमें तीन प्रकारके मल माने जाते हैं। १. कर्म-मल अर्थात् मैं पापी-पुण्यात्मा सुखी-दुःखी हूं। ये चारों कर्ममल हैं, क्योंकि चारों अभिमान हैं। २. मायामल अर्थात् मैं अकर्ता हूं; क्योंकि कर्तृत्वको दूर करनेके लिए 'अकर्तापन' भी आरोपित ही है। कर्तृत्वकी अपेक्षासे अकर्तापन है। अपनेमें अकर्तापनका अभिमान भी मल है। अज्ञानसे अनुभूत कर्तापनका अध्यास तो छूट गया; किन्तु अध्यासकी निवृत्तिके लिए जो शास्त्र और गुरुद्वारा अध्यारोपित अकर्तृत्व था उसमें उलझ गये। अतः अकर्तापन भी मल है। ३. आणव मल अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् भी जो अपनेमें स्वातन्त्र्यहीनताका बोध है, वह आणव मल है। बोधहीन स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता है; किन्तु बोध होनेपर जो कर्म, भाव, शास्त्रकी परतन्त्रताका ज्ञान है, यह भी एक प्रकारका मल है। इन तीनों मलोंसे रहित अपना स्वरूप है। भगवान् भाष्यकारने प्रश्न उठाया कि जब अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मामें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं तब केवल प्रतिषेधके ही कारण उनको रस्सीमें प्रतीत होनेवाले सर्पादिके समान असत्य कैसे सिद्ध करते हो? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं: रस्सी आदिमें प्रतीत होनेवाले सर्प, धारा आदि विकल्प-भेदोंके समान उनके चित्स्वरूप-में कोई भेद न होनेपर भी परस्पर एक दूसरेका व्यभिचार होनेके कारण वे असत्‌स्वरूप हैं, किन्तु चित्स्वरूपका कहीं भी व्यभिचार नहीं है, अतः वह सत्य है। यदि सुषुप्तिमें चित्स्वरूपका व्यभिचार मानो, तो ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि सुषुप्तिका अनुभव हुआ करता है। श्रुति भी कहती है: 'विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता।'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्नावस्थामें या कल्पना करते समय हमारी बुद्धि इन्द्रियोंके द्वारा बाहर गये बिना भीतर ही भीतर एक संसार बना लेती है और हम समझते हैं कि मैं यह देख रहा हूं। यह अन्तःप्रज्ञ अवस्था है। यहाँ मैं देख रहा हूं, इतनी बात सत्य है; किन्तु मैं यही स्वप्नावस्था देखनेवाला (अन्तःप्रज्ञ तैजस) ही हूं; यह समझ भ्रम है। इसी प्रकार जाग्रत्में हमारी बुद्धि बहिर्मुख सी होकर अर्थात् देहाभिमानके कारण यह बाहर, यह भीतरकी कल्पना करके, इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंको देखती है। यहाँ भी हम देखनेवाले हैं, यह ठीक है; किन्तु हम केवल बाहरी विषयोंको देखनेवाले (बहिष्प्रज्ञ-विश्व) ही हैं; यह ठीक नहीं है। क्योंकि हम स्वप्न देखना छोड़कर जाग्रत्में आ जाते हैं और जाग्रत् छोड़कर स्वप्नमें चले जाते हैं। ये अवस्थाएँ परस्पर व्यभिचरित होती हैं अर्थात् एकके रहनेपर दूसरी नहीं रहती।

राजा जनकने स्वप्न देखा कि वे भिखारी हैं और कई दिनके भूखे हैं। किसी प्रकार मिली भिक्षासे खिचड़ी बना रहे हैं। उसी समय दो लड़ते साँड़ आये और उन्होंने खिचड़ी गिरा दी। अब दुःखके मारे जनक रो पड़े। नींद टूट गयी। देखते हैं कि वे तो राजसदनमें हैं। उन्हें धुन चढ़ी : 'यह सत्य या वह सत्य ?' अन्तमें अष्टावक्रजीने समझाया कि 'न तुम राजा, न भिखारी। न यह सत्य, न वह सत्य। दोनों अवस्थाएँ तुम्हारी नहीं हैं। स्वप्नसे जाग्रत् और जाग्रत्से स्वप्नमें जाना-आना पड़ता ही है। अतः इन अवस्थाओंमें किसीको अपनी अवस्था मानकर उसके हृदयसे राग-द्वेष करना योग्य नहीं है।' कोई विद्वान् समझते थे कि उनको तर्कमें कोई पराजित नहीं कर सकता। एक दिन स्वप्नमें उन्होंने देखा कि वे एक अन्य विद्वान्से पराजित हो गये। जागनेपर पहले तो दुःख हुआ; किन्तु विचार करते ही बात समझमें आ गयी कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्नमें मैं जिससे पराजित हुआ, वह तो मेरी ही बुद्धिवृत्ति थी। इसी प्रकार जाग्रत्के भी सब व्यवहार अपनेमें अपनेसे ही हो रहे हैं।

श्रुति कहती है कि "जो विज्ञाता है, उसके विज्ञानका लोप कभी नहीं होता।" अब इस बातको आगे अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

इसलिए वह आत्मा अदृश्य है। क्योंकि अदृश्य है अतः अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य है। अलक्षण है, चिह्न-रहित है। तात्पर्य यह कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता; इसलिए अचिन्त्य है। इसीसे शब्दोंके द्वारा अवर्णनीय, अनिर्देश्य है। वह एकात्मप्रत्ययसार है। जाग्रत्, स्वप्नादि अवस्थाओंमें जो अव्यभिचारी एक-सा रहनेवाला है—उसीके प्रत्ययसे अनुसरणीय है। अथवा जिस तुरीयतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेमें एकमात्र आत्म-प्रत्यय ही सार-प्रमाण है, वह तुरीयतत्त्व एकात्मप्रत्ययसार है; क्योंकि श्रुति कहती है : 'आत्मा है, इसी प्रकार उपासना करे!'

लोग कहते हैं कि हम परमात्माको तो जानते ही नहीं; किन्तु संसारको जानते हैं। अतः जिसे जानते हो, उधरसे मन हटाओ। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि परमात्मा नहीं, अपने सगे-सम्बन्धी परमात्मा नहीं, अपना शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार परमात्मा नहीं। इधरसे चित्त हटाओ। जिसे तुम ईश्वर नहीं मानते, वहाँसे चित्त हटा लो। यही ईश्वरप्राप्तिका उपाय है। ज्ञानकी प्रक्रिया यही है कि जिसे देखना है; उससे भिन्नसे मन हटा लो। घड़ी देखना है तो फूलसे और फूल देखना है तो घड़ीसे मन हटाना ही पड़ेगा। एक कालमें एकका ही ज्ञान हो सकता है। अतः ईश्वरको जाननेके लिए जो भी ईश्वरसे अतिरिक्त जान पड़े, उधरसे मन हटा लो। इसीको निषेधशास्त्र कहते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो परमात्मा नहीं है, उधरसे मन हटाओ। परमात्मा 'अदृष्ट' है। वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जाता। यहाँ 'दृष्ट' शब्द ज्ञानेन्द्रियोंसे देखे जानेवाले पदार्थोंके लिए है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सबके सब पदार्थ सत्य नहीं हैं, क्योंकि कभी एक शब्द, कभी दूसरा। कभी शब्द रहता है, कभी नहीं रहता। इसी प्रकार रूप-रसादिकी भी दशा है। ये सब कालपरिच्छिन्न हैं अर्थात् एक समय रहते हैं, एक समय नहीं रहते। देशपरिच्छन्न हैं अर्थात् एक स्थानमें रहते हैं, दूसरे स्थानमें नहीं रहते। वस्तुपरिच्छिन्न हैं अर्थात् एक वस्तुमें हैं, दूसरीमें नहीं। ऐसे पदार्थ परमात्मा नहीं हो सकते।—**सन्तो आवै-जाय सो माया।**

जो आने-जाने वाले पदार्थ हैं, वे माया हैं। ये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द वाध्य हैं। सदा नहीं रहते हैं तब भी एकरस नहीं रहते। विकारी हैं। इनका ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष है। अतः ये परमात्मका स्वरूप नहीं हो सकते। अतः दृष्टका निषेध करके मन इधरसे हटाओ—अगन्ध, अरस, अरूप, अस्पर्श, अशब्द। अर्थात् हम ज्ञानेन्द्रियोंसे परमात्माको देख नहीं सकते। अतः जबतक ज्ञानेन्द्रियोंसे देखेंगे, विषयोंको देखेंगे; तबतक हम परमात्माको कैसे पहचानेंगे?

ज्ञानके दो पहलू हैं—जानना, न जानना। ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्द-स्पर्शादि प्रतीत होते रहते हैं, तब भी परमात्मा है और ये नहीं प्रतीत होते, तब भी परमात्मा है। आत्मा इस ज्ञात होते और न होते दोनोंसे विलक्षण है। 'अदृष्ट'का एक अर्थ यह कि ज्ञानेन्द्रियोंसे जो दीखता है, वह नहीं। दूसरा अर्थ जिसमें दृश्य नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। क्योंकि अदृष्ट है, अतः व्यवहार्य नहीं है। व्यवहार क्या? यह शत्रु—यह मित्र, यह प्रिय-यह अप्रिय, यह अच्छा, यह बुरा; यह धर्म-यह अधर्म। लेकिन आत्मा व्यवहारका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषय नहीं है। समस्त व्यवहार भेदज्ञानके अनुसार ही होता है। जो किसी ज्ञानेन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता, उसके साथ कोई व्यवहार कैसे हो सकता है? व्यवहार तो उसके साथ होता है जो ज्ञानेन्द्रियोंमेंसे किसीका विषय हो। आत्मा ज्ञानेन्द्रियका विषय नहीं, अदृष्ट है, अतः व्यवहारका इससे सम्बन्ध नहीं।

अभेदज्ञानमें, अद्वैतमें व्यवहार सम्भव नहीं है; क्योंकि उसमें तो सब अपना स्वरूप है। माता, पुत्री, बहिन, पत्नीके भेदज्ञानसे व्यवहार चलता है। कल्पित भेदकी प्रतीतिमें परम्परा कल्पित व्यवहार ही योग्य है। जो जिस सम्प्रदायमें, जिस समाजमें है; उसकी परम्परासे कल्पित व्यवहार ही उसके लिए योग्य है। तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी व्यवहार तो अपने समाज, सम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार ही होगा। जो व्यवहारको परमार्थ मान लेते हैं उनमें एक ही प्रकारके व्यवहारका आग्रह आ जाता है। ऐसा व्यवहार ही श्रेष्ठ है, इस आग्रहसे राग-द्वेष, साम्प्रदायिक—संघर्ष होते हैं। अतः व्यवहार तो कल्पित रीतिसे ही चलते हैं। सब अपने-अपने धर्मका पालन करें और उसमें आस्था रखें। व्यवहार अपने-परायेका विचार करके धर्मके अनुसार, कानूनके अनुसार, सामाजिक नियम-मर्यादाके अनुसार, होता है। तत्त्व अव्यवहार्य है। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियोंसे वह ग्रहण नहीं होता। हम हाथसे उसे पकड़ नहीं सकते। पैरसे वहाँ तक पहुँच नहीं सकते।

यहाँ यह न समझ लिया जाय कि आत्माका यह लक्षण हो जायगा कि 'जिसमें कुछ न हो, वह ब्रह्म।' इसलिए आगे कहा गया है कि उसका कोई लक्षण, कोई चिह्न नहीं है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका विषय न होनेसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका कोई चिह्न नहीं; अतः वह अनुमानका विषय भी नहीं है। क्योंकि किसी वस्तुका कोई चिह्न दीखे, तभी उसका अनुमान किया जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संसार है, अतः इसको बनानेवाला परमात्मा होगा; यह अनुमान किया जाता है। लेकिन किसीने कभी परमात्माको संसार या संसारकी कोई वस्तु बनाते देखा है? घड़ेको बनाते कुम्हारको देखते हैं, तब घड़ा देखकर कुम्हारका अनुमान करते हैं। परमात्माको संसार बनाते किसीने देखा नहीं, अतः इस प्रकारके सब अनुमान केवल विश्वासमूलक हैं। अनुमानके द्वारा परमात्माकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जो बुद्धिका द्रष्टा है, बुद्धि उसका अनुमान नहीं कर सकती।

अलक्षणका अर्थ अलिंग भाष्यकारने किया। क्योंकि श्रुतिमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** कहा गया है। यह असत् नहीं; यह सूचित करनेके लिए सत्य जड़ नहीं है, यह सूचित करनेके लिए ज्ञान और परिच्छिन्न नहीं है—यह सूचित करनेके लिए अनन्त कहा है। अतः अलक्षणका अर्थ कार्य-कारण सम्बन्धसे सर्वथा रहित हुआ।

बुद्धिके द्वारा परमात्माका चिन्तन नहीं हो सकता। जो प्रत्यक्ष नहीं और अनुमानका विषय नहीं, वह चिन्त्य नहीं होगा। जितना चिन्तन होता है, संस्कारजन्य होता है। ब्रह्म बुद्धिका विषय, बुद्धिका कर्म नहीं होता। जैसे हम पुष्पके सम्बन्धमें विचार करते हैं, तब पुष्प बुद्धिके सम्मुख आता है, बुद्धिका कर्म बनता है। लेकिन इस प्रकार बुद्धिका विषय ब्रह्म नहीं होता। **यस्यामतं तस्य मतं**। ब्रह्म जिसकी बुद्धिका विषय नहीं है, उसीने ब्रह्मको पहिचाना। जिसने ब्रह्मको बुद्धिका विषय बनाया, उसने ब्रह्मको जाना ही नहीं। जो बुद्धिका विषय नहीं, शब्दोंमें उसका निर्देश नहीं हो सकता। किसी शब्दके द्वारा परमात्माका वर्णन नहीं हो सकता।

जब ये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि परमात्माको जाननेमें समर्थ ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं हैं तो इन्हें रोक दो। इनको रोक देनेपर देखो, कौन रह गया? रह गया केवल 'मैं'। केवल एक आत्मप्रत्ययसार रहा, वही तुरीयतत्त्व है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः आती हैं, चली जाती हैं। इन तीनों अवस्थाओंमें एक 'मैं' समान रूपसे रहता हूँ; यही आत्मा है। यह तीनों अवस्थाओंमें एकरूप बना रहता है। यह अपने बिना न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। इन तीनोंमें और तीनोंके बिना भी मैं रहता हूँ। यही आत्मा है, यही तुरीयतत्त्व है। इसीका अनुसरण करके परमात्माको ढूँढ़ो।

आत्मेत्येवोपासीत । श्रुति कहती है कि वह परब्रह्म परमात्मा कोई दूसरा नहीं है, अपना आत्मा ही है। जिस 'मैं'के बिना संसारका कोई व्यवहार नहीं होता, यह आत्मप्रत्यय है। 'इदं'के रूपमें परमात्माको देख पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि समस्त दृश्य जड़ है, नाशवान् है, विकारी है। अतः 'यह'के रूपमें देखते हैं तब तक परमात्मा देखा नहीं जा सकता। लेकिन 'यह'के बिना भी 'मैं' रहता है। अतः 'यह' अनित्य है और 'मैं' नित्य है। जो नित्य है, वही परमात्मा है। अतः परमात्माकी प्राप्ति 'मैं'के रूपमें ही होगी।

अन्तःप्रज्ञत्वादिसे जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अभिमानियोंके धर्मोंका प्रतिषेध किया गया। **प्रपंचोपशमम्** से जाग्रत् आदि अवस्थाओंके धर्मोंका अभाव बतलाया जाता है। यह तुरीयतत्त्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका साक्षी, इन अवस्थाओंका अधिष्ठान, इनका प्रकाशक है। ये तीनों अवस्थाएँ इस तुरीयमें कल्पित हैं। अन्तःप्रज्ञत्वादिका निषेध करके अभिमानीका निषेध और **प्रपंचोपशमम्** कहकर जाग्रत् आदि अवस्थाओंका निषेध हुआ। आत्मा न कोई स्थान है, न स्थानी। न विषय है, न विषयी। वे यह और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में, यहाँ-वहाँ, अब-तब सब अपने स्वरूपमें ही कल्पित हैं। जो श्रोता है, जो वक्ता है; जो श्रोतापन एवं वक्तापनका अभिमान है, जो श्रवण और वचन है; जो श्रवण-वचनका विषय है—यह सब इसी रूपमें अपना आत्मा है। वह ज्योंका त्यों, एकरस, अनन्त, परिपूर्ण है।

इसलिए वह शान्त-अविकारी है। क्योंकि वह भेदरहित है, अद्वैत है, अतः शिव है। उसे चतुर्थ अर्थात् तुरीय मानते हैं; क्योंकि वह प्रतीत होनेवाले तीन पादोंसे विलक्षण है। वही आत्मा है। वही ज्ञातव्य है। अतएव जैसे रस्सी अपनेमें प्रतीत होनेवाले सर्प, भूच्छिद्र (दरार), दण्ड आदिसे सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार तत्त्वमसि प्रभृति श्रुतियोंका अर्थस्वरूप आत्मा है। 'वह अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है,' 'द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता' आदि श्रुतिवाक्योंमें उसीका प्रतिपादन किया गया है। वही ज्ञातव्य है, यह बात भूतपूर्व गतिसे कही गयी है; क्योंकि उसका ज्ञान होनेपर द्वैत रहता ही नहीं है।

शान्तका अर्थ भाष्यकारने किया **अविक्रियं** अर्थात् निर्विकार। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

> **आत्मा यदि भवेद्दुःखी कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।**
> **दुःखिनः साक्षिता नास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा॥**
> **नर्ते स्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।**
> **धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः॥—उ० सा०**

'मैं दुःखी हूँ' यह अनुभव होता है। अतः इस दुःखी होने रूप वृत्तिका कोई साक्षी है। कम दुःख, अधिक दुःख अथवा सुख, ये अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, लेकिन इनके आने-जानेमें अपना आपा ज्यों-का-त्यों रहता है। यदि 'मैं' दुःखी होता तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दुःखीपनेकी निवृत्तिके साथ 'मैं' भी चला जाता। लेकिन मैं सुख-दुःख और इनके अभावमें भी ज्योंका त्यों रहता हूँ। क्योंकि यदि आत्मा दुःखी या सुखी हो तो इस दुःखीपन या सुखीपनका साक्षी कौन होगा? सुख-दुःख, ये एक प्रकारके चित्तके रोग हैं। यह सहज स्थिति नहीं है। अपना आत्मा इन दोनोंका साक्षी, इनसे विलक्षण है। क्योंकि जो साक्षी है, वह विकारी नहीं होता। वह तो बुद्धिके सहस्र-सहस्र विकारोंका द्रष्टा है अतः अपना स्वरूप निर्विकार है। जिसे आत्माके स्वरूपका बोध हो गया, उसके लिए अशान्ति नामकी कोई अवस्था नहीं है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित जिसने अपने आपको जान लिया, उसके लिये शोक नहीं रह जाता।

हम लोग बातचीतमें समाचारपत्रमें, सभी व्यवहारमें सबसे अधिक 'मैं' शब्दका उपयोग करते हैं। मैं, मेरा, मेरे लिए, मुझे, मुझसे—ये शब्द भाषाके प्रयोगमें सबसे अधिक प्रयुक्त होते हैं; किन्तु 'मैं'का अर्थ हम नहीं जानते। यह शरीर जिसपरसे चमड़ा हटा दिया जाय तो इसे मक्खी, मच्छर, चींटियाँ चट कर जायें, यह हमारा 'मैं' नहीं है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि 'मैं' नहीं। इसमें अभिमान करके स्थित जीवाभासको भी 'मैं' नहीं कहते। 'मैं' का अर्थ अपरिच्छिन्न, अखण्ड आत्मा।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

जो आत्माके स्वरूपको जान लेगा, वह किस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करेगा, किस भोक्ताके लिए शरीरके पीछे जलेगा? उसको

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लौकिक-पारलौकिक कौनसी इच्छा हो सकती है जिसके लिए वह शोक करेगा ? क्योंकि वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिपूर्ण ब्रह्म है। उससे पृथक् कोई सत्ता स्थिति है ही नहीं।

जाग्रत् अवस्थामें विपरीत पदार्थ एवं स्थितिकी प्राप्ति दुःख देती है। स्वप्नावस्थामें अनुकूल कल्पना सुख और विपरीत कल्पना दुःख देती है। सुषुप्तिमें अज्ञान ही दुःख है। 'अमुक कामका समय था, देरसे सोकर उठनेसे वह काम रह गया।' इस प्रकार सुषुप्तिमें अज्ञानसे दुःख होता है। लेकिन अपने आत्मदेव तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति किसीसे दुःखी नहीं होते। सुख-दुःख, अच्छाई-बुराईके आने-जानेसे इनका कुछ नहीं बिगड़ता। ये सदा विक्षेपशून्य, शान्त रहते हैं।

जो किसी प्रकार परिणामको न प्राप्त हो, वह अपरिणामी-अविक्रिय, शान्त है। यह संसार जो हम देख रहे हैं, इसमें कहीं विक्षेप, कहीं मूढ़ता और कहीं शान्ति दीख रही है। जो दोषदर्शी है, उसे सर्वत्र दोष दीखते हैं। जो गुण-दर्शी है, उसे सर्वत्र गुण दीखते हैं। जो परमात्मदर्शी है, उसे सर्वत्र परमात्मा दीखता है। यह दृष्टिका अन्तर है। जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें, सर्वत्र यह आत्मा एकरस शान्त है; किन्तु हमारी दृष्टि तो उसकी ओर नहीं है। हम तो उन वस्तुओंको देखते हैं जो क्षणिक सुख या दुःख देती हैं। हम अपने आपको न देखकर अन्यको देखते हैं। अतः जिज्ञासुको अपने आपको देखना चाहिए। यह अपना स्वरूप शान्त है, अविकारी है।

जिस समय जाग्रत्, प्रपंच, स्वप्न या मनोराज्यजन्य विक्षेप तथा सुषुप्तिजन्य अज्ञान है, उस समय भी आत्मा अविक्रिय ही है, यह बतानेके लिए शान्त कहा गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शिवम् अर्थात् प्रपंच जिस समय है, उस समय भी आत्मा ही है। शीङ् स्वप्ने शेरते अस्मिन् इति शिवम्। इस 'शिव' शब्दका सुषुप्तिसे सम्बन्ध है। जिनमें सब सो जाते हैं, वह शिव। तुम जब सोते हो, घर, धन, स्त्री, पुत्र, यहाँ तक कि इस शरीरको भी छोड़कर सोते हो। हमें सुषुप्ति प्रतिदिन यह बतलाती है कि जो दृश्य है, वह हमारा प्रेमास्पद नहीं है। उसे हम छोड़कर सो जाते हैं। जो द्रष्टा है, वह हमारा प्रेमास्पद है। वही शिव है। सुषुप्ति तो अज्ञानग्रस्त होनेके कारण 'अशिव' है; क्योंकि सुख-दुःख मिट जानेपर भी उनके बीज उसमें रहते हैं। सुख-दुःखके बीजसे रहित निर्बीज आत्मा 'शिव' है।

शिवके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुत विचार है। संहारकर्ता रुद्र शिवके वास्तविक रूप नहीं हैं। निराकार रुद्र भी शिव नहीं है। सगुण-साकार अनुग्रह-विग्रह गंगाधर, नीलकण्ठ, त्रिनयन शिव भी शिवके वास्तविक रूप नहीं हैं। तिरोधान क्रियाकी उपाधिसे शिवमें निराकारता कल्पित है। सगुण साकार शिव भी शक्तिमान् हैं-अनुग्रह करनेके लिए उन्होंने यह विग्रह रूप बनाया है। यह भी उनका वास्तविक रूप नहीं है।

जहाँ अज्ञान और अज्ञानका कोई कार्य नहीं है, वह शिव है। जहाँ पंचकृत्य नहीं है, वे हैं शिव। यह पंचकृत्य हैं—१. उत्पत्ति, २. स्थिति, ३. संहार, ४. तिरोधान, ५. अनुग्रह, पञ्चकृत्यः परमेश्वरः ये परमेश्वरके पाँच कृत्य कहे गये हैं। ये पाँचों कृत्य इन्हीं पाँच उपाधियोंसे होते हैं। जिनकी दृष्टि उपाधियोंपर है, वही इन 'पंचकृत्य परमेश्वर' को देखते हैं। वे उपाधिसे रहित शिवके वस्तुरूपको नहीं देखते। इन पाँचों कृत्योंमें विद्यमान एवं पाँचों कृत्योंसे विलक्षण शिव है। वही अपना आत्मा है।

जाग्रदवस्थागत दोषके निवारणके लिए प्रपंचोपशमम् स्वप्नगत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दोषके निवारणके लिए शान्तम् और सुषुप्तिगत दोषके निवारणके लिए शिवम् कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ और इनके विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये तीन अभिमानी-ये कोई भेद आत्मामें नहीं हैं, यह कहनेके लिए अद्वैतम् कहा गया है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, कर्ता-कर्म-कृत्य, भोक्ता-भोग-भोग्य आदि कोई त्रिपुटी, कोई द्वैत या इनमेंसे एक भी वह नहीं है। एक शब्द संख्यावाचक है जो दोकी अपेक्षासे है; किन्तु आत्मा अद्वितीय है। एक संख्यामें गुण होता है—जैसे एक-एक दो। भाग भी होता है—एक बटे दो। परन्तु अद्वितीयमें गुणा-भाग नहीं है। वह हर हालतमें अद्वितीय ही रहता है।

वह एक कि दोय न एक, न दोय
यहाँको वहाँ न यहाँ, न वहाँ।

संख्याका निषेध करनेके लिए अद्वैत कहा गया है। द्वैत सदा ज्ञानका विषय होता है, ज्ञानका आश्रय नहीं होता। जहाँ भी कोई दूसरी वस्तु दीखेगी, उसका ज्ञान होगा। वह कहीं दीखेगी, किसी समय दीखेगी, कुछ होगी और उसका एक द्रष्टा होगा। अतः वह देश, काल तथा वस्तुसे परिच्छिन्न होगी। द्रष्टा पूर्ण है और अधिष्ठान भी पूर्ण है। अतः पूर्ण दो तो हो नहीं सकते, दोनों एक हो जायेंगे, अर्थात् अन्तःकरणोपहित चैतन्य और रज्जूपहित चैतन्य जहाँ एक हो जायेंगे, वहाँ सर्प कोई वस्तु नहीं रहेगी।

ये जितने दृश्य हैं, इनका आधार कोई अन्य पदार्थ नहीं है। इनकी अपेक्षासे ही इनका देश-काल प्रतीत हो रहा है। देश-काल दोनों विषयकी अपेक्षासे हैं और विषय देश-कालकी अपेक्षासे हैं। अतः देश, काल, वस्तु ये तीनों सापेक्ष होनेसे अवास्तविक हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इनकी प्रतीति ज्ञानसे होती है। द्रष्टा देश, काल, वस्तु तीनोंको देखता है। द्रष्टा न हो तो ये तीनों प्रतीत न हों। अतः द्रष्टा ही इनका अधिष्ठान भी है। तात्पर्य यह निकला कि अपनेमें, अपनेको ही, स्वयं ही यह देश, काल, वस्तुके रूपमें देख रहा है। अपनी आत्मासे भिन्न देश, काल, वस्तु नहीं है।

भ्रान्ति इसमें यह है कि हम अपनेको शरीर और दृश्यको अपनेसे भिन्न समझ रहे हैं अथवा अपनेको जीव तथा अधिष्ठान परमात्माको अपनेसे भिन्न समझ रहे हैं। जब हमने अपनेको परिच्छिन्न कर लिया तो आत्मा भी परिच्छिन्न हो गया। परिच्छिन्न हो गया तो भिन्न दीखने लगा। शरीरका नाम-रूप और पुष्पका नाम-रूप, ये दोनों एक ही अधिष्ठानमें दीख रहे हैं। अतः देह और पुष्प दोनों दृश्य हैं। दृश्य दृष्टिसे भिन्न नहीं और दृष्टि द्रष्टासे भिन्न नहीं है। अतएव भिन्नताकी प्रतीति भ्रान्ति है। भ्रान्तिका स्वरूप भेदभान नहीं, भेद-बुद्धि है। भेद-भान तो ब्रह्मकी अद्वितीयताका साधक है, बाधक नहीं। अतः अद्वैत कहनेका तात्पर्य यह है कि अधिष्ठानसे दृश्य कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं।

चतुर्थं मन्यन्ते भगवान् भाष्कारके मंगलाचरणमें यह बात प्रारम्भमें ही आ चुकी है—**मायासंख्यातुरीयम्**। अर्थात् मायाकी संख्यासे, उसकी अपेक्षासे सत्य तुरीय है। हमें स्थूल विश्वका, सूक्ष्म विश्वका, कारण विश्वका अनुभव होता है। यह स्थूल-सूक्ष्म-कारण मायासे हमें प्रतीत होता है। यह वास्तविक नहीं है। तत्त्व तो एक ही है; किन्तु मायासे यह जो हमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रतीत होता है, उससे विलक्षण होनेके कारण इसे तुरीय या चतुर्थ मानते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक ही कारण सूक्ष्म बनकर पाँच कैसे हो गया ? फिर पाँच अपञ्चीकृत सूक्ष्म परस्पर मिले तो पञ्चीकृत होकर स्थूल कैसे हो गये ? सूक्ष्म और सूक्ष्म मिलकर स्थूल कैसे हुआ ? अपनी कारण-रूपताका त्याग इन तत्त्वोंने कैसे कर दिया ? मिट्टी या जल जब अपंचीकृत थे, तब सूक्ष्म और पञ्चीकृत हुए, तब स्थूल—ऐसा क्यों ? वास्तविक बात तो यह है कि जैसे स्वप्नमें पञ्चमहाभूत प्रतीत होते हैं वैसे ही जाग्रत्‌में प्रतीत होते हैं। वे न कारण है, न सूक्ष्म और न स्थूल। वे सब दृष्टिमात्र हैं। अपनी आत्मासे भिन्न वे कुछ नहीं हैं। अतः इनकी कारण, सूक्ष्म, स्थूलरूपमें प्रतीति माया है।

प्रथमावस्था जाग्रत्‌का अभिमानी विश्व, द्वितीयावस्था स्वप्नका अभिमानी तैजस और तृतीयावस्था सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थाएँ और उनके अभिमानी कल्पित हैं। ये अवस्थाएँ और इनके अभिमानी जिस अधिष्ठानमें, दृङ्मात्र वस्तुमें कल्पित हैं, उसमें तुरीयत्व केवल समझनेके लिए आरोपित है। **चतुर्थं मन्यन्ते**—उसे चतुर्थ मानते हैं; वह वस्तुतः चतुर्थ है नहीं। उसमें चतुर्थत्व भी कल्पित है।

वह आत्मा परोक्ष होगा ? यह परोक्षताका भ्रम लोगोंमें घर कर गया है। परोक्षता सदा परिच्छिन्न वस्तुमें होती है। अपरिच्छिन्न वस्तु कभी परोक्ष हो नहीं सकती। आत्मा साक्षादपरोक्ष है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। ऐसा साक्षादपरोक्ष शान्त, शिव, अद्वैत, स्वयंप्रकाश स्वयं अपनी आत्मा है। वही ब्रह्म है। ब्रह्म और आत्मा शब्द पर्यायवाची हैं, जैसे : घट और कलश। वह आत्मा हमें होना नहीं है। वह तो हमारा स्वरूप है। उसे तुमने अबतक जाना नहीं, सिर्फ जान लेना है।

स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या—वह विज्ञेय है, यह बात भी भूतपूर्व अवस्थाकी दृष्टिसे कही गयी। अज्ञान-दशामें लोग समझते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं कि हम ब्रह्मको नहीं जानते, आत्माको नहीं जानते। वे उसके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। अज्ञात ब्रह्म ही कल्पनाका विषय, संसार बन जाता है। अज्ञात आत्मा कल्पनाका आधार बनकर विषयी जीव बन जाता है। अज्ञात ब्रह्म चेतनके रूपमें कल्पित होकर ईश्वर और जड़के रूपमें कल्पित होकर जगत् बन जाता है। अज्ञात ब्रह्म अनन्त है। उसमें अहमर्थके रूपमें जीव और इदमर्थके रूपमें संसारकी कल्पना होती है। फिर जड़ इदमर्थके परोक्ष कर्ताके रूपमें ईश्वरकी कल्पना होती है। यह सबकी सब ब्रह्मके स्वरूपके अज्ञानका विलास है। अपना आपा ही अज्ञताका विषय बनकर अन्य 'इदं' बन जाता है और अज्ञताका आश्रय बनकर 'अहं' बन जाता है। यह अज्ञता भी कल्पित है। इस अज्ञताका विषय कल्पित और अज्ञताका आश्रय अभिमानी भी कल्पित है। जब ब्रह्मात्मैक्यबोधसे ये कल्पित और कल्प्य दोनों मिथ्या हो गये, तब दृङ्मात्र वस्तु रह गयी। उसीमें जीव, ईश्वर, संसार आदिकी प्रतीति हो रही है। आत्मा ही संसार, जीव, ईश्वरके रूपमें भासमान है। एक ही नानाके रूपमें भासमान है। एक ही विभिन्न रूपमें प्रतीत हो रहा है।

ज्ञानका स्वरूप क्या है? संसारके मिथ्यात्वका ज्ञान नहीं होता, अपने स्वरूपका ज्ञान होता है। अपने स्वरूपके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर संसारमें जो भेदकी प्रतीतिमें सत्यत्व-बुद्धि है, वह निवृत्त हो जाती है। संसारके मिथ्यात्वका ज्ञान तो अन्तःकरणमें होगा। अतः जिसे संसारके मिथ्यात्वका ज्ञान होगा, उसका अन्तःकरण सच्चा बना रहेगा। क्योंकि 'संसार मिथ्या है' यह अन्तःकरणकी वृत्ति उसमें बनी रहेगी। अतः अपनी आत्माकी अपरिच्छिन्नताके ज्ञानसे अपने स्वरूपके अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इस अज्ञान-निवृत्तिसे संसारमें जो सत्यत्व-बुद्धि है, वह निवृत्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो जाती है। इसी दृष्टिसे संसारको मिथ्या कहा जाता है। श्रुतिका उपयोग अज्ञानियोंकी दुःख-निवृत्ति है। परमार्थतः तत्त्व-ज्ञानीके लिए श्रुति नहीं है। जितने शास्त्र हैं, सब अविद्यावान्को विषय करते हैं अर्थात् अज्ञानीको मार्ग दिखलाते हैं। तत्त्वज्ञ तो शास्त्रसे ऊपर उठ जाता है। अतएव **स विज्ञेयः** यह भूतपूर्वगतिसे अज्ञानीकी अवस्थाको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है। ज्ञान हो जानेपर तो ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रह ही नहीं जाता। वहाँ तो द्वैतका सर्वथा बाध हो जाता है।

आज जनसामान्यकी क्या स्थिति है ? तुम्हारी मान्यता है कि हम मनुष्य हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान-ईसाई, अमुक देश, अमुक सम्प्रदाय, अमुक कुटुम्बमें उत्पन्न एक व्यक्ति है। इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि तुम अपनेको सूक्ष्मशरीर भी नहीं—हड्डी, मांस, चमड़े आदिका यह स्थूल-शरीर मानते हो। यह इसलिए मानते हो कि तुमने अपने सम्बन्धमें कभी विचार नही किया। इसलिए अपना आत्मा कैसा है, यह जानना चाहिए। इसे जाने बिना दुःखसे तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता। संसारके जितने दुःख हैं, वे अपनेको शरीर मान लेनेसे, अपनेको छोटा मान लेनेसे है। जैसे कोई नरेश अपनेको भिक्षुक मानकर दुःखी हो रहा हो, वही तुम्हारी अवस्था है। अतः तुम्हें अपना स्वरूप जानना चाहिए।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

श्रुति कहती है कि आत्मा देखने योग्य है। अबतक तुमने अपनेको तो देखा नहीं, केवल अनात्माको, अपनेसे अन्यको देखा। अब आत्माको देखो। देखनेका उपाय क्या है ? पहले अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर श्रवण करो और उस श्रवण किये ज्ञानका मनन करो, फिर उसपर विचार करो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !

श्रुति कहती है कि अभी तो तुम सो रहे हो। अब उठो! जागो! और लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए, अविद्या-ध्वंसके लिए डट जाओ। अभी तुम यह जो नाना प्रकारके दृश्य देख रहे हो, यह स्वप्न है। इस स्वप्नसे जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर सुनो। श्रेष्ठ पुरुष वे हैं, जो जाग रहे हैं। यही दुःखकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय है।

'आत्माको देखो-जानो' इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा ज्ञानका विषय है। जैसे किसीने कहा कि 'सब चीजें तलवारसे काट दो!' अब यह बात स्वतः समझ लेनी चाहिए कि जो वस्तुएँ तलवारसे कटने योग्य हैं, उन्हींको काटनेको कहा गया है। वहाँ जो पत्थर या लोहेकी वस्तुएँ हैं, उन्हें काटनेको नहीं कहा गया; क्योंकि वे तलवारसे कट नहीं सकतीं। अतः प्रश्न उठा कि जब आत्मा ज्ञानका विषय नहीं है, तब **स विज्ञेयः** उसे जानना चाहिए, **आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः**—'आत्मा देखने योग्य है' यह क्यों कहा गया? इसलिए कि आत्मा देखा तो जा नहीं सकता।

यहाँ यह विवेक करना पड़ेगा कि कौन-सी वस्तुएँ जानी जाती हैं और कौन उन्हें जानता है। आत्मासे अन्य जो भी दीखता है, एकबार अपनेको उससे पृथक् करो। जाननेके जो कारण हैं, उनको भी हटा दो। तब देखो कि तुम क्या हो। जबतक अपने करण तथा करणके विषयको अपनेसे पृथक् नहीं करोगे, तबतक अपने आपको नहीं जान सकते। अतः **स विज्ञेयः** का तात्पर्य है कि अबतक तुम जो कुछ जान रहे हो, इससे अपनेको पृथक् करो। हमारा विज्ञान उलटी दिशामें जा रहा है। हम अन्यको देखते हैं, अब उसे रोको। इससे यह होगा कि विज्ञानका कोई विषय नहीं रह जायगा और जब विषय नहीं रहेगा, तब विज्ञानका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कोई अभिमानी नहीं रहेगा; क्योंकि सविशेष विज्ञानका ही अभिमानी होता है। विषय और अभिमानीके न रहनेसे केवल विज्ञान रह गया।

विज्ञानमें कोई परिणाम होता है? नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। जो ज्ञेय नहीं होगा, वह अनेक नहीं हो सकता। जो अनेक नहीं, उसमें परिणाम भी नहीं होगा। अतएव विज्ञान देश-काल-परिच्छेदसहित नहीं होगा। देश-कालका प्रकाशक विज्ञान है। विज्ञानमें स्वगतभेद भी नहीं होगा; क्योंकि भेद देश-काल-परिच्छेदसे होता है। देश-कालका परिच्छेद न होनेसे विज्ञानसे भिन्न अन्य सत्ता भी नहीं। अतः अखंड अद्वितीय विज्ञान ही आत्मा है।

यहाँ 'विज्ञेय' शब्दका तात्पर्य यह है कि तुम जो संसारके विभिन्न पदार्थोंको, देह, मन, बुद्धि आदि अनात्म-पदार्थोंको विषय बनाकर उनके ज्ञानके अभिमानी बनकर ज्ञानको अनेक मान बैठे हो, यह तुम्हारा अज्ञान है। इस अज्ञानको दूर करनेके लिए तत्त्व-ज्ञानकी आवश्यकता है। इस ज्ञान, तत्त्वज्ञानका फल क्या है? यह प्रश्न हम इसलिए करते हैं कि हमारी बुद्धि सांसारिक भोगोंको ही महत्त्व दिये बैठी है। प्रह्लादसे भगवान् नृसिंहने जब वरदान माँगनेको कहा तो प्रह्लाद बोले: 'मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। ये जो त्रिताप-तप्त संसारके जीव हैं, आप इन सबको मुक्त कर दें।' भगवान् हँसे और कहा: 'वत्स प्रह्लाद! बल-पूर्वक सबको मुक्त करना तो ठीक नहीं। तुम पूछकर देखो कि कौन मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें मुक्त कर दिया जाय।'

प्रह्लादने पूछा तो उन्हें कोई मुक्त होनेको उद्यत नहीं मिला। उन्होंने एक ग्रामशूकरसे पूछा: 'तुम मुक्त होगे?'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शूकर बोला : 'मुक्त होनेपर मेरा आहार और शूकरी तो मुझे मिलेगी ?'

'नहीं !'—प्रह्लादके यह कहते ही उसने भी अस्वीकार कर दिया।

यही दशा लोगोंकी है। उनकी बुद्धि विषयोंको महत्त्व दिये बैठी है। वे विचार करते ही नहीं। सोचो कि तुमको बहुत स्वादिष्ट भोजन दिया जाय, किन्तु तुम्हारी जिह्वा दवा लगाकर सूनी कर दी जाय, स्वादका ज्ञान तुम्हें न हो तो उस भोजनसेसे तुमको सुख होगा ? सुख तो पदार्थमें नहीं, ज्ञानमें है। ज्ञान सबका फल है। ज्ञानका फल ? यह प्रश्न नहीं उठता। जीवनमें दुःख है और उसकी निवृत्ति बिना ज्ञानके हो नहीं सकती। अतएव आत्माको जानना चाहिए।

एशियाके एक श्रेष्ठ दार्शनिकने मुझसे बातचीतमें कहा : 'मनुष्यके मनमें भय और लोभ न हो तो उसे धर्म तथा उपासना-का उपदेश नहीं कर सकते।' इसी प्रकार जीवनमें दुःख है या नहीं ? उसकी निवृत्तिके लिए भोगवादियोंने काम पुरुषार्थ माना, किन्तु कामोपभोग सदा प्राप्त नहीं होते और न इन्द्रियाँ भोगमें सदा समर्थ होती हैं। इसी प्रकार धर्म, उपासना योगाभ्यास हैं। ये दुःखकी निवृत्तिके लिए ही विभिन्न साधन हैं; किन्तु इनमें श्रम है और ये नित्य बने नहीं रहते। अवश्य ही दुःख-निवृत्तिका एक ऐसा उपाय है जिसमें पलक गिराने तकका कष्ट नहीं, केवल जानने मात्रसे ही दुःख मिट जाते हैं। वह उपाय है—तुम अपने आपको समझ लो, अपने अविवेकको दूर कर दो। •

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सातवें मन्त्रकी कारिकाएँ

१०.

तुरीयके स्वरूपकी व्याख्या

माण्डूक्योपनिषद्के सातवें मन्त्रपर श्रीगौडपादाचार्यजीकी कारिकाके ये श्लोक हैं :

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः ।

अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत् । एतत्कुतः ? यस्मादद्वैतः । सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात् स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस, विश्वरूप समस्त दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान है । ईशान शब्दकी व्याख्या है प्रभु । तात्पर्य यह है कि वह दुःखनिवृत्तिमें समर्थ है; क्योंकि उसके विज्ञानसे दुःख-निवृत्ति होती है ।

अव्यय—जो व्यय न हो । अर्थात् जो स्वरूपसे व्यभिचरित न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो। व्यभिचरित क्यों नहीं होता ? इसलिए कि अद्वैत है। दूसरे सब पदार्थ रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान मिथ्या हैं। प्रकाशनशील होनेके कारण वह देव है, तुरीय अर्थात् चतुर्थ है और विभु-व्यापक कहा गया है ॥ १० ॥

सब दुःखकी निवृत्तिमें समर्थ तुरीय अपना आत्मा है। जाग्रत्में जितने दुःख आते हैं, वे विश्वको पीड़ित करते हैं। स्वनमें आनेवाले दुःख तैजसको पीड़ा देते हैं और सुषुप्तिमें अज्ञानरूप दुःख प्राज्ञको होता है। किन्तु तुरीयको न जाग्रत् स्पर्श करता है, न स्वप्न और न सुषुप्ति ही। अतएव यदि तुम अपनेको तुरीय समझ लो तो सब दुःख निवृत्त हो जायँगे। दुःख तीन प्रकारके हैं : आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक। एक दुःख वे जो सांसारिक वस्तुओंके रोटी, कपड़ा, आवासादिके न मिलनेसे होते हैं। ये आधिभौतिक दुःख हैं। दूसरे प्रकारके वे दुःख हैं जो आकस्मिक होते हैं। जैसे : वर्षा, आँधी, ओले, अग्नि, बाढ़, भूकम्प आदिसे होनेवाले दुःख। इस प्रकारके दुःख आधिदैविक हैं। तीसरे आध्यात्मिक प्रकारके दुःख वे हैं जो अपने शरीरके भीतर किसी निमित्तसे होते हैं, अर्थात् जो मानसिक रूपमें होते हैं। विचार किया जाय तो अधिकांश दुःख हमारे मानसिक ही हैं।

शरीरमें जो अभावजन्य दुःख है, वह अभाव दूर करके मिट सकता है, यदि अभाव दूर करनेकी परिस्थिति बन सके। आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति देवताओंकी पूजा, यज्ञ आदिसे होती है। आध्यात्मिक दुःख, मानसिक दुःख उपासनासे या मनकी प्रसन्नतासे दूर होंगे। लेकिन इन समस्त दुःखोंकी एक साथ निवृत्ति, सदैवके लिए निवृत्ति चाहते हो तो विचार करो कि तुम सदा दुःखी हो या दुःख आगन्तुक हैं ? दुःख अगन्तुक हैं। कोई दुःख सदा नहीं रहता। अतएव दुःख तुममें नहीं है। अपनी स्थिरता,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानरूपता, एकरसताको समझो। तुम्हें समझमें आ जायगा कि अपनी आत्मा स्वभावसे दुःखरहित है। उसमें दुःखका लेश भी नहीं। तुम तुरीय हो, अतएव सम्पूर्ण दुःख-निवृत्तिमें ईशान, समर्थ हो। यह तुरीय आत्मा देव है। संस्कृतमें 'देव' शब्द अद्भुत है—द्योतनाद् देवः। प्रकाशित करनेके कारण देवता है। हमारी इन्द्रियाँ देवता हैं; क्योंकि वे अर्थको प्रकाशित करती हैं। उनसे हमें बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ देवता हैं, उनका स्वामी इन्द्र है। यह इन्द्र कौन है? जो सबको प्रकाशित करता है। जो द्रष्टा, प्रकाशक है, वह ईश्वर है। वही देवताओंका भी देवता है। वही सच्चा देव है।

यह जगत्, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं; वह देव है। वह तुरीय है, अद्वैत है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें, सम्पूर्ण भावोंमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें, सम्पूर्ण स्थितियोंमें वह एकरस रहता है। वह अद्वितीय, निर्विकार है। उसे दुःख छू नहीं सकते। अतएव उसे, अपने आपको जाननेसे सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। विश्व या जाग्रत्‌में सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि व्यष्टि-समष्टि दोनोंकी ही जाग्रत्-अवस्थामें नाना प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं। संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता लगी ही रहती है। कोई चाहे कि जाग्रत्-अवस्थाका सत्यत्व भी बना रहे, इसमें अभिमान भी बना रहे, इसमें अभिमान भी रहे—इसके पदार्थोंका अभिमान रहे और सम्पूर्ण दुःखोंसे छुटकारा भी हो जाय; ऐसा नहीं हो सकता। तैजस, स्वप्नावस्था अपने नियन्त्रणमें नहीं है। उसमें पता नहीं, कब क्या अकस्मात् अललटप्पू आ जाय। स्वप्न सदा हमारे अनुकूल ही हों, यह भी नियम नहीं है। सूक्ष्मशरीरमें काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष अनेक प्रकारके दोष हैं। अतः यहाँ भी सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं हो सकती। सुषुप्ति अज्ञानात्मक अवस्था है। जहाँ हम कुछ समझते ही नहीं, वहाँ दुःख-निवृत्तिकी कल्पना ही व्यर्थ है। वहाँ अज्ञानरूप दुःखबीज बना हुआ है। इसलिए दुःखकी निवृत्ति किसी भी अवस्थामें नहीं है। दुःखकी निवृत्ति जिस वस्तुमें है, उसी वस्तुका नाम परमात्मा है। अपना जो सच्चा स्वरूप है, उस तत्त्वस्वरूपमें अवस्थान ही सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिका हेतु है।

व्याकरणकी दृष्टिसे विचार करें तो सुख और दुःख इन दोनों शब्दोंमें 'सु' और 'दुः' ये उपसर्ग हैं और 'ख' यह मूलवर्ण है, जो दोनोंमें समान है। 'सु' और 'दुः' उपसर्गोंको पृथक् कर दें तो 'ख' रह जायगा और इन उपसर्गोंको बनाये रहें तो सुख-दुःख पृथक्-पृथक् रहेंगे। उपसर्ग धातुके अर्थको बलपूर्वक बदल देते हैं : **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।** जैसे 'हृ' धातुसे 'हार' शब्द बना। उपसर्ग न हो तो हारका अर्थ गलेमें पहननेकी माला, किन्तु 'प्र' उपसर्ग लग जानेसे यही शब्द 'प्रहार' बन जायगा, जिसका अर्थ होगा मारना। इसी प्रकार संहार, विहार, परिहार, उपहार आदि शब्द भी उपसर्ग लगकर इसी 'हृ' धातुसे बनेंगे और सबके अर्थ भिन्न-भिन्न होते चले जायँगे। इसी रीतिसे एक ही 'ख' 'सु' और 'दुः' इन उपसर्गोंके कारण अनुकूल और प्रतिकूल हो गया। संस्कृतमें 'ख'का अर्थ है आकाश। श्रुति कहती है : खं ब्रह्म। ख अर्थात् आत्मा। जैसे आकाशमें कभी बादल, धूल, धुआँ आदि आते-जाते हैं, किंतु आकाश सदा उनसे अलिप्त-निर्मल रहता है, वैसे ही आत्मा भी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अनुकूलता-प्रतिकूलताके आने-जानेपर भी उनसे अलिप्त ही रहता है। वही अनन्त सुखस्वरूप है।

'सु' और 'दुः' ये दोनों उपसर्ग, विघ्न हैं। जैसे : समाधिमें उपसर्ग। इन्हें दूर कर दो। 'सु' अर्थात् सत्त्वगुणकी उपाधि और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'दुः' अर्थात् रजोगुण और तमोगुणकी उपाधि। तात्पर्य यह कि एक ऐसा सुख है जो सत्त्वगुणमें है; किन्तु रजोगुण और तमोगुण-में नहीं और एक ऐसा दुःख है जो रजोगुण-तमोगुणमें है, किन्तु सत्त्वगुणमें नहीं। लेकिन 'ख'स्वरूप परमात्मा तो सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंमें उनका प्रकाशक होकर रहता है। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका प्रकाशक है। विश्व, तैजस, प्राज्ञका प्रकाशक है। उस तुरीय आत्मामें न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व और न सुषुप्तिकालीन अविद्या-वृत्ति ही है। सुख-दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति केवल उसीमें है।

संसारके प्राणिमात्र आनन्द चाहते हैं। लक्ष्य सबका एक है। लेकिन ये भटक गये हैं। आनन्द कहाँ मिलेगा, इसे जानते नहीं। आनन्द मिलेगा अपने भीतर। आनन्द सबका लक्ष्य है और आनन्दप्राप्तिका साधन भी निर्विवाद रूपसे निवृत्त होना, अन्त-र्मुख होना है। वह साधन है भोगमें नियन्त्रण और उससे निवृत्ति होना, कर्ममें नियन्त्रण और उससे निवृत्ति, इच्छाओंमें नियन्त्रण तथा उनसे निवृत्ति। संसारके आस्तिक-नास्तिक सभी सम्प्रदाय इस साधनको स्वीकार करते हैं। धर्मानुष्ठान, उपासना एवं योगके द्वारा निवृत्ति ही इष्ट है।

कश्चिद्‌ धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्।

कोई धीर पुरुष प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करता है अपनेको नेत्रको, इन्द्रियोंको भीतर लौटाकर। इसमें भक्ति और ज्ञानके सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है। जो प्रत्यगात्माको अपना आपा मानते हैं, उन्हें भी बाहरके विषयसे लौटकर भीतर आना है और जो प्रत्यगात्माको अन्तर्यामी ईश्वर मानते हैं, उन्हें भी। जो वस्तु अपने हृदयमें है, वह अन्तर्यामी हो या अपना आपा हो, वह नित्य प्राप्त तो है ही। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञानसे होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उपासक हो या जिज्ञासु दोनोंको यह श्रुति समान रूपसे स्वीकार करनी पड़ेगी। परमात्माका ज्ञान दोनोंको प्राप्त करना पड़ेगा। ज्ञानके स्वरूपमें केवल भेद है। जहाँ परमात्मा सविशेष है, वहाँ सविशेष ज्ञान परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु होगा और जहाँ परमात्मा निर्विशेष है, वहाँ निर्विशेष ज्ञान परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है। श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि भक्त्याकार परिणत ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए ज्ञानको सभी लोग आवश्यक मानते हैं। अतः दुःख-की निवृत्तिके लिए तुरीय वस्तु परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना ही होगा। उसके ज्ञानके बिना दुःखकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव है।

परमात्माकी प्राप्तिके सम्बन्धमें दो मत हैं। एक कहता है कि अपने हृदयमें ही परमात्माकी प्राप्ति होगी और दूसरा कहता है कि अपने सम्मुखवाले व्यक्तिके हृदयमें हम परमात्मा मिलेगा। लेकिन जो अपने हृदयमें है, वही सम्मुखवाले व्यक्तिके हृदयमें है। देहकी उपाधिसे अन्तःकरण भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। यदि अन्तःकरणमें आरूढ़ परमात्माको पाना है तब तो यह कह सकते हो कि वह यहाँ मिलेगा, वहाँ नहीं मिलेगा; किन्तु जो समस्त अन्तःकरणोंका अधिष्ठान है, सबका द्रष्टा है, सब हृदयोंका प्रकाशक है, सबके मूल उपादानके रूपमें विवर्तित हो रहा है; वह अपने शरीरमें मिलेगा और अन्यत्र नहीं मिलेगा अथवा दूसरे शरीरमें मिलेगा, अपने शरीरमें नहीं मिलेगा—ऐसा भेद करनेकी क्या आवश्यकता है?

जो 'तत्' पदार्थके रूपमें परमात्माका अनुसन्धान करते हैं, वे कहते हैं कि अन्यमें ही परमात्माकी प्राप्ति होगी और जो 'त्वं' पदार्थके रूपमें परमात्माका अनुसन्धान करते हैं, वे कहते हैं कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने हृदयमें ही परमात्माकी प्राप्ति होगी। विचारकी यह प्रक्रिया है कि संसारमें जो कुछ भान हो रहा है, 'अहं'के द्वारा 'अहं'के आधारपर ही हो रहा है। 'इदं'का भान भी 'अहं'को ही होता है। इसलिए 'अहं'के रूपमें परमात्माको ढूँढ़नेसे उसकी प्राप्ति हो जायगी। 'अहं'का मूल अथवा हमारा शुद्ध अहमर्थ जो तुरीय वस्तु है, उसीका अनुसन्धान करना है। इससे सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जायगी।

वह तुरीय वस्तु अव्यय है, विभु है, देव है और **सर्वभावाना-मद्वैतः** है। ये चारों बातें समझमें आ जायँ तो तुम तुरीय वस्तुको समझ लोगे। **निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः**। यह तुरीय वस्तु सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिमें समर्थ है, अर्थात् परमानन्द-स्वरूप है।

'मैं' शब्दका क्या अर्थ? यह पृथक्-पृथक् शरीरोंके अभिमान-के कारण 'मैं' भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है। यह सब पृथक्-पृथक् 'मैं' जिसके शरीर हैं, वह एक है। संसारकी दृष्टिसे यह स्थूल शरीर और 'मैं' शरीरी; किन्तु यह परिछिन्न 'मैं' शरीर है और एक पूर्ण शरीरी है। वह जो पूर्ण 'मैं' है वही आत्मा है। वही तुरीय है। वह विभु है, परिच्छिन्न नहीं है। विभु कहनेका तात्पर्य यह है कि वह प्रत्येक देहमें पृथक्-पृथक् नहीं है, सब शरीरोंमें एक ही है।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। —गीता

भगवान्‌ने गीतामें बताया कि आत्मा 'सर्वगत' है अर्थात् सम्पूर्ण देशमें रहनेवाला एक ही है। वह परिच्छिन्न नहीं अर्थात् उसके टुकड़े नहीं हो सकते। वह भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न बँटा हुआ नहीं है। सब शरीरोंमें एक, अपरिच्छिन्न है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है और सर्वगत, विभु है। एक बात यह भी कि वह अव्यय है अर्थात् उसमेंसे कभी कुछ घटता नहीं है। यह संसार बनता-बिगड़ता रहता है; किन्तु आत्मा सदा एकरस है। जहाँ वस्तु जड़ होगी वहाँ वह रूपान्तरित होगी; किन्तु जहाँ वस्तु चेतन होगी, वहाँ वह रूपान्तरित होती प्रतीत मात्र होगी; क्योंकि यदि चेतन रूपान्तरित हो तो उसका साक्षी कौन होगा? वह दृश्यमात्र रह जायगी, उसका चेतनत्व समाप्त हो जायगा। इसलिए उसमें रूपान्तरण होता नहीं, प्रतीत होता है। इसीको 'विवर्त' कहते हैं। जो वस्तु सर्वदेश, सर्वकालमें परिपूर्ण होगी। उसमें देश-काल भी नहीं होंगे। वह देश-कालकी प्रकाशक होगी। वही तुरीय वस्तु आत्मा है। अतः वह अव्यय है, अविनाशी है।

परमात्मा अव्यय है अर्थात् घटता-बढ़ता नहीं है। बहुत दिनोंतक लोग समझते थे कि गतिमें भार नहीं होता; किन्तु अब वैज्ञानिकोंने पता लगा लिया है कि गतिमें भी भार (वजन) होता है। एक वस्तु यदि यहाँ पावभर है तो आकाशमें कहीं जाकर वह छटाँकभर या तोलेभर ही तौलनेपर रह जायगी। वस्तुमें भार नहीं होता। भार तो वायुके दबावका है। वायुके दबावके अनुसार वस्तुमें भार होता है। परमात्मा वस्तु सत्य है, अतः उसमें भार नहीं है; किन्तु उसमें भार यदि कल्पित कर लें तो वह घटता-बढ़ता नहीं, सदा समान रहता है। परमात्मा अव्यय है अर्थात् अविनाशी है। वह कालसे अपरिच्छिन्न है। भूत, भविष्य, वर्तमान यह काल उसमें नहीं हैं। इसी प्रकार वह देशसे अपरिच्छिन्न है। इसलिए विभु है। कालसे अपरिच्छिन्न है, अतः अव्यय, अविनाशी है। लेकिन वह जड़ नहीं, चेतन है इस बातको सूचित करनेके लिए कहते हैं कि वह देव है। **द्योतनात् देवः**—वह प्रकाशस्वरूप है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। यह देव शब्द संस्कृतमें 'दिव्' धातुसे बना है। 'दिव्' धातु क्रीड़ा, विजयेच्छा, व्यवहार, प्रकाश, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति—इतने अर्थवाली है। आत्मदेव क्रीड़ाप्रिय हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उनका ही खेल है :

कृष्णने कैसी होरी मचाई !
एक ते होरी बने नहिं कबहूँ, या ते करी बहुताई,
यही मन में ठहराई।

एकसे तो क्रीड़ा सम्भव नहीं; अतः बहुत रूपोंमें प्रतीत होने लगे।

एकाकी नारमत, ततो द्वितीयमसृजत।

श्रुति कहती है कि परमात्माको अकेले अच्छा नहीं लगा तब उन्होंने यह द्वितीय—जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ बनाया। स्वयं अनेकरूप हो गये।

खेल प्रारम्भ होनेपर विजिगीषा हुई। परमात्माको अपने पराक्रमको प्रकट करनेकी इच्छा हुई। वह स्वयं इन्द्र, अग्नि, वायु आदि बना और यक्ष बनकर इन सबपर विजयी हो गया। यह उपनिषद्में कथा आती है कि देवताओंके सम्मुख परमात्मा यक्षके रूपमें प्रकट हुआ। उस यक्षके सम्मुख अग्नि एक तृणको जला नहीं सके, वायु उस तृणको उड़ा नहीं सके, इन्द्रको उसका पता नहीं लगा। वही सर्वरूप है, अतः विजयी तो वही है। व्यवहार भी सब वही कर रहा है। विश्व बनकर जाग्रत्का, तैजस बनकर स्वप्नका और प्राज्ञ बनकर सुषुप्तिका समस्त व्यवहार वही कर रहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्युतिका अर्थ है प्रकाश। ये आत्मदेव प्रकाशस्वरूप हैं। समस्त अवस्थाओंके ये ही प्रकाशक हैं। इनका कोई प्रकाशक नहीं। ये स्वयंप्रकाश हैं। संसारके सब पदार्थ, सब अवस्थाएँ बदलती रहती हैं; किन्तु सब वस्तुओंके होने, न होनेको जो देखता रहता है वह सर्वविभासक है। समस्त रूपोंमें इन आत्मदेव, इन परमात्मा-की ही स्तुति की जाती है। सभी उपास्योंके रूपमें ये ही हैं :

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

मोदस्वरूप, आनन्दस्वरूप हैं ये आत्मदेव और मदस्वरूप हैं—'मैं' के रूपमें सर्वत्र ये ही विद्यमान। इनकी अभिव्यक्ति यह समस्त प्रपंच है। यह संपूर्ण दृश्यप्रपंच है आत्मदेवका स्वप्न। यह स्वप्नका दृष्टान्त तो अनेक बार आ चुका है। कान्ति-प्रकाश, तेजस्विताके भी ये ही रूप हैं और सम्पूर्ण गतिके ये ही आधार हैं। तात्पर्य यह है कि 'देव' शब्द जिस 'दिव्' धातुसे बना है, उस धातुके सब-के-सब अर्थ आत्मदेवमें ही पूर्णतः घटित होते हैं।

सर्वभावानामद्वैतः। सम्पूर्ण भावोंमें अद्वैत अर्थात् यह तुरीय-तत्त्व अद्वय है। जितने भी दूसरे भाव प्रतीत होते हैं, वे केवल प्रतीत होते हैं। यह जो देशसे अपरिच्छिन्न, कालसे अपरिच्छिन्न, विभु, अव्यय, चेतनसत्ता है, वे आत्मदेव ही हैं, अद्वैत हैं। संपूर्ण भावोंके प्रतीत होनेपर भी इनमें कोई भाव, कोई अवस्था नहीं है। एक संख्या है। इसमें हजारों अवयवका सन्निवेश है। जैसे : एक बटे दो। दो-तीन एकके जोड़से दो या तीन भी बनता है। परन्तु अद्वयमें न अवयव हैं, न जोड़। अद्वय बटे दो भी नहीं है और अद्वय अद्वयके जोड़ भी नहीं। अतः अद्वय संख्या नहीं है। अखण्डको ही अद्वय कहते हैं। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

११.

विश्वादीनां सामान्य-विशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्याव-धारणार्थम्—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ॥११॥

कार्यं क्रियत इति फलभावः कारणं करोतीति बीजभावः । तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्व-तैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते । प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः । तत्त्वा-प्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम् । ततो द्वौ तौ बीज-फलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिद्ध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

तुरीयका यथार्थ स्वरूप समझानेके लिए अब विश्व आदिके सामान्य और विशेषभावका निरूपण करते हैं :

जो किया जाय, वह कार्य । कार्य फलभाव है। जो करता है, वह है कारण । कारण बीजभाव है । विश्व और तैजस जिनका वर्णन पहले हो चुका है, ये तत्त्वका ग्रहण न करने तथा अन्यथा, विपरीत ग्रहण करनेरूप बीजभाव और फलभावसे बँधे हुए अर्थात् कार्य-कारण भावमें पूर्णतः जकड़े हुए हैं । लेकिन प्राज्ञ बीजभावसे ही बँधा है । तत्त्वका अप्रतिबोध रूप बीज ही उसके प्राज्ञत्वमें कारण है । इसका यह तात्पर्य है कि तुरीयमें वे दोनों ही बीज और फलभावरूप तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण दोनों ही नहीं रहते; वहाँ उनके रहनेकी सम्भावना ही नहीं है ॥ ११ ॥

जाग्रत् - अवस्थाका अभिमानी विश्व और स्वप्नावस्थाका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अभिमानी तैजस दोनों ही तत्त्वका ग्रहण न कर पानेके कारण अन्यथा-ग्रहण करते हैं। 'अहं'को 'इदं'के रूपमें, एकको अनेकके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह दृश्यप्रपञ्च तथा स्वप्नका जगत् दोनों कार्य हैं तथा इस कार्यके कारणकी कल्पना भी जाग्रत् तथा स्वप्न-में होती है। यह कार्य-कारणभाव जाग्रत् एवं स्वप्न दोनोंके अभिमानियोंको जकड़े हैं। सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है, अपने स्वरूप-का ज्ञान नहीं रहता। इसी अज्ञानके बीजसे स्वप्न तथा जाग्रत् निकलते हैं। अतः सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ अज्ञानरूप बीजभावसे बँधा है। तुरीयमें कार्यकारणभाव सम्भव नहीं है; क्योंकि वहाँ तत्त्वका अग्रहण या अन्यथा-ग्रहण नहीं है।

१२.

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथा-ग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिद्ध्यत इति। यस्मात्—

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा ॥१२॥

आत्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति तथा विश्वतैजसौ। ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसाऽन्यथा-ग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीया-दन्यस्याभावात्सर्वदा सर्ववेत्ति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्, तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र। तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवा-भावो नहि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथा-प्रकाशनं वा सम्भवति 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० उ० ४.३.२३) इति श्रुतेः।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथ वा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक् सदा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० उ० ३.८.११) इत्यादिश्रुतेः ॥ १२ ॥

यहाँ प्रश्न उठा कि प्राज्ञ कारणसे बँधा हैं, यह कैसे सिद्ध हुआ और तुरीयमें तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथारूप वन्धन नहीं है, यह भी कैसे सिद्ध हुआ ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, क्योंकि—

आत्मासे भिन्न अविद्या-बीजसे उत्पन्न बाह्य द्वैत-प्रपञ्चको प्राज्ञ तनिक भी नहीं जानता, जैसा कि विश्व और तैजस जानते हैं। इसलिए यह प्राज्ञ, विश्व और तैजसके अन्यथाग्रहणके बीजरूप तत्त्वके अग्रहण, अज्ञानसे बँधा है। क्योंकि तुरीयसे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव है, अतः तुरीय सदा-सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप ही है। जो सर्वरूप और उसका साक्षी हो उसे सर्वदृक् कहते हैं। इसलिए उसमें तत्त्वकी अग्रहणरूप बीजावस्था नहीं है और इसीलिए उसमें उससे उत्पन्न होनेवाले अन्यथाग्रहणका भी अभाव है, क्योंकि सदा प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विपरीत अप्रकाशन अथवा अन्यथा-प्रकाशन सम्भव नहीं है। श्रुति कहती है—'द्रष्टाकी दृष्टिका विपरि-लोप नहीं होता'।

अथवा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाके सम्पूर्ण भूतोंमें, समस्त पदार्थोंमें उनके साक्षीरूपसे तुरीय ही भासमान है, इसलिए वह सर्वसाक्षी है। यह बात इस श्रुतिसे प्रमाणित है—'इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है'।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ता शङ्का निवर्त्यते।

यस्माद् बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेष-प्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्; सा बीजनिद्रा, तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

यह श्लोक निमित्तान्तरसे प्राप्त शंकाकी निवृत्तिके लिए है। प्राज्ञके समान ही तुरीयमें भी द्वैतका ग्रहण नहीं है, अतः प्राज्ञके समान ही तुरीयमें भी कारणरूप बन्धन क्यों नहीं ? इस शंकाकी प्राप्ति हुई, उसे निवृत्त करते हैं—क्योंकि प्राज्ञ बीजनिद्रायुक्त है। तत्त्वके अज्ञानका नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका बीज है, अतः उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं। प्राज्ञ उससे युक्त है। लेकिन सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप होनेके कारण तुरीयमें वह 'बीजनिद्रा' नहीं है। इसलिए तुरीयमें कारणरूप बन्धन नहीं है, इसका यही तात्पर्य है ॥ १३ ॥

१४.

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः। अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः॥ १४॥

रस्सीमें सर्पके ग्रहणके समान अन्यथाग्रहणका नाम स्वप्न है और तत्त्वके अप्रतिबोधरूप तम, अज्ञानको निद्रा कहते हैं। इन स्वप्न और निद्रासे विश्व और तैजस युक्त हैं। अतः इन्हें कार्य-कारण-बद्ध कहा गया है। लेकिन प्राज्ञ स्वप्नरहित है। वह केवल निद्रासे ही युक्त है, इसलिए उसे कारणबद्ध कहा है। निश्चित ही ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीयमें ये दोनों बातें नहीं देखते; क्योंकि सूर्यमें अन्धकारके समान वे उससे विरुद्ध हैं। अतः तुरीय कार्य अथवा कारणसे बँधा नहीं है, ऐसा कहा गया है॥ १४॥

१५.

अब यह बतलाते हैं कि कब तुरीयसे मनुष्य निश्चित होता है—
कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥१५॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः

अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोः अन्यथाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते। तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः॥ १५॥

रस्सीमें सर्पके समान तत्त्वका अन्यथाग्रहण ही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंका स्वप्न है और तत्त्वका न जानना ही निद्रा है, जो तीनों अवस्थाओंमें समान रूपसे है। इस प्रकार स्वप्न और निद्रामें समान होनेके कारण विश्व एवं तैजसकी एक राशि है; उनमें अन्यथाग्रहणकी प्रधानता होनेके कारण निद्रा गौण है। अतः उन अवस्थामें स्वप्नरूप विपरीत ज्ञान रहता है; किन्तु तृतीयावस्था सुषुप्तिमें केवल तत्त्वकी अग्रहणरूप निद्रा ही विपर्यास है।

अतः उन कार्यकारणरूप स्थानोंके अन्यथाग्रहण और तत्त्वके अग्रहणरूप विपर्यासोंका परमार्थ तत्त्वके बोधसे क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है। तब उन अवस्थाओंमें दोनों प्रकारका बन्धन न देखनेसे पुरुष तुरीयमें निश्चित हो जाता है—यह तात्पर्य है॥ १५॥

१६.

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥१६॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान् स्वप्नान् स्थान-द्वयेऽपि पश्यन् सुप्तो यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्य-मानः, तदैवं प्रतिबुध्यते—

कथम्? नास्मिन् बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्मात् जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्; तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा॥ १६॥

यह संसारी जीव तत्त्वके अज्ञानरूप बीजात्मिका तथा अन्यथा-ग्रहणरूप अनादि कालसे प्रवृत्त मायारूप निद्राके कारण स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओंमें 'यह मेरे पिता, पुत्र, नाती, भूमि, खेत, घर तथा पशु हैं और मैं इनका स्वामी हूँ; इनके कारण मैं सुखी-दुःखी होता हूँ, क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता हूँ', इत्यादि प्रकारके स्वप्न देखता सो रहा है। जिस समय वेदान्त-तत्त्वके ज्ञाता किसी परम दयालु गुरुके द्वारा यह जगाया जाता है: 'तू इस प्रकार कार्य-कारणरूप नहीं है, तू तो वही परमात्मा है।' उस समय इसे बोध प्राप्त होता है।

किस प्रकारका बोध होता है, यह बतलाते हैं। इस आत्मामें बाहर-भीतरका भेद नहीं है। जन्मादि विकार नहीं हैं। इसलिए यह अजन्मा अर्थात् सम्पूर्ण भाव विकारोंसे रहित है क्योंकि इसमें जन्मादिकी कारणभूत तथा अविद्यारूप अन्धकारकी बीज-भूता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निद्रा नहीं है, इसलिए यह अनिद्र है। यह तुरीय तत्त्व अनिद्र है, इसलिए स्वप्न भी है। क्योंकि अन्यथाग्रहण तो तत्त्वके अज्ञानरूप निद्राके ही कारण हुआ करता है। इस प्रकार आत्मा अनिद्र और अस्वप्न है; इसलिये गुरुके जगानेपर अजन्मा और अद्वैत तुरीय आत्माका बोध होता है ॥ १६ ॥

विश्व, तैजस, प्राज्ञकी यह चर्चा पहिले विस्तार पूर्वक हो चुकी है, अतः इस विषयपर अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। यह जीव अज्ञान-निद्रामें सो रहा है। यह नहीं जानता कि इसका गन्तव्य किधर है? जीवका पुरुषार्थ क्या है? हिन्दीमें पुरुषार्थ शब्दका अर्थ उद्योग, परिश्रम है; किन्तु संस्कृतमें इसके लिए पुरुषकार शब्द है। पुरुष जो चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। हम सब प्राणिमात्र क्या चाहते हैं? आनन्द। अतः आनन्द ही हमारा परम पुरुषार्थ है।

हम भोग क्यों चाहते हैं? आनन्दके लिए। हम भोजन, स्त्री, धन आदि सुख पानेके लिए चाहते हैं। अतः काम पुरुषार्थ नहीं, पुरुषार्थ आनन्द है। इसी प्रकार हम धर्म क्यों करना चाहते हैं? परलोकमें सुख पानेके लिए। मोक्ष क्यों चाहते हैं? नित्य सुखकी प्राप्तिके लिए। अतएव धर्म और मोक्ष भी पुरुषार्थ नहीं, केवल आनन्द पुरुषार्थ है। हम कैसा आनन्द चाहते हैं? ऐसा आनन्द जो सब कहीं मिले, सब समय मिले अर्थात् हम देश और कालसे परिच्छिन्न आनन्द नहीं चाहते। इस प्रकार हम सब एक ही मार्गके पथिक हैं, एक ही वस्तु चाहते हैं। वह देश-कालसे अपरिच्छिन्न आनन्द तो परमात्मा ही है। हम सब परमात्मको ही चाहते हैं। हम सबके सब स्वतन्त्र आनन्द चाहते हैं, ऐसा नहीं चाहते कि हमारा आनन्द दूसरेके हाथमें हो। हम पूर्ण आनन्द चाहते हैं। साथ ही हम ज्ञात आनन्द

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहते हैं। आनन्द हो और अज्ञात हो तो आनन्द कैसा ? अतएव हमें ज्ञात आनन्द, ज्ञानरूप आनन्द चाहिए, और वह भी सहज अनायास प्राप्त हो, आयाससाध्य नहीं, स्वतः सिद्ध। जो कि अपना आपा ही है।

अब देखिए कि भगवान्‌की दृष्टि क्या है ? ईश्वर जानता है कि 'जीवमात्र, बड़ेसे बड़े नास्तिकसे लेकर जिज्ञासु, योगी, भक्त, धर्मात्मा सब मुझे चाहते हैं। क्योंकि आनन्दरूप तो मैं ही हूँ। सब मुझे ही पाना चाहते हैं।' जो भोग चाहता है, वह भी ईश्वरको ही चाहता है और ईश्वर जानता है कि 'बेचारा जीव भटक गया है। वह चाहता मुझे है; किन्तु मेरा परिचय उसे नहीं।' ईश्वरकी दृष्टिमें भेद हो तो उसमें भी भक्तसे राग और अभक्तसे द्वेष हो जायगा। फिर राग-द्वेषजन्य सुख-दुःख भी उसमें होगा। लेकिन ईश्वरमें न राग-द्वेष है, न सुख-दुःख। उसकी दृष्टिमें भेद नहीं है और दृष्टि उसीकी सत्य है। अतः लक्ष्यमें हम सब एक हैं।

जब लक्ष्य एक है तो परस्पर द्वेष, वैमनस्य, कटुता क्यों ? लोग कहते हैं कि यह साधनमें भेद होनेसे है। किन्तु साधनमें भी भेद नहीं है, यह समझनेकी बात है। सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय, नास्तिक तकका साधन एक ही है। साधन है भोगमें संयम, क्रियामें संयम और इच्छामें संयम और यह सबको अभीष्ट है। कौन मूर्ख कहेगा कि इतना भोजन करो कि बीमार हो जाओ ? भोगमें नियन्त्रण सभी चाहते हैं। कोई नहीं कहेगा कि इतना परिश्रम करो कि खाट पकड़ लो। क्रियामें संयम सबको अभीष्ट है और इच्छापर नियन्त्रण भी सब चाहते हैं; क्योंकि कोई अनुमति नहीं देगा कि आप ऐसी इच्छा करें जो देश और समाजके लिए हानिकर हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हम इसे धर्म कहते हैं और अनीश्वरवादी इसे सामाजिक कर्त्तव्य कहते हैं। किन्तु बात एक ही है कि इन्द्रियोंका नियन्त्रण, क्रियाका नियन्त्रण और इच्छाका नियन्त्रण सबको करना ही चाहिए। भोग, अर्थ और क्रियाका नियन्त्रण धर्म, मनका नियन्त्रण योग और रागके नियन्त्रणका नाम उपासना है। इन्हें कौन अस्वीकार कर सकता है?

अब भेद यह है कि आनन्दकी, सुखकी प्राप्ति दो प्रकारसे होती है। इच्छाकी पूर्ति करके और इच्छाको मिटाकर। जैसे प्यास लगनेपर जल पीकर जो तृप्ति हुई, वह अवस्था उसे पहलेसे प्राप्त है। जिसे प्यास लगी ही नहीं, जिसे इच्छाकी पूर्ति करके सुख मिलता है, वह तो संसारमें फँसा है। क्योंकि जिसकी इच्छाकी पूर्ति पदार्थोंके मिलने न मिलनेपर निर्भर है उसका आनन्द परतन्त्र है। किन्तु इच्छाकी निवृत्तिमें जिसे सुख होगा, वह सुखप्राप्तिमें स्वतन्त्र होगा। वह बिना किसीके बन्धनमें बँधे सुखी है। सुख इच्छा होनेपर नहीं, इच्छाकी शान्ति होनेपर मिलता है। इच्छित वस्तु पाकर इच्छाकी शान्ति होनेसे होनेवाला सुख वस्तु-परतन्त्र है, अतः अनित्य है और इच्छाको निवृत्त कर देनेसे होनेवाला सुख स्वतन्त्र है। यही सच्चा सुख है।

तात्पर्य यह है कि लक्ष्य सबका एक है और साधनमें भी विरोध अविचार-जन्य है। विरोध तो महापुरुष केवल अधर्मका, अनाचारका, असंयमका करते हैं। हमें चाहिए आनन्द। अब देखो कि आनन्द है प्रेममें, और प्रेम है कहाँ? सबसे अधिक प्रेम अपने आपमें है; अतः यह अपना आपा ही आनन्द, सुख है। यही देश-कालसे अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, स्वतन्त्र, ज्ञानस्वरूप स्वतःसिद्ध तुरीयतत्त्व है। इसीको जानकर समस्त दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि बोध प्रपञ्चकी निवृत्तिसे ही होता है तो जब तक प्रपञ्चकी निवृत्ति न हो तबतक अद्वैत कैसा ? इस शंकाका उत्तर देते हैं :

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत् प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमित्युच्यते—

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

सत्यमेवं स्यात् प्रपञ्चो यदि विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते । विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः । न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः । नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता । तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवत् मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित् प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

यह शंका सच होती यदि प्रपञ्च विद्यमन होता; किन्तु वह तो रस्सीमें कल्पित सर्पके समान होनेके कारण विद्यमान ही नहीं है । यदि वह होता तो इसमें सन्देह नहीं कि निवृत्त भी होता । रस्सीमें भ्रमवश कल्पित सर्प पहले विद्यमान था और विवेकसे निवृत्त हुआ ऐसा नहीं । जादूगर द्वारा फैलायी माया देखनेवालोंके दृष्टि-बन्धनके हटाये जानेपर पहले विद्यमान थी और अब निवृत्त हुई ऐसा नहीं । इसी प्रकार यह प्रपञ्चरूप द्वैत भी मायामात्र ही है । परमार्थतः तो रस्सी अथवा जादूगरके समान अद्वैत ही है । इसलिए तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त या निवृत्त होनेवाला नहीं है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस कारिकाका ठीक तात्पर्य समझनेके लिए पहले शंकाको ठीक समझ लेना चाहिए। शङ्का यह है कि दृश्य-प्रपञ्च जब सत्य नहीं है तब दिखायी क्यों देता है? जबतक यह संसार दिखायी देता है तब तक अद्वैत-ब्रह्मज्ञान हो गया, यह कैसे माना जा सकता है? जिज्ञासुके मनमें यह बात बैठी हुई है कि 'ब्रह्मज्ञान होनेपर यह संसार दीखता नहीं। क्योंकि मुझे संसार दीख रहा है, अतः ज्ञान नहीं हुआ।' इस प्रकारकी धारणासे अपनेमें अज्ञानीपनेका, हीनताका भाव तो रहता ही है, गुरुमें श्रद्धा भी नहीं होती। वहाँ भी यह होता है कि 'गुरुजीको भी संसार दीखता है। वे भी खाते-पीते, सोते-जागते तथा सब काम औरोंके समान करते हैं, अतः उन्हें भी ज्ञान नहीं हुआ।' यह शंकाका स्वरूप है। लेकिन जो अद्वैत तत्त्वके ज्ञानका यह स्वरूप मानेगा कि ज्ञान होनेपर संसार दीखेगा ही नहीं, उसे तो कभी ज्ञान नहीं होगा और उसे गुरु भी नहीं मिलेंगे; क्योंकि वह ज्ञानका स्वरूप समझता नहीं है।

जिसको जीवनमें ही मोक्ष नहीं मिलता, उसे मरनेपर भी नहीं मिलता। क्योंकि जीवनमें जब बुद्धि, शास्त्र और समझानेवाले गुरुके होनेपर जो समझ नहीं सका तो मरनेपर उसमें समझ कहाँसे आवेगी? और समझ, ज्ञानके बिना मोक्ष होता नहीं। इसलिए यह बात ठीक समझ लेना चाहिए कि यह संसार दिखते हुए ही हम नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप हैं। ज्ञानका स्वरूप ऐसा समझोगे तब वेदान्त समझमें आवेगा।

अतः यह प्रश्न गूढ़ अभिप्रायसे उठाया गया है कि ज्ञान होनेपर संसारकी प्रतीति मिट जानी चाहिए। इस प्रतीति मिटनेमें भी कई मत हैं। एक पक्ष कहता है कि 'ज्ञान होनेपर संसारकी प्रतीति होनी ही नहीं चाहिए।' दूसरा पक्ष कहता है कि प्रतीति तो हो,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु अच्छाईकी ही प्रतीति हो, न कि बुराईकी प्रतीति। सुखकी प्रतीति हो, दुःखकी न हो। समाधिकी प्रतीति हो, विक्षेपकी न हो।' इस प्रकारका भ्रम जिज्ञासुके मनमें बैठा रहता है। इस भ्रम-को दूर करनेके लिए कारिकामें समझाते हैं कि यदि प्रपंच सचमुच होता, तो उसकी निवृत्ति भी होती; इसमें सन्देह नहीं।

लेकिन प्रपंच तो है ही नहीं। यह द्वैत तो मायामात्र है—**मायामात्रमिदं द्वैतं**। परमार्थतः तो अद्वैत है—**अद्वैतं परमार्थतः**।

यह प्रपंच मायामात्र है, मिथ्याकी धारा है। इसे मिथ्याकी धाराके रूपमें प्रतीत होने दो और जो सत्य है, परमार्थ है, उसे सत्यके रूपमें रहने दो। क्या ऋषभदेवको संसार नहीं दीखता था? क्या जड़ भरतको राजा रहूगण और शुकदेवको राजा परीक्षित् नहीं दीखते थे? न दीखते तो वे उपदेश किसे करते? कहने-का तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञानके पश्चात् प्रपंचकी प्रतीति नहीं होती, यह धारणा सर्वथा भ्रम है।

हम लोग एकबार महर्षि रमणके आश्रमपर गये और उनसे कुछ प्रश्न किये। उन्होंने कृपा करके हमारे प्रश्नोंके उत्तर बोलकर दिये। वैसे वे प्रायः प्रश्नके उत्तरमें कोई पुस्तक पढ़नेको कह देते थे या मौन हो जाते थे।

प्रश्न—'प्रतीति किसे हो रही है?'

उत्तर—'यह प्रश्न पूछनेकी इच्छा प्रतीतिसे भिन्न है या अभिन्न?'

हमने स्वीकार कर लिया कि यह भी प्रतीति है और यह प्रतीति हमें हो रही है।

महर्षि—'यह पूछनेकी इच्छा तुम्हारी है और इस इच्छाकी प्रतीति तुम्हें हो रही है।'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रश्न—'यह प्रतीति मिटे कैसे ?'

महर्षि—'प्रतीति मिट जायगी तो उसके मिटनेकी प्रतीति होगी या नहीं और यदि उसके मिटनेकी भी प्रतीति न रहे तो वह ज्ञान होगा या अज्ञान ? कुछ ज्ञान ही न होना तो ज्ञान नहीं—अज्ञान है ? और अज्ञान किसीका इष्ट, किसीका पुरुषार्थ नहीं होता।'

आकाशमें जो नीलिमा दीखती है, इसे क्या मिटाया जा सकता है ? यह नीलिमा कोई वस्तु होती तो कदाचित् कभी वैज्ञानिक किसी उपायसे इसे धो भी देते, किन्तु वह कोई वस्तु ही नहीं, तो धोयी कैसे जाय। इसी प्रकार प्रपंच यदि कोई सत्य वस्तु होता तो उसकी निवृत्ति भी होती; किन्तु वह तो आकाशकी नीलिमाके समान केवल प्रतीत होता है। बालकके मनमें जो यह भ्रम है कि आकाशकी नीलिमा कुछ है, वहाँतक जायँगे तो कपड़े रंग जायँगे या वहाँ अन्धकार मिलेगा, अथवा आगे जानेमें वह रुकावट होगी आदि; इस भ्रमको दूर कर देना है। भ्रम दूर होने-पर भी नीलिमा तो दीखती ही रहेगी। इसी प्रकार यह प्रपंच सत्य है, इस भ्रमका निवारण ज्ञान है। ज्ञान हो जानेपर भी प्रपंच दीखता तो रहेगा ही। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है, केवल भ्रम-का विरोधी है।

मायामात्रमिदं यह द्वैत प्रपंच मायामात्र है। जादूगर जो खेल दिखलाता है, उसे जादू समझ लिया तो छुट्टी। फिर उस खेलको देखनेमें पर्याप्त मनोरंजन है। वह खेल मिट जाय ऐसा आग्रह तो खेलको सत्य मानकर डरनेवाले करते हैं अज्ञानके कारण वे ऐसा आग्रह करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जिसको यह ज्ञान हो गया कि यह प्रपंच मायामात्र है, उसे तो संसारमें सुख-दुःख नहीं होना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहिए। ज्ञान हो जानेपर ज्ञानीके अन्तःकरणमें इच्छा रहती है या नहीं?

लेकिन यह प्रश्न भी भ्रान्त ही है; क्योंकि जिसे यह बोध हो गया कि 'मैं देह नहीं हूँ, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ, मैं अहंकार नहीं हूँ।' उसका एक देह, एक अन्तःकरणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यदि एक अन्तःकरणमें कोटि इच्छाएँ आती हैं तो उससे उसके स्वरूपमें क्या बाधा पड़ती है?

ज्ञानीकी जीभको स्वादका, कर्णको शब्दके स्वरका, नासिका-को सुगन्ध-दुर्गन्धका, त्वचाको स्पर्शकी—कठोरता-कोमलताका, नेत्रको रूपका ज्ञान नहीं होगा तो यह रोग होगा या ज्ञान होगा? इसी प्रकार जिसका मन ठीक काम न करेगा, इन्द्रियबोध ठीक ग्रहण न करेगा, तो वह पागल होगा या ज्ञानी होगा? ज्ञान केवल अज्ञानको—संसारमें जो भेदका, सत्यत्वका भ्रम है, उसे ही मिटाता है। वह देहमें, इन्द्रियोंमें, अन्तःकरणकी प्रकृतिमें कोई विकृति, कोई रोग, कोई परिवर्तन नहीं करता।

ज्ञानी जैसे देहको मिथ्या समझ लेता है, वैसे ही अन्तःकरण-को भी मिथ्या समझ लेता है। वह प्रपंचमें, इन्द्रियमें या अन्तः-करणमें अमुक परिवर्तनकी इच्छा क्यों करे? क्योंकि वह तो अपनेको इनसे परे देखता है। वह संसारको ही मायामात्र नहीं देखता, अपने शरीरको, अपने मनको, अपने अन्तःकरणको भी मायामात्र देखता है। जैसे मक्खी, मच्छर, पशु, पक्षी मनुष्यादि अन्य व्यक्ति हैं, वैसे ही उसकी देहकी भी स्थिति है। संसार मिथ्या है; लेकिन अपना देह, अपना अन्तःकरण सच्चा है; अपने शरीर-को ऐसा वस्त्र, ऐसा भोजन ऐसा घर चाहिए। अपने अन्तः-करणकी अमुक ही अवस्था चाहिए, इसका कुछ अर्थ ही नहीं है। इस प्रकारके भानमें ज्ञान कहाँ है? यहाँ तो भेद-बुद्धि बनी है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जबतक मेरा देह, मेरा अन्तःकरण और दूसरोंका देह, दूसरोंका अन्तःकरणका भेद बना है तबतक ज्ञान है ही कहाँ ?

संसारी मनुष्य चाहता है कि मुझे धन मिले, सुख मिले, भोग मिले; दूसरोंको मिले या न मिले। इसी प्रकार यह भी एक दृष्टि है कि मेरे अन्तःकरणमें शान्ति रहे, एकाग्रता रहे, अमुक-अमुक अच्छाई रहे, औरोंके अन्तःकरणमें रहे या न रहे। यह बात साधककी तो ठीक है; किन्तु यह भी है भेदबुद्धिसे। ज्ञानीमें यह भेदवुद्धि नहीं रहती।

धर्मात्मा रहते—हम चाहते थे कि सब धर्मात्मा हो जायँ और हम भी धर्मात्मा रहें। साधक रहते—हम चाहते थे कि सब साधक हो जायँ और हम भी साधक रहें; किन्तु ज्ञान होनेपर यह द्वैत मायामात्र प्रतीत हुआ। द्वैत है ही नहीं, अतः दूसरे कैसे रहें, यह प्रश्न नहीं रहा। अब रहा अपना अन्तःकरण, तो उसे अपना समझते हो, यह भी अज्ञान है। इस अध्यासको मिटाना चाहिए कि अन्तःकरण अपना है। यह भी मायामात्र है।

तत्त्वदृष्टि यह है कि मैं ब्रह्म हूँ। सम्पूर्ण सृष्टिके सब जीव, अच्छे-वुरे सब 'मैं' हूँ। मैं ही कीट-पतंग, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, देव-गन्धर्व, ब्रह्मा-विष्णु-महेश हूँ। अथवा मैं यह सब कुछ नहीं हूँ। इन दोनोंको छोड़ अन्य तत्त्वदृष्टि हो नहीं सकती। इसलिए जो कोई भी एक अन्तःकरणको अमुक प्रकारका बनाना चाहता है, तबतक वह धर्मात्मा, साधक, भक्त, योगी हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञ नहीं है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें सब अन्तःकरण उसीके हैं। अतः एक अन्तःकरण शुद्ध रहे या अशुद्ध, इसका आग्रह उसमें हो नहीं सकता।

अद्वैतं परमार्थतः परमार्थ सत्ता अद्वैत है। वहाँ भेद नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भेद तो व्यवहारमें है और व्यवहार भेद-दृष्टिसे ही सम्पन्न होता है। जिसका जो धर्म, जो सम्प्रदाय, जो वर्ण या आश्रम है, उसके अनुसार उसको व्यवहार करना है। इसीलिए शास्त्रकी मान्यता है कि धर्म तर्कगम्य नहीं है, शास्त्रगम्य है।

परमार्थतः अद्वैत है। अतः तत्त्वके सम्बन्धमें देखो कि तुमने अन्तःकरणको छोड़ दिया या नहीं। अन्तःकरणका स्थान इस देहमें है, अनन्त सत्तामें उसका कोई स्थान नहीं। देश, काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें उसका कोई स्थान नहीं। अतः अन्तःकरणके प्रति कोई आग्रह वहाँ नहीं है। वहाँ तो एक अद्वितीय चिन्मात्र सत्ता है।

१८.

यदि कहो कि शासक (गुरु) शास्त्र और शिष्य—इस प्रकारका विकल्प कैसे निवृत्त हो सकता है? तो इसका उत्तर देते हैं—

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवर्तत इत्युच्यते—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित् कल्पितः स्यात्। यथायं प्रपंचो मायारज्जुसर्पवत् तथायं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽस्त उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति। उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं विद्यते॥ १८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि किसीने इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता। जिस प्रकार यह प्रपंच माया और रज्जु सर्पके समान है, उसी प्रकार यह शिष्यादि भेद-विकल्प भी आत्मज्ञानसे पहले उपदेशके लिए है। अतः शिष्य, शासक और शास्त्र, यह वाद उपदेशके ही लिए है। उपदेशके कार्यस्वरूप बोध हो जानेपर अर्थात् परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता।

ये गुरु हैं, यह शिष्य है और यह शास्त्र है—यह कल्पना व्यवहारमें है और ज्ञान प्राप्तिके लिए है। परमार्थ तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर तो न शास्त्र है, न शिष्य है, न गुरु है। क्योंकि यदि गुरु, शास्त्र, शिष्यका भेद वहाँ रहे तो द्वैतकी निवृत्ति नहीं हुई। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि गुरु और शास्त्र निष्प्रयोजन हो गये। सोचने की बात यह है कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान हो जानेपर गुरु, शास्त्र, शिष्यका भेद मिथ्या प्रतीत हुआ या उसके पूर्व ? संसारको मिथ्या समझनेसे पूर्व गुरु-शास्त्र-शिष्यका भेद तो मिथ्या बन नहीं सकता और संसार को जब मिथ्या समझ लिया तब तो तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध हो गया। अब तुम्हें किसी मार्ग-दर्शनकी आवश्यकता नहीं, तुम्हें किसी उपदेशकी आवश्यकता नहीं। अतः ससार के मिथ्यात्वका ज्ञान हो जानेपर यदि गुरु-शास्त्र-शिष्यका विकल्प मिथ्या हो जाता है तो कोई आपत्तिकी बात नहीं।

हमारे विचार करनेकी दो पद्धति है। एक तो तत्त्वका ठीक-ठीक निरूपण हो और दूसरे मनुष्यके व्यवहारकी, चित्तकी शुद्धि हो।

जहाँ तत्त्वका निरूपण करना है, वहाँ अधर्मके निषेधके साथ धर्मका भी निषेध आवश्यक होता है। वहाँ ससारके रागके साथ परलोकका भी राग मिटाना होता है। वहाँ मनुष्यके कर्म एवं भावनाका कोई मूल्य नहीं होता। यदि किसी मनुष्यके आचरण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या भावनाको आधार बनाकर तत्त्वका निरूपण करेंगे तो निरूपण होगा ही नहीं। सर्वाधिष्ठानके निरूपणमें व्यक्ति एवं उसके कर्मका कोई मूल्य नहीं। अतः वहाँ सबका निषेध करके वस्तुतत्त्वका निरूपण करना पड़ता है।

जहाँ मनुष्यके जीवनका विचार करना होता है, वहाँ देश, काल, सामाजिक परिस्थिति, व्यक्तिकी शक्ति एवं मर्यादाके अनुसार व्यवहारका विचार किया जाता है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें आया है :

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति।

विद्वान् पुरुष तत्त्वविचारके साथ व्यावहारिक दृष्टिको नहीं लेते। मिट्टीसे घड़ा, सकोरा, दीपक बना। व्यवहारमें घड़ेका काम घड़ा और सकोरेका काम सकोरा देगा; किन्तु वैज्ञानिक विश्लेषणमें दोनों मिट्टी हैं। सोनेके वने गणेशजी और उनके वाहन चूहेमें आराधकके व्यवहारमें भेद; किन्तु सर्राफकी दूकानपर ले जाओ तो दोनोंका मूल्य समान लगेगा, क्योंकि वहाँ तो आकृतिका नहीं, सुवर्णका मूल्य है।

अतः भेद व्यवहारमें है, तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें नहीं है। गुरु-शास्त्र-शिष्यका भेद तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें नहीं रहता। लेकिन जीवन्मुक्त पुरुष जिस देश, काल समाजमें रहेगा, उसकी मर्यादाके अनुसार ही व्यवहार करेगा। यह तो है नहीं कि वह अभेददृष्टि होनेके कारण रोटीके स्थानपर पत्थर खायेगा अथवा गर्मीमें कम्बल ओढ़ेगा। व्यवहार तो उसका भी देश, काल, समाजकी मर्यादाके अनुसार ही होगा। तत्त्वज्ञ पुरुष संन्यासी है तो संन्यासीके समान और गृहस्थ है तो गृहस्थके समान व्यवहार करेगा। इस प्रकार जब वह व्यवहार में दूसरी मर्यादा रखेगा तब जिसके उपदेशसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह तत्त्वज्ञ हुआ, उसके प्रति कृतज्ञताका, सम्मानका व्यवहार क्यों नहीं करेगा ?

तत्त्वज्ञानके अनन्तर जो व्यवहार है, उसमें देश, काल, समाज-की मर्यादाके अनुसार ही व्यवहार होता है; किन्तु होता है राग-द्वेषरहित भावसे। क्योंकि राग-द्वेष प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धि होनेसे ही होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषके हृदयसे प्रपंचको सत्य मानने-का भाव मिट चुका है, अतः उसके हृदयमें व्यक्ति, वस्तु, धर्म, भाषा, जाति, देश आदि किसीको भी लेकर राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष किसी भी कारण चित्तमें आवे, आवेगा अपने ही चित्तमें। भले हम घोर पापी या देशके शत्रुके प्रति द्वेष करें, हमारे द्वेषमात्रसे उनका कुछ बिगड़ता नहीं। द्वेष हमारे चित्तमें आकर जलन-पीड़ा हमें ही देता है। इसी प्रकार किसी के प्रति राग आवेगा तो उससे मोह बढ़ेगा, उसका पक्षपात होगा, अन्याय होगा उसके विरोधीके सम्बन्धमें कुछ भी करने या सोचनेमें। अतः किसी के प्रति भी राग-द्वेष हृदयमें नहीं आना चाहिए। यह राग-द्वेषरहित हृदय उसीका होता है जो संसारके मिथ्यात्वको ठीक-ठीक समझ लेता है। तत्त्वज्ञ पुरुषके चित्तमें राग-द्वेष नहीं होता। उसे जिह्वाका वेग उपस्थका वेग अर्थात् कामका वेग, क्रोधका वेग विचलित नहीं करता। वह सम्पूर्ण भोगोंको सह लेता है। निन्दा उसके हृदयपर आघात नहीं पहुँचा पाती। वर्णन तो यहाँ तक है कि :

> प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालनैः।
> विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते ॥

महाप्रलयकी गर्जना होते देखकर भी तत्त्वज्ञका चित्त भीत, विचलित नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन्धन कब है ? जब हमारा चित्त किन्हीं विशेष दृष्टियोंको पकड़कर उनमें आसक्त हो गया हो। जब कोई आग्रह चित्तमें वद्धमूल हो। जीवन्मुक्त पुरुषके चित्तमें कोई आग्रह नहीं होता। उसमें न देहकी वासना है, न शास्त्रकी वासना है। अतः देश, काल, समाज एवं परिस्थितिके अनुसार व्यवहार करना उसके लिए सर्वथा सुगम है; क्योंकि एक मान्यताका अग्रह पकड़कर तो वह बैठा नहीं है।

अतः जब हम तत्त्वका विचार करते हैं, तव कहते हैं कि गुरु-शिष्य-शास्त्रका विकल्प मिथ्या है। अधिष्ठान तत्त्वमें, परमार्थमें कोई गुरु नहीं, कोई शिष्य नहीं, कोई शास्त्र नहीं, एक अद्वितीय चिन्मात्र वस्तु है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहारमें गुरु, शास्त्रका निषेध हो गया। जहाँतक व्यवहार है, मनुष्य शरीर है—हँसना, बोलना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि हैं; वहाँ व्यवहारमें गुरु, शास्त्रकी मर्यादा भी है।
यावज्जीवंत्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।

जबतक जीवन है, अपना मस्तक गुरुके सम्मुख झुकाओ। तबतक विनयपूर्वक जीवन व्यतीत करो। तवतक शास्त्रकी प्रमाणिकताको स्वीकार करो।

परमार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी तो गुरुको मिटा दिया जाय या नहीं ? भाई ! मिटाया उसे जा सकता है, जिसे वनाया गया हो। गुरु कोई वनाता नहीं, वे तो स्वतः वन जाते हैं। गुरु वह जो तुम्हारे अज्ञानान्धकारको दूर कर दे। जैसा पिता कन्याका हाथ वरके हाथमें देता है, वैसे जो तुम्हें ईश्वरके हाथमें दे दे, वह गुरु है। जबतक ऐसे गुरुकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक गुरुपनेका नेगचार हो रहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसने तुम्हें मन्त्र दिया, वह उपासना गुरु है; जिसने तुम्हें साधन बताया, वह भी गुरु है। इन्हें गुरु मानो। इसका निषेध नहीं है। जिसने तुम्हें अक्षरज्ञान दिया, पढाया, वह भी गुरु है। ये सब गुरु सम्मान्य हैं। लेकिन ये व्यवहारके, साधनके, उपासना-के गुरु हैं। वास्तविक गुरु वह है जो तुम्हारे अज्ञानको मिटा दे। जो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति करा दे।

तुम जिसे अपना इष्ट मानते हो, मानते रहो। गुरुका, मन्त्रका, इष्टका हम निषेध नहीं करते। हम तो केवल यह कहते हैं कि चाहके जो तुमने पृथक्-पृथक् विषय बना रखे हैं, उन चाहोंको समेट दे; वह गुरु। जो कह दे तुम्हारी सब इच्छाओंका लक्ष्य यह है और इसका नाम ईश्वर है। तुम ईश्वरको ही विभिन्न नामों और विभिन्न विषयोंके रूपोंमें चाहते हो। इस ईश्वरको पानेका उपाय है, तुम्हारे प्रयत्नोंको समेटकर एक दिशामें लगा देना। इस प्रकार गुरुने तुम्हें इष्ट दिया और साधन दिया; किन्तु यह इष्ट तुम्हारा तुमसे भिन्न नहीं है। तुम इच्छाएँ करके जिसे पाना चाहते हो, उसे इच्छा करके नहीं पा सकते। इच्छाओंको शान्त कर दो। क्योंकि अपनेसे भिन्न वस्तु इच्छा एवं प्रयत्नसे मिलती है; किन्तु अपना आपा इच्छाकी निवृत्ति से प्राप्त होता है। इस प्रकार जो आचार की रीति बतावे वह धर्म-गुरु, जो इष्ट एवं मन्त्र बतावे वह योग-गुरु; किन्तु जो तुम्हारे अज्ञानको, तुम्हारे मनके समस्त संशयोंको, सम्पूर्ण जिज्ञासाओंको दूर कर दे, वह वास्तविक गुरु है।

जबतक सब संशय, सब जिज्ञासा मिट न जायँ, पूछते चलो। एक दिन अवश्य तुम्हें सच्चे गुरुकी प्राप्ति होगी जो तुम्हारा अज्ञान निवृत्त कर देगा। अज्ञान है, इसलिए पूछना है, इसलिए मार्ग जानना है, इसलिए मार्ग बतानेवाला चाहिए। जब अज्ञान दूर हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया, तब तो तुम कृतकृत्य हो गये। तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप हो गये। अब न तुम्हें मार्ग चाहिए, न मार्ग बतानेवाला। अतएव जहाँ अज्ञान नहीं है, वहाँ गुरु-शास्त्रकी आवश्यकता भी नहीं है। किसीने तुमपर गुरु या शास्त्र लादा नहीं है। तुम्हारे अज्ञानने गुरु शास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न की है। जब अज्ञान मिट गया तो आवश्यकता मिट गयी। ज्ञानोत्तर कालमें गुरु-शास्त्र-शिक्षाका भेद नहीं है।

किसी वस्तु या व्यक्तिका अपने पाससे जाना दुःख नहीं है और अपने शरीरकी स्थिति बदलना भी दुःख नहीं है। किसान खेतकी मिट्टीमें मनों अन्न डाल देता है और व्यापारी व्यापारमें रुपया लगा देता है अधिक पानेकी आशासे। अपने पुत्रको लोग उत्साहपूर्वक पढ़ने, नौकरी करने या व्यापार करने भेजते हैं। लोग प्रसन्नता पूर्वक व्रत करते हैं, पंचाग्नि तापसे है और फोड़ा होनेपर आपरेशन कराते हैं। वस्तुतः दुःख चित्तकी वृत्तिका नाम है। संसारकी किसी घटना में हम दुःखका आरोप कर लेते हैं या अपनी चित्तवृत्तिमें दुःखाकारताका उदय कर लेते हैं। यह दुःखाकार वृत्ति सदा आभासरूप है और इसलिए बहिरंग है। सुख साक्षीका स्वरूप है; किन्तु 'मैं दुःखी हूँ—इस आभास-अभिमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है'।

यदि ऐसा कोई उपाय कर दिया जाय कि 'मैं दुःखी हूँ,' यह आभासरूप वृत्ति उदय न हो तो संसारमें दुःख नामकी वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। मूर्च्छामें, नशेमें, उपासनाकी तन्मयतामें और समाधिमें यह दुःखाकार वृत्ति नहीं रहती। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर 'मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति नहीं रहती; क्योंकि अखण्ड परिपूर्ण चिन्मात्र सत्तामें दुःख दुःखीभाव सम्भव नहीं! 'मैं दुःखी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हूँ' यह वृत्ति न अभ्याससे बनती है न प्रारब्धसे। प्रारब्धसे प्राणी या पदार्थका संयोग-वियोग हो सकता है, 'मैं सुखी या दुःखी हूँ; यह अभिमान नहीं बनता। 'मैं दुःखी हूँ' यह अभिमानावृत्ति अज्ञानजन्य है। अतएव इस अज्ञानको मिटाये बिना दुःख दूर नहीं होगा। अज्ञानको मिटानेके लिए गुरु और शास्त्रका आवश्यकता है।

ज्ञाते द्वैतं न विद्यते। जहाँ तत्त्वज्ञान हो गया वहाँ तो द्वैत रह ही नहीं जाता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आठवाँ मन्त्र

उपोद्घात

उपनिषद्‌के आठवें मन्त्रसे अब दूसरा प्रसंग प्रारम्भ होता है। जो लोग अद्वितीय तत्त्वको समझनेमें असमर्थ हैं, वे क्या करें ?

जो बुद्धिमान नहीं, जिसमें उत्तम प्रतिभा नहीं, जो अज्ञ हैं; उन्हें श्रद्धा करनी चाहिए। जो स्वयं तो समझता नहीं और दूसरेपर भी श्रद्धा नहीं करता, अपनी बुद्धि भी संशयग्रस्त और दूसरेकी बुद्धिपर भी संशय, वह तो संशयात्मा हो गया। भगवान् गीतामें कहते हैं : अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

संशयात्माके लिए विनाशके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। मार्ग तो दो ही हैं—समझो या मानो। विचार करो या विश्वास करो। अब जो विचार करनेमें समर्थ नहीं हैं, उनके लिए प्रणवके द्वारा तत्त्वज्ञान समझाते हैं।

उपनिषद्‌का प्रारम्भ ओङ्कारसे हुआ था। अब उसी ओङ्कारको आधार बनाकर विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदिको समझाते हैं। यह प्रणव ज्ञानका आलम्बन है, आधार है। इसके आधारसे चलकर सत्यका ज्ञान पाया जा सकता है।

शाङ्कर-भाष्यपर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले श्रीआनन्दविज्ञानाचार्यजीने लिखा है : 'जो तत्त्वज्ञानमें समर्थ मध्यम एवं उत्तम अधिकारी हैं, उनके लिए तो अध्यारोप एवं अपवादकी प्रक्रिया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। इस प्रक्रियामें उनके लिए उपदेश हो गया। अब जो लोग तत्त्वग्रहणमें समर्थ नहीं हैं, उनके लिए केवल अध्यारोपको ही स्वीकार करके ध्यानका विधान करनेके लिए साधनकी चर्चाकी जाती है।'

अबतकके प्रसङ्गसे इस आंठवें मन्त्रका क्या सम्बन्ध है, यह जान लेना चाहिए। इसके लिए पहले एक वार पूरे प्रसङ्गपर दृष्टिपात कर लें।

मेरे पास एक सज्जन आये और पूछा : 'महाराज ! मुझे क्या-क्या भोजन करना चाहिए ?'

मैंने कहा : 'भाई, यह बात आप अपने पुरोहितसे तथा चिकित्सकसे पूछें। मैं तो आपको आपका स्वरूप समझा सकता हूँ।'

यह वेदान्तशास्त्र आपको आपका स्वरूप समझाता है। यह कोई नवीन विधान नहीं करता, यह कोई नवीन साधन नहीं बतलाता। यह वेदान्त न आचारशास्त्र है, न साधनशास्त्र। यह तो तत्त्वका प्रतिपादन है। तुम जैसे हो उसे ठीक समझ लो, बस।

वेदान्त यह समझाता है कि तुम सुख चाहते हो। तुम जो पदार्थ और परिस्थितिके पीछे पड़े हो, यह भ्रमवश पड़े हो। तुम तो अविनाशी, परिपूर्ण, देश-कालसे अपरिच्छिन्न नित्य सुख चाहते हो। लेकिन यह सुख विनाशी वस्तुओंसे तुम चाहते हो यह भूल है। अब वेदान्त यह भी नहीं कहता कि तुम वैराग्य करो। वेदान्त कहता है कि वैराग्य तुम्हारे भीतर है, तुम उसे समझ लो। तुम्हारे रागके पदार्थ चले जाते हैं और तुम बने रहते हो, अतः वैराग्य तो तुम्हारा स्वरूप है। अपनी इस असंगताको समझ लो।

अब कहो कि यह बात समझमें नहीं आती, तो उसके समझनेका भी सुगम साधन है। पहले अपनेको देह मत समझो,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपनेको विश्व समझो, अपनेको सम्पूर्ण विश्व समझो और अपनेको एक अन्तःकरणका अभिमानी मत समझो बल्कि समष्टि अन्तःकरणका अभिमानी समझो और तब अन्तःकरण जिस सुषुप्तिमें लीन हो जाता है, वह प्राज्ञ-ईश्वर समझो अपनेको।

यह विश्व, तैजस, प्राज्ञ परस्पर बाधित हो जाते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एक दूसरेसे बाधित हो जाती है। अतः तुम तीनोंसे विलक्षण नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप हो, यही बात सातवें मन्त्र तक समझायी गयी।

यही बात अब भी समझमें नहीं आयी, ऐसा कहनेवाले लोग तो हैं ही। अतः उन लोगोंके लिए अब आलम्बन देते हैं। यह ओङ्कारका आलम्बन है।

आत्मा और उसके पादोंके साथ ओङ्कार एवं उसकी मात्राओंका तादात्म्य

अबतक जिस ओङ्काररूप चतुष्पाद आत्माका अभिधेय (वाच्यार्थ)की प्रधानतासे वर्णन किया है :

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्। किं पुनस्तदक्षरमित्याह, ओङ्कारः। सोऽयमोङ्कार पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्याधिमात्रम्। कथम्? आत्मनो ये पादास्त ओङ्कारस्य मात्राः। कास्ताः? अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह यह आत्मा अक्षर दृष्टिसे ओंकार है; वह मात्राओंको विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं, वे मात्रा हैं अकार, उकार और मकार।

उपनिषद्के प्रारम्भमें कह आये हैं कि ओंकार ही ब्रह्म है। इस ओंकारमें चार भाग हैं—अकार, उकार, मकार तथा अमात्र। अकार विश्व, उकार तैजस, मकार प्राज्ञ एवं अमात्र तुरीयका स्वरूप है। जैसे गणितमें अ, ब, स मान लेते हैं, जैसे ही बुद्धिमें तत्त्वको आरूढ़ करनेके लिए ओंकारमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय अकार, उकार, मकार तथा अमात्रके क्रमसे मान लो।

संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, उनका स्मरण करनेके लिए हमने उनका एक नाम कल्पित कर रखा है। बिना नामके किसी वस्तुका स्मरण नहीं होता। इसी प्रकार विश्वके स्मरणके लिए 'अ', तैजसके स्मरणके लिए 'उ' तथा प्राज्ञके स्मरणके लिए 'म'—ये नाम बना लो। ये तीनों मायामात्र हैं और चौथा तुरीय निर्माय है, 'अमात्र' है। जैसे तुरीय-तत्त्व मायारहित है, वैसे ही यहाँ चौथा अमात्र है।

समस्त मन्त्र वेदमूलक हैं और वेदमाता हैं गायत्री। जो वेदोंमें है, वह गायत्रीमें है। जो गायत्रीमें है, वह प्रणवमें है। इस प्रकार संसारके सब मन्त्र और उनके द्वारा प्रतिपादित सब अर्थ प्रणवमें आ जाता है।

यह प्रणव कोई बाहरसे आयी वस्तु नहीं है। समस्त आकृतियाँ ओंकारसे ही बनी हैं। तुम अपने शरीरमें देखो, दोनों भौंहों और नासिकाको मिलाकर अकार बन जाता है। भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्र तक 'उ'की मात्रा, ब्रह्मरन्ध्र बिन्दु और अमात्र तो परिपूर्ण है। इसमें यदि स्पष्टता न दीखे तो दोनों हाथ और वक्ष मिलकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अकार कण्ठ उकारकी मात्रा, सिर बिन्दु, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार दोनों पैर और कटिसे ऊपरका भाग मिलकर भी ओंकारकी आकृति बन जाती है।

यह ध्यान करनेके लिए प्रणवके रूपकी कल्पना है। ध्यानका फल उपलब्धि है, उपलब्धिका फल ध्यान नहीं है। यदि हम किसी वस्तुको जान लें तो उसका ध्यान करना आवश्यक नहीं रह जाता।

ध्यानका फल, क्रियाका फल ज्ञान होता है। जहाँ ज्ञानका विषय अन्य होता है, वहाँ ज्ञानका फल क्रिया होती है; किन्तु जहाँ ज्ञानका विषय अपना स्वरूप होगा, वहाँ ज्ञानका फल क्रिया या उपासना नहीं होगी। वहाँ ज्ञान स्वयं फलरूप होगा। दूसरेके विषयमें जो ज्ञान होगा वह क्रिया; उपासना, अभ्यासका प्रेरक या उस ओरसे निवृत्त करनेवाला होगा। हम जिस अन्यको जानेंगे, वह श्रेष्ठ हुआ तो उसे पाना चाहेंगे, निकृष्ट हुआ तो छोड़ना चाहेंगे; किन्तु अपने विषयका ज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता। अपनेको पाना या छोड़ना बनता नहीं।

जिन लोगोंने परमात्माको अन्यके रूपमें जाना, उनके ज्ञानका फल उपासना हुई; किन्तु जिन्होंने परमात्माको 'स्व'रूपसे जाना, उनके ज्ञानका फल उपासना नहीं है। यदि उनके जीवनमें पहले उपासना रही है तो बाधितानुवृत्तिसे चलती रह सकती है; किन्तु वह ज्ञानका फल नहीं है।

ओंकारका जप करते हुए उसमें विश्व, तैजस, प्राज्ञका ध्यान करना है इस अद्वयतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए। अकारके उच्चारणके साथ विश्वको छोड़कर तैजससे एक हो जाओ। मकारके उच्चारणके साथ तैजसको छोड़कर प्राज्ञसे एक हो जाओ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और मकार अनुस्वारकी ध्वनि समाप्त होनेपर अमात्रमें, तुरीयमें स्थित होकर प्राज्ञको भी छोड़ दो। इस प्रकार ओंकारके द्वारा ध्यान करो और विचार करो। यह 'त्वं' पदके चिन्तन-अनुसन्धान-की रीति है।

यदि यह रीति भी सुगम न पड़े, तो ओंकारके द्वारा ईश्वरका विचार करो। अकार विश्वात्मा विराट्, उकार तैजस-हिरण्यगर्भ, मकार प्राज्ञ-ईश्वर और तुरीय अमात्र शुद्ध ब्रह्म, इस प्रकार 'तत्' पदार्थका चिन्तन करो। 'तत्' पदके चिन्तनके पश्चात् 'त्वं' पदका चिन्तन करो और तब 'तत्त्वमसि' महावाक्यके द्वारा दोनोंकी एकता समझ लो।

यहीं यह प्रश्न उठता है कि प्रणवका उच्चारण कौन करे, कौन न करे? शास्त्रार्थके विवादमें न जाकर हम यहाँ सीधी बात बता देते हैं कि वेदके मन्त्रोंकी एक आनुपूर्वी होती है। अमुक स्वरमें, अमुक ढंगसे बोलनेपर उनमें वेदत्व रहता है और उससे भिन्न ढंगसे बोलनेपर नहीं रहता। जैसे अग्निमीले पुरोहि-तम्' वेदमन्त्र है; किन्तु वह्निमीले पुरोहितम् कह दें तो यह वेद-मन्त्र नहीं रहेगा। इसी प्रकार प्रणवके भी वैदिक और लौकिक दो रूप हैं। किसीके नामके साथ जो प्रणव लगा है जैसे ओंकार-नाथ, यह लौकिक प्रणव है। 'ओ'के ऊपर अनुस्वार लगाकर बोलना लौकिक प्रणव है संस्कृतमें 'हाँ'के अर्थमें 'ओम्' है और 'ओम्' अव्यय है, यह सब लौकिक प्रणव हैं। इसी प्रकार गीतामें, पुराणोंमें, जहाँ प्रणव आया है, वह भी लौकिक प्रणव है। वेदमें, प्रणवके उच्चारणकी जो रीति बतायी है, उस रीतिसे 'ओऽम्'का जबतक उच्चारण नहीं होगा, तबतक उसमें वैदिकता नहीं आवेगी। लौकिक रूपमें प्रणवका उच्चारण करनेके सभी अधि-कारी हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भागवतमें प्रणवके उच्चारणकी रीति बतायी गयी है। दीर्घघण्टानिनादवत्। घण्टेपर चोट मारकर छोड़ दें तो जैसे देरतक लम्बी ध्वनि निकलती रहती है वैसे, एक पूरी श्वासमें एकबार प्रणवका उच्चारण होता है। घण्टेपर बार-बार चोट करनेपर भी सब टन-टनमें अनुस्यूत एक दीर्घध्वनि होती है वैसे ही अ–उ–म्–में अनुगत अमात्रका अनुसन्धान करना चाहिए।

प्रणवका जप कब करना चाहिए? यह भी एक प्रश्न है। सामान्यत: तो मन्त्रका जप स्नान करके ही करना चाहिए; किन्तु जो एक मन्त्रकी शरण है उसे सब समय करना चाहिए। उस समय यही बात मुख्य है। उपनिषद्में कहा है:

> अशुचिर्वा शुचिर्वापि प्रणवं य: स्मरेत् सदा।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

इस प्रकार प्रणवके रहस्यको समझकर प्रणका जो जप करता है, वह प्रणवके उच्चारणके साथ विश्व, तैजस प्राज्ञसे ऊपर उठकर अमात्र तुरीयमें स्थिर हो जाता है।

किसी भी पदार्थके सम्बन्धमें जब व्यवहार करना होता है तो शब्दकी आवश्यकता पड़ती है। बिना शब्दके, बिना नामके परस्पर व्यवहार नहीं हो सकता, अत: वेदान्तमें व्यवहारकी परिभाषा दी है:

> व्यवहार: शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा।

हम जो शब्दोच्चारण करते हैं, उसीका नाम व्यवहार है अथवा हृदयमें जो स्फुरणा होती है, उसका नाम व्यवहार है। बिना शब्दके स्फुरणा, विचार भी नहीं होते।

जहाँ कोई कार्य होगा, वहाँ स्पन्दन-गति अवश्य होगी और जहाँ स्पन्दन होगा, वहाँ शब्द अवश्य होगा। अत: प्रत्येक शारीरिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवं मानसिक व्यवहारसे शब्द होता है। अतः जब सृष्टि हुई, अर्थात् प्रकृतिमें जब क्षोभ हुआ, तब शब्द भी हुआ। उस शब्दमें तीन भाग अवश्य होने चाहिए, क्योंकि हमें सृष्टिमें सर्वत्र तीन बात त्रिगुणात्मकता प्रत्यक्ष ज्ञात होती है, प्रकृतिमें तीन अवस्थाएँ मूढ़, घोर और शान्त स्पष्ट हैं। शरीर मूढ़ है, मन-प्राणादि घोर हैं, चित्तमें शांतावस्था देखनेमें आती है। मूढ़के कारणरूपसे तमोगुण, घोरके कारणरूपसे रजोगुण और शांतके कारणरूपसे सत्त्वगुणका अनुमान होता है।

अपने जीवनमें हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ प्रत्यक्ष दीखती हैं। जाग्रत्का अभिमानी विश्व, स्वप्नका अभिमानी तैजस, सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ हमारा अनुभव किया हुआ है। इस प्रकार तीन गुण, तीन अवस्थाएँ, उनके तीन अभिमानी और समष्टिमें विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेश यह तीन-तीन हैं। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येयकी त्रिपुटी है। तो इन सब त्रैतोंके मूलमें शब्द भी तीन प्रकारके होने चाहिए और वे तीनों शब्द मिलकर एक-रूप भी होना चाहिए; क्योंकि सभी त्रिपुटी एकरूप होती हैं। अतः पृथक् रूपमें वह शब्द अकार, उकार, मकार है और एक रूपमें वही 'ॐ' है।

इसमें अकार स्थूलसृष्टि विश्वविराट्का, उकार सूक्ष्मसमष्टि तैजस हिरण्यगर्भका और मकार कारणावस्था प्राज्ञ ईश्वरका वाचक है। सृष्टिकी ये तीन अवस्थाएँ हैं और तीनोंमें एक ही प्रणव तीन प्रकारसे गृहीत होता है। निर्गुण, निराकार, निर्धर्मक, अक्षरातीत जो है, वह अमात्र है। वह 'ॐ' पदका लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं है।

'ॐ'में अकारका वाच्यार्थ विराट्, उकारका वाच्यार्थ हिरण्य-

२७
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गर्भ, मकारका वाच्यार्थ ईश्वर और तीनोंके सम्मिलित रूप पूरे 'ॐ'का वाच्यार्थ सगुण-ब्रह्म है। इनका लक्ष्यार्थ निर्गुण-ब्रह्म है। लक्ष्यार्थ निकालनेकी आवश्यकता तब पड़ती है, जब महावाक्यके 'असि' पदका तात्पर्य निश्चय करना होता है।

अब प्रणवके अक्षरोंका विशेष रूपसे वर्णन करते हुए उनके उच्चारणके महत्त्वको बतलाते हैं। ○

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नवाँ मन्त्र

तत्र विशेषनियमः क्रियते—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्य अकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्तिर्व्याप्तिः अकारेण सर्वा वाग् व्याप्ता, 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐ० आ० २.३ ६.) इति श्रुतेः। तथा वैश्वानरेण जगत्, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' (छा० उ० ५.१८.) इत्यादिश्रुतेः।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम। आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्, यथैव आदिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य। तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद, यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अकार और विश्वका तादात्म्य

अब उनमें विशेष नियम कहते हैं—

जिसका जागरित स्थान है, वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्वके कारण प्रणवकी प्रथम मात्रा अकार है। जो इस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जानता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और आदि-प्रधान होता है।

जो जागरित स्थानवाला वैश्वानर है, वही ओंकारकी पहली मात्रा अकार है। किस समानताके कारण पहली मात्रा है? इसपर कहते हैं: आप्तिके कारण। आप्तिका अर्थ है व्याप्ति, 'निश्चय ही अकार सम्पूर्ण वाणी है' इस श्रुतिके अनुसार अकारसे समस्त वाणी व्याप्त है तथा इन वैश्वानर आत्माका मस्तक ही द्युलोक है' इस श्रुतिके अनुसार वैश्वानरसे सारा जगत् व्याप्त है।

अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) की एकता तो हम कह ही चुके हैं। जिसमें आदि (प्रथमता) है, उसे ही 'आदिमत्' कहते है। जिस प्रकार अकार अक्षर आदिमान् है, वैसे ही वैश्वानर भी है। इसी समानताके कारण वैश्वानरकी अकार-रूपता है। इनकी एकताको जाननेवालेके लिए फल बतलाया जाता है: 'जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् पूर्वोक्त एकत्वको जाननेवाला है, वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषोंमें आदि, प्रथम होता है।'

उपनिषद्के तीसरे मन्त्रमें यह निरूपण हो चुका है कि जाग्रत्-अवस्थाका जो अभिमानी है, वह वैश्वानर है। उसके सात अंग हैं, उन्नीस मुख हैं और वह स्थूलभोगोंका भोक्ता है। वह वैश्वानर प्रणवकी प्रथम मात्रा, अकार है।

प्रथममात्र आप्तेरादिमत्वात् यहाँ 'आप्ति'का अर्थ व्याप्ति हैं अर्थात् अकार जो प्रणवकी प्रथम मात्रा है, यह सम्पूर्ण वर्णमालामें व्याप्त है। **अकारो वै सर्वा वाक्** संपूर्ण वाणी अकार ही है। प्रयत्न-भेदसे 'अ' ही नाना वर्णोंके रूपमें उच्चरित होता है। जैसे अकार व्याप्त है वैसे ही विश्व भी व्याप्त है। जैसे अकारके विना वाणी नहीं है, वैसे ही विश्वके विना सृष्टि नहीं है। जब विचार प्रारम्भ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते हैं तो प्रथम विश्वका विचार करते हैं। अतः प्रथम होने और व्याप्त होनेके कारण अकार वैश्वानरका वाचक है।

अकार और विश्वका विचार क्यों किया जाय ? इससे लाभ क्या है ? इसका उत्तर देते हैं कि यह विचार करनेसे सम्पूर्ण विश्व तुम्हारी सृष्टि हो जायगा। समस्त जगत् तुम्हारा घर, तुम्हारी देह बन जायगा।

अभी तुम अपनेको एक देह मानते हो, इसीलिए राग-द्वेष, लोभ-मोह, काम-क्रोधादि समस्त बुराइयाँ हैं और इसीलिए दुःख होता है। जब तुम संपूर्ण विश्वके अभिमानी विराट् रूपमें अपनेको देखोगे तो **सर्वान् कामानादिश्च भवति**—सब कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जायँगी। सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा शरीर है, तो तुम्हारे लिए अप्राप्त क्या रहा ?

कोई भी धर्म, कोई भी दर्शन देहको आत्मा नहीं मानता। सब दुःख, सब दोष देहको ही 'मैं' मान लेनेसे उत्पन्न हुए हैं। अतः देहको छोड़कर जब विराट्को तुम अपना स्वरूप समझ लोगे तो तुम्हारा असन्तोष दूर हो जायगा।

आदिश्च भवति—केवल असन्तोष ही नहीं मिटेगा, केवल संकल्प-विकल्प ही शान्त नहीं होंगे; अपनेको विराट्-वैश्वानर देखनेवाला महापुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। क्योंकि जब हम धर्मका विचार करते हैं तो **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** जिससे सबके अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं। सृष्टिका विचार करते हैं तो सम्पूर्ण सृष्टिका विचार करते हैं, देश-विशेषका नहीं। इसी प्रकार महापुरुषका विचार करेंगे तो जो विश्वात्मा बन चुका, उसीकी गणना हमें प्रथम करनी होगी।

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दसवाँ मन्त्र

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा उत्कर्षादुभयत्वाद्, उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओङ्कारस्य उकारो द्वितीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात्। अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद् वा अकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्व-प्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्।

विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम्, विज्ञानसन्तति वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

उकार और तैजसका तादात्म्य

जिसका स्थान स्वप्न है, वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्वके कारण ही द्वितीय मात्रा उकार है। जो ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञानसन्तानका उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानरहित पुरुष नहीं होता।

जो स्वप्नस्थानवाला तैजस है, वह ओंकारकी दूसरी मात्रा उकार है। किस समानताके कारण दूसरी मात्रा है? इसपर कहते हैं, उत्कर्षके कारण। जिस प्रकार अकारसे उकार उत्कृष्ट है, उसी प्रकार विश्वसे तैजस उत्कृष्ट है। अथवा मध्यवर्तित्वके कारण—जिस प्रकार उकार, अकार और मकारके मध्यमें स्थित है, उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञके मध्यमें तैजस है। अतः उभयपरत्वरूप समानताके कारण भी उनमें अभिन्नता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं—जो इस प्रकार जानता है, वह ज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञानसन्तानका उत्कर्ष यानी वृद्धि करता है। सबके प्रति समान, तुल्य होता है। अर्थात् मित्रपक्षके समान शत्रुपक्षका भी अद्वेष्य होता है। उसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता।

यहाँ एक व्यक्तिके लिए नहीं, पूरे कुलके लिए, सन्तान-परम्पराके लिए उपाय बतला रहे हैं।

उपनिषद्‌के चतुर्थ मन्त्रमें यह बता आये हैं कि स्वप्नावस्था-का अभिमानी जो तैजस है, वह अन्तःप्रज्ञ है, सात अंग और उन्नीस मुखवाला तथा सूक्ष्मविषयोंका भोक्ता है। वह तैजस ओंकारकी द्वितीय मात्रा उकारका वाच्यार्थ है। अब वैश्वानर-विराट्को छोड़ दो और देखो कि मैं सूक्ष्म-समष्टिका अभिमानी हूं। एक अन्तःकरणमें जो काम, क्रोध, लोभादि हैं, उनको ज्ञानाग्निमें हवन कर दो। अविद्याको हवन कर दो।

भगवान् शंकराचार्यने लिखा है कि मनुष्य शान्तभावसे बैठ जाय और अपनी नाभिके पास एक त्रिकोण ज्योतिर्मय कुंडकी मनमें धारणा करके उसमें हवन करे। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिकी अठ्ठाईस आहुतियाँ देनेका विधान भगवान् शंकराचार्यने लिखा है। इसे प्रतिदिन करके देखो, अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। तात्पर्य यह है कि स्थूलको सूक्ष्ममें हवन कर दो।

यह सूक्ष्म-समष्टि तैजस उकार है। यह स्थूल-सृष्टिसे श्रेष्ठ है; क्योंकि पहिले मनमें इच्छा होती है, तब क्रिया बनती है। क्रिया-के मूलमें संकल्प है और संकल्पके मूलमें है बुद्धि। अतः बुद्धिको शुद्ध करना है। बुद्धिके शुद्ध होनेसे इच्छा शुद्ध होगी और इच्छा शुद्ध होनेसे क्रिया शुद्ध होगी। क्रियाको रोकनेसे क्रियाकी शुद्धि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होती। जैसे घूमते पंखेको पकड़कर रोकें वह तभीतक रुका रहेगा, जबतक पकड़े रहेंगे। उसे रोकनेके लिए बिजलीका स्विच बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार कानून या समाजके दबावसे रोकनेपर भी चोरी आदि निन्दित कर्म रुकते नहीं, छिपकर होते हैं। शरीरसे न हों तो मनसे होते रहते हैं। उनको रोकनेका ठीक उपाय बुद्धिकी शुद्धि है।

सूक्ष्म कार्य और कारण दोनोंसे संबंध जोड़नेवाला है। जाग्रत् और सुषुप्ति दोनोंका सम्बन्ध स्वप्न जोड़ता है। इसी प्रकार अकार और मकारका संबंध उकार जोड़ता है। अतः उकारका अर्थ है, हिरण्यगर्भ-तैजस, सूक्ष्म, समष्टिका अभिमानी। इसके ज्ञानसे उत्कर्ष होगा और बुद्धि शुद्ध हो जायगी। साथ ही ज्ञानसंततिकी प्राप्ति होगी और समता आयेगी। सूक्ष्म समष्टिके अभिमानीसे एकत्व होनेपर स्थूलमें राग-द्वेष मिट जायगा। इससे हिंसाकी निवृत्ति हो जायगी और समता आ जायगी और आगे तुम्हारी सन्तान-परम्परा ब्रह्मज्ञानी होगी।

जिसके चित्तमें क्रोध आता है, काम आता है उसके शरीरपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उसके वीर्यपर भी प्रभाव पड़ता है और उसका प्रभाव सन्तानपर भी पड़ता है। यह बात आज मनोवैज्ञानिक निर्विवाद मानते हैं कि कुलके संस्कारकी परम्परा चलती है। अतः जिसके चित्तमें ज्ञान है, राग-द्वेष नहीं है, उसकी सन्ततिपर भी उसका प्रभाव पड़ेगा, यह कोई असंगत बात नहीं है।

इसलिए यह ज्ञान अत्युत्तम है। इससे व्यक्ति उत्कृष्ट हो जाता है, ज्ञान-परम्पराकी रक्षा करता है, समता आती है और उसकी सन्तति-परम्परा ब्रह्मवेत्ता हो जाती है। ●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्यारहवाँ मन्त्र

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—सामान्यमिदमत्र: मिते मितिर्मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेश-निर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। यथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इव अकारोकारौ मकारे।

अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओङ्कारोच्चारणे ह्यन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञ-मकारयोः।

विद्वत्फलमाह—मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्र आवान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥ ११ ॥

मकार और प्राज्ञका तादात्म्य

सुषुप्ति जिसका स्थान है, वह प्राज्ञ भाव और लयके कारण ओङ्कारकी तृतीया मात्रा मकार है। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण जगत्का मान, प्रमाण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुषुप्तिस्थानवाला जो प्राज्ञ है, वह ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। किस समानताके कारण? यह बतलाते हैं, यहाँ इनमें यह समानता है—ये मितिके कारण समान हैं। मिति मानको कहते हैं। जिस प्रकार प्रस्थसे गेहूँ, जव आदि मापते हैं, उसी प्रकार प्रलय-उत्पत्तिके समय मानो प्रवेश एवं निर्गमनके द्वारा प्राज्ञसे विश्व और तैजस मापे जाते हैं। ओङ्कारकी समाप्ति एवं उसके पुनः प्रयोगपर इसी प्रकार अकार और उकार मकारमें प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।

अथवा अपीतिके कारण उनमें एकता है। अपीति एकीभावको कहते हैं। ओङ्कारका उच्चारण करनेपर अकार और उकार अन्तिम अक्षरमें एकीभूत हो जाते हैं, इसी प्रकार सुषुप्तिके समय विश्व और तैजस प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं। अतः इस समानताके कारण भी प्राज्ञ और मकारकी एकता है।

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं—जो ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत्को माप लेता है। अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तथा जगत्का कारण-स्वरूप हो जाता है। यहाँ जो अवान्तर फल बतलाये गये हैं, वे प्रधान साधनकी स्तुतिके लिए हैं।

ओङ्कारकी तृतीय मात्रा मकार अर्थात् अनुस्वार प्राज्ञका वाचक है। प्राज्ञका वर्णन करते हुए उपनिषद्के छठे मन्त्रमें कहा गया है कि यह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान है। इस प्राज्ञका वाचक मकार है।

यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि नाम और वस्तुका भेद व्यवहारमें होता है, परमार्थमें नहीं। पुष्प पदार्थ और पुष्प नाम,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह भेद व्यवहारमें हैं; किन्तु सुषुप्ति या समाधिमें शब्द, ज्ञान तथा वस्तु ये तीनों पृथक् नहीं रहते; एक हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनकी चंचलता ही भेदज्ञानमें प्रमाण है और मनकी अचलतामें भेदज्ञान नहीं रहता। अतः परमार्थमें नाम और नामीका भेद न होनेसे वाच्य प्राज्ञ और वाचक मकार एकरूप ही हैं।

सुषुप्ति हमारे जीवनका सत्य है। जीवनके सत्योंपर तुमने जाग्रत्‌को लेकर ही विचार किया है; किन्तु सुषुप्तिको लेकर जीवनके सत्योंपर विचार नहीं किया है। सुषुप्तिको लेकर विचार करो। वहाँ प्रज्ञाका घनीभाव रहता है। इसी वस्तुको समझनेके लिए मकार है।

यह प्राज्ञ, सुषुप्ति-अवस्था जाग्रत् और स्वप्नके समस्त पदार्थोंको तौला देती है—सबका निश्चित मूल्यांकन कर देती है। उसीसे सब उत्पन्न होते हैं और उसमें ही लय हो जाते हैं। **अपीतिश्च भवति** उसमें सबका पार्थक्य समाप्त हो जाता है। सब उसमें लय हो जाते हैं।

यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि जाग्रत् और स्वप्नके समान सुषुप्ति-अवस्था प्रतिशरीर भिन्न नहीं होती। इससे भी सरल रीतिसे यह समझ सकते हैं कि यह भूताकाश भेदरहित है। शरीरके भीतरका आकाश और बाहरका आकाश दो नहीं। स्वप्नमें जो पृथ्वी, पदार्थ, प्राणी दीखते हैं, वहाँ जो आकाश, ग्रह-नक्षत्रादि हैं, वे मनसे ही निकले हैं। इसी प्रकार जाग्रत्‌का भी यह दृश्य-प्रपञ्च मनसे ही निकला है, यह बात भी समझायी जा चुकी है। इस सम्पूर्ण दृश्य एवं आकाशको अपने भीतर लेकर मन सो जाता है। मनके भीतरका आकाश हुआ चित्ताकाश। जब भूता-काशमें ही भेद नहीं है तो चित्ताकाशमें भेद कहाँसे होगा?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाँचभौतिक शरीरकी उपाधिसे जो आकाश है, वह है भूताकाश! स्वप्नमें कल्पित दृश्योंकी उपाधिसे जो आकाश है, वह है चित्ताकाश। प्रज्ञाके घनीभावसे सुषुप्तिमें जो आकाश है, वह है कारणाकाश या प्रकृत्याकाश और जो शुद्ध चिन्मात्र है, जिसमें द्रष्टा-दृश्यका भेद नहीं है, वह चिदाकाश अपना स्वरूप ही है। उस चिदाकाशमें इस प्रपंचगत भेदका होना कैसे सम्भव है ?

इन अवस्थाओंको समझनेके लिए हम प्रणवका सहारा लेते हैं। यदि समझमें न आये तो भावना करो। भावनाके द्वारा स्थित हो जाओ। यह भावना या उपासना दो प्रकारकी है। एक तो 'तत्'पदार्थके रूपमें कि 'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका अधिष्ठान एक चेतन, अद्वितीय परब्रह्म है' और दूसरी 'त्वं'पदार्थके रूपमें कि "इन अवस्थाओंका द्रष्टा, अखण्ड चेतन 'मैं' हूँ।"

इनमें 'तत्पदार्थ'की उपासना आभासवादिनी और 'त्वं'-पदार्थकी उपासना दृष्टिवादिनी होती है। ये दोनों न हो सकें तो प्रणवका जप, ओंकारकी आवृत्ति करना चाहिए। प्रणवके अर्थकी भावना करते हुए जप करो। प्रणवका अर्थ क्या है ? यही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर ! ये प्रणवके अक्षरोंके अर्थ हैं। जो ऐसा जान लेता है वह सारे विश्वको तौल लेता है, अपने आपमें मिला लेता है। अर्थात् वह सबके रहस्यको, सबकी यथार्थताको जान लेता है।

बात यह है कि जो वस्तु ज्ञानसे मिलती है, वह पहलेसे प्राप्त होती है। वह मिली नहीं है, ऐसा केवल भ्रम रहता है और ज्ञान उसी भ्रमको दूर कर देता है। अपना स्वरूप तो नित्यप्राप्त है और उसमें ये तीनों जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ मायामात्र या प्रतीति-मात्र हैं। इनका ठीक-ठीक मूल्य-स्वरूप जानते नहीं, इसीसे भ्रममें पड़े हैं। अतः इसको जान लेना है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवतक प्रणवके अकार, उकार, मकारको क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञका वाचक बतलाया और इनका पृथक्-पृथक् फल भी बतलाया। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कोई केवल 'अ' केवल 'उ' अथवा केवल 'म'का जप अथवा चिन्तन करे। ये अवान्तर फल तो प्रधान साधन या सम्पूर्ण प्रणवके जप-चिन्तनकी स्तुतिके लिए कहे गये हैं। जप या उपासना तो प्रणवकी ही करनी चाहिए।

जितनी भी सिद्धियाँ हैं, वे समाधिमें विघ्न हैं : **ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः**। इसी प्रकार अकार, उकार और मकार तथा विश्व, तैजस और प्राज्ञके ज्ञानसे जो सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं, उनका तात्पर्य उन सिद्धियोंमें नहीं है। सिद्धियाँ तो तत्त्वज्ञानमें बाधक बनेंगी। जबतक कुछ भी चाहोगे, तबतक अविद्या बनी रहेगी। हमें बराबर आनन्द आता रहे, यह इच्छा भी होगी तो आनन्दाकार-वृत्तिसे राग होगा। वृत्ति रहेगी अन्तःकरणमें और अन्तःकरण अविद्याका कार्य है। अतएव एक वृत्ति भी रखना चाहोगे तो अविद्यावृत्ति रहेगी, अन्तःकरण बना रहेगा। तब तत्त्वज्ञान कहाँ हुआ? इसलिए समस्त सिद्धियाँ, सम्पूर्ण राग तत्त्वज्ञानमें बाधक हैं।

अपनेको सम्पूर्ण विश्व-विराट्रूप सदा देखते रहोगे तो देखना कहाँ होगा? अन्तःकरणमें। इसी प्रकार समष्टिके सूक्ष्मका अभिमानी हिरण्यगर्भ अपनेको देखो या सुषुप्तिका अभिमानी ईश्वर देखो, तो देखना अन्तःकरणमें ही होगा और अन्तःकरण रखोगे तो अविद्या रहेगी। आनन्दाकार-वृत्ति या समाधिसे राग होगा तो तुम रागके भोक्ता हुए, असंग नहीं हुए। अतः वृत्तिमात्रसे असंग होनेमें वेदान्तका तात्पर्य है। प्रणवके आलम्बनको लेकर अमात्र तुरीयको जानकर उसमें स्थित होनेमें तात्पर्य है, बताये हुए फलकी उपलब्धिमें तात्पर्य नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समझना यह है कि अन्तःकरणकी कोई अवस्था मेरी नहीं है। अन्तःकरणके किसी आकारके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि तुम किसी अवस्थाको सच्ची समझते हो तो तुम 'सत्' स्वरूप नहीं हो। यदि तुम दृश्य वस्तुको 'सत्'-स्वरूप समझते हो तो तुम सत्स्वरूप नहीं हो। यदि तुम किसीको ज्ञानस्वरूप समझते हो तो तुम ज्ञानस्वरूप नहीं, यदि किसीको आनन्दस्वरूप समझते हो तो भी तुम आनन्दस्वरूप नहीं हो। यदि तुम आनन्दको अपनेसे अन्य समझोगे तो भक्ति होगी और अपना स्वरूप समझोगे तो आत्मरति होगी।

जो अन्य है, वह जड़ है और 'अहं' चेतन है। जड़ दुःख है और चेतन आनन्द है। मैं चेतन आनन्दस्वरूप हूं और जड़स्वरूप दुःख मुझसे पृथक् है—यह सांख्यका द्रष्टा-दृश्य-विवेक हो गया। मैं सत्स्वरूप हूं और मुझसे जो भिन्न है वह असत् है—यह वेदान्तका विचार हुआ। भक्त दुःख और आनन्दका विवेक करते हैं कि संसार दुःखरूप है और परमात्मा आनन्दरूप है। योग और सांख्य चेतनका विवेक करते हैं कि मैं द्रष्टा चेतन और दृश्य जड़। लेकिन वेदान्त सत्ताका भी विवेक करता है कि मैं सत्स्वरूप हूँ और मुझसे भिन्न सब असत् है।

इस विवेककी आवश्यकता यह है दुःख और जड़तामें सत्यत्व-भ्रान्ति दूर हो जाय। भ्रान्ति मिट जानेपर असत्-प्रतीति अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं रहती। अतः यदि हम कुछ भी चाहते हैं—भले वह चित्तकी शान्ति या आनन्द हो, तो अन्तःकरणकी वृत्तिसे युक्त होते हैं। हम अपने अखण्ड परिपूर्ण सच्चिदानन्द रूपसे पृथक् होते हैं। अतएव यह जो प्रणवके अक्षरोंका फल निर्दिष्ट है, उसका तात्पर्य है स्वरूपज्ञानमें प्रवृत्त करना। ०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९.

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

> विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
> मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥१९॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्यमुक्तन्यायेन उत्कटमुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति। विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यत इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात् ॥ १९ ॥

उपनिषद्के आठवें, नौवें, दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्रमें जो बात कही गयी है, उसी बातको श्रीगौड़पादाचार्यजी यहाँ तीन कारिकाओंमें बतला रहे हैं :

जिस समय विश्वका अत्व अर्थात् अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता है, उस समय पूर्वोक्त न्यायसे उनके प्राथमिकत्वकी समानता उत्कट अर्थात् प्रकट रूपसे दिखायी देती है। मात्रासम्प्रतिपत्तौ यह अत्वविवक्षायाम् इस पदकी व्याख्या है। तात्पर्य यह कि जब विश्वके अकारमात्रत्वका ज्ञान होता है, उस समय उनकी व्याप्तिकी समानता तो स्पष्ट ही है। यहाँ 'च' शब्दसे 'उत्कट' पदकी अनुवृत्ति की जाती है ॥ १९ ॥

२०.

> तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
> मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः । उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्ववत्सर्वम् ॥ २० ॥

तैजसके उत्वविज्ञानमें अर्थात् उसके उकार रूपसे प्रतिपादन करनेमें उसका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिखलायी देता है । इसी प्रकार उत्तमत्व भी स्पष्ट है । शेष सब पूर्ववत् है ॥ २० ॥

२१.

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥ २१ ॥

प्राज्ञके मकाररूप होनेमें मान और लयरूप समानता स्पष्ट है, यह इसका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

उपनिषद्के मूलमन्त्रमें प्रणवके अकार, उकार, मकारकी जो समानता विश्व, तैजस और प्राज्ञसे बतलायी गयी है, वही समानता इन तीनों कारिकाओंमें भी बतलायी गयी है। विश्व, तैजस, प्राज्ञमें विश्व प्रथम (आदि) है; और अकार, उकार, मकारमें अकार प्रथम है, अतः अकारसे विश्व लेना चाहिए; क्योंकि अकार भी व्यापक है और विश्व भी व्यापक है। तैजस विश्वसे उत्कृष्ट है और मध्यमें है तथा उकार भी मध्यमें है, अतः उकारसे तैजस लेना चाहिए। मकार और प्राज्ञ दोनोंमें मान-सामान्य है अर्थात् सबका इनमें एकीभाव हो जाता है, अतः मकारसे प्राज्ञ लेना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

यथोक्तस्थानत्रये यस्तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त तीनों स्थानोंमें तुल्यरूपसे बतलायी गयी समानताको जो 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चयपूर्वक है, वह ब्रह्मवेत्ता लोकमें पूजनीय एवं वन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

इससे ठीक मिलता-जुलता श्लोक पहले आ चुका है :

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें जो विषय हैं, वे भोग्य हैं और अवस्थाओंके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ उनके भोक्ता हैं। जो इन भोक्ता और भोग्य दोनोंको जानता है, वह भोग करता हुआ, व्यवहारमें रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता। क्योंकि ज्ञानका अर्थ भेदका, संसारका मिट जाना नहीं है। ज्ञानका अर्थ है उसमें सत्यत्वकी भ्रान्तिका मिट जाना।

ब्रह्मज्ञानीका अर्थ है कि जिसका अभिमान शरीरमें नहीं रहा। वैसे जबतक शरीर रहेगा, तबतक शरीरको वायु, जल, अन्नकी आवश्यकता तो होगी ही। ब्रह्मज्ञानी समझ लेता है कि वह शरीर नहीं, अनन्त चिन्मात्र आत्मा है। अपनेको अनन्त चिन्मात्र आत्मा समझ लेनेपर अपनेसे भिन्न कोई वस्तु रह भी नहीं जाती। अनन्तमें देश, काल एवं वस्तुका भेद नहीं हो सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः 'मैं ही अनन्त हूँ' यह बोध हो जानेपर परिच्छिन्नताका अभिमान दूर हो जाता है।

इस बोधका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य मर गया! व्यवहारमें तो मनुष्यका देह है ही और देह है तो वह श्वास लेगा, जल पियेगा, भोजन करेगा। मनुष्यके सभी व्यवहार करेगा। यह व्यवहार तो रहता है; किन्तु जो जान लेता है कि 'इस व्यवहार-इस भोगवृत्तिका आश्रय मैं नहीं हूं, इसका अभिमानी मैं नहीं हूं' वह लिप्त नहीं होता। उसके लिए सुख-दुःख, हँसना-रोना, मरना-जीना कोई महत्त्व नहीं रखता। उसका इनमेंसे किसीमें आग्रह नहीं रह जाता।

अब ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुषका माहात्म्य बतलाते हैं कि तीनों जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्थाओंमें जो एक तुल्य-सामान्य है, अर्थात् जो इन तीनों अवस्थाओंमें समान रूपसे बना रहता है, उसे जो निश्चयपूर्वक जान ले, वह महामुनि सम्पूर्ण प्राणियोंके द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय है।

आत्मा, ब्रह्म समाधिमें रहता है और विक्षेपमें नहीं रहता, ऐसा नहीं है। यह तुरीयतत्त्व, आत्मा अर्थात् मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि सभी अवस्थाओंमें हूं। अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् दीखती हैं; किन्तु मैं पृथक्-पृथक् नहीं हूँ। मैं जो जाग्रत्में वही स्वप्नमें और वही सुषुप्तिमें भी हूँ। ये जितने भेद दीख रहे हैं, जो इनका द्रष्टा है, वह मैं हूँ।

यह बात पहले विस्तारसे बता आये हैं कि विषय-भेद या इन्द्रिय-गोलकोंके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। देश, काल और वस्तुका प्रकाशक ज्ञान ही है और वह अखण्ड परिपूर्ण ज्ञान मैं हूँ।

हम जब एक बुद्धि, एक देहमें रहनेवाली इन्द्रियों तथा एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्तःकरणके ज्ञानको अपना स्वीकार करते हैं, तो ज्ञाता बन जाते हैं। अन्तःकरणसे अपनेको पृथक् कर लें तो अन्तःकरणका ज्ञातापना, कर्मेन्द्रियोंका कर्तृत्व तथा अन्तःकरणका सुखित्व एवं भोक्तृत्व सब छूट जायगा। तब जो अखण्ड-सामान्य है, जिसमें सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदमात्र नहीं है, उस ज्ञानका नाम ही ब्रह्म है।

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म।

यह ब्रह्म और मैं यदि पृथक्-पृथक् हों तो दोनोंके भेदका प्रकाशक कोई ज्ञान होगा। किन्तु ब्रह्म चेतन है और मैं भी चेतन हूं; क्योंकि किसीको यह अनुभव कभी नहीं होता कि मैं जड़ हूं या मैं नहीं हूँ अथवा अपनेसे प्यार नहीं करता। अतः मैं सत्, चित्, आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द हूं यही ब्रह्मका स्वरूप है, अतः मैं ही ब्रह्म हूं।

यह जो भेद प्रतीत हो रहा है, वह दृश्य है, प्रकाशसापेक्ष है, विकारी है, ज्ञान-निवर्त्य है; अतः वह सर्वथा मिथ्या है। यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका भेद मिथ्या है और इनमें एक-समान रहनेवाला सच्चिदानन्द आत्मा मैं हूँ—यह जो जान लेता है, वही संसारमें सबके द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय होता है।

संसारमें पूजनीय कौन है? ईश्वर। जो एक शरीरको अपना मानकर देहाभिमानी बना बैठा है, उसको तो जीव कहते हैं। लेकिन एक शरीरमें तो अरबों कीटाणु हैं। ज्ञानीकी मुक्ति होगी तो क्या उन कीटाणुओंकी, जो उसके देहमें हैं, मुक्ति होगी? एक देहमें अरबों कीटाणुओंको 'मैं' माननेवाला अज्ञानी उनमेंसे कौन-सा जीव है? सच्ची बात तो यह है कि परिच्छिन्नतामें 'मैं' का ही जीवत्व है, और जहाँ परिच्छिन्नमें 'मैं' का भाव नहीं; वहीं ईश्वरत्व है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वरमें माया तो है, इसलिए ईश्वरको प्रपंचकी प्रतीति भी भाव है। किन्तु उसे प्रपंचमें सत्यत्वकी भ्रांति नहीं होती; क्योंकि ईश्वरमें अविद्या नहीं है। सत्यत्वकी भ्रांति न होनेसे अभिमान भी नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भगवान्से प्रश्न किया कि जीव कौन है और ईश्वर कौन? तो भगवान्ने उत्तर दिया :

गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः।

—भागवत ११. १६. ४४

अर्थात् गुणोंमें, संसारके विषयोंमें जिसकी बुद्धि आसक्त है, वह आसक्त जीव है और जिसकी बुद्धि गुणोंमें—देह, मन, इन्द्रिय, अन्तः-करणमें नहीं है, वह है ईश्वर।

अब देखो कि तत्त्वज्ञका स्वरूप क्या है? वह कभी परिच्छिन्न-को 'मैं' नहीं मानता। अतः वह जीव नहीं है, ईश्वर है। संसारकी प्रतीति तो ईश्वरको भी होती है। इसलिए सम्पूर्ण प्राणियोंमें पूजनीय एवं वन्दनीय वह तत्त्वज्ञ पुरुष ही है जिसकी परिच्छिन्नताका अभिमान मिट चुका है।

कर्मप्रधान ज्ञान-साधनसे जो जीवन्मुक्त हुआ है, उसके लक्षण गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ कहकर बताये गये हैं।

यद्यपि ब्रह्मबोध अविद्यानिवृत्तिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता है तथापि ब्रह्मज्ञानीके जीवनमें अविद्यानिवृत्तिके कुछ परि-णाम स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। उसकी जीवनकालिक विविध और विषम परिस्थितियोंमें एक ऐसी स्थिरप्रज्ञाका उदय हो जाता है, जिससे व्यवहारमें स्थित वह महापुरुष स्थितप्रज्ञ हो जाता है। एक स्थिर आधार मिल जानेके कारण उसके मनकी चंचलता और विचलता समाप्त हो जाती है; क्योंकि प्रज्ञाके स्थिर हो जानेपर कुछ बातें अपने-आप ही जीवनमें उतर आती हैं :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(अ) अपने हृदयमें अपने आत्माकी विद्यमानतासे ही सन्तुष्ट रहना। इसका स्वाभाविक फल यह होता है कि कामनाएँ स्वयं शान्त हो जाती हैं।

(आ) इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषयोंमें आसक्ति न रहना। इसलिए उनके वियोगमें उद्वेग, संयोगमें स्पृहा, भोगमें राग, नाशका भय और नाशकपर क्रोध नहीं आता।

(इ) स्वतःसिद्ध साध्यकी प्राप्ति हो जानेके कारण साधना-पक्षमें दुराग्रह भी नहीं रहता। फलस्वरूप साधनहीन और साधनविरोधीसे द्वेष भी नहीं होता। साथ ही अपनी रुचिके अनुकूल साधन करनेवालोंके प्रति अभि-नन्दन और पक्षपात भी नहीं रहता। सर्वात्मक ब्रह्म-तत्त्वका ज्ञान-साधनके अभिनिवेशको शिथिल कर देता है।

(ई) ऐन्द्रियक भोगोंसे तृप्ति प्राप्त होनेकी दुराशा छूट जानेके कारण स्वयं ही अन्तर्मुखता सेवामें उपस्थित हो जाती है। विषयानन्द ऐन्द्रिक है। ब्रह्मानन्द मन और इन्द्रियोंकी शान्ति है। विषयानन्दपर बार-बार कर्मका आवरण आता है। शान्ति निरावरण, स्थिर और अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे अभिन्न है। इसलिए शान्ति ही नित्य-तृप्ति है। फिर कामपूर्ति-मूलक रति, लोभपूर्ति-मूलक तुष्टि और भोगपूर्तिमूलक तृप्तिकी अपेक्षा न रहकर आत्मरति, आत्मतुष्टि और आत्मतृप्ति सदा विराजमान रहने लगती है।

(उ) अभिमान और ममत्वकी निवृत्ति हो जानेके कारण जीवनमें स्वाभाविक ही त्यागकी प्रतिष्ठा हो जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्यागमें विराग और विरागके अन्तमें तत्त्वज्ञान। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मवेत्ताके उत्तरकालीन स्वाभाविक त्यागमें स्वयं ही रस-रागका निरोध और आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

(ऊ) मन अपने आश्रयस्वरूप परमात्माके न-किंचित् हो जाता है। स्फुरित होनेपर आत्मासे पृथक् उसकी स्थिति-गति नहीं होती। इसलिए प्रमाथी इन्द्रियोंके इन्द्रजालसे वह मुक्त हो जाता है और सबका संयम-कर मुक्त और आत्मपरायण रहता है।

इन छः विशेषताओंके आनेपर बुद्धिके परिवर्तन और विचलनका कोई कारण नहीं रह जाता और प्रज्ञाके स्थिर होनेपर इनका आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तिप्रधान ज्ञानसाधनसे जीवन्मुक्त ज्ञानीका लक्षण वर्णित है। हम यहाँ जान-बूझकर ज्ञानकी बात कहते हैं; क्योंकि गीताके इस बारहवें अध्यायमें जिस भक्तका वर्णन है, वह आर्त, अर्थार्थी या जिज्ञासु भक्तका वर्णन नहीं है। ज्ञानी भक्तका वर्णन है, यही मानना होगा।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

—गीता १२.१४

अन्य स्थानोंपर भी भगवान्‌ने कहा है: मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय यहाँ देखना यह है कि आश्रयरूप भगवान्‌में मन-बुद्धिका अर्पण होगा या विषयरूप भगवान्‌में। विषयरूप भगवान्‌में मन एवं बुद्धिकी कल्पनामें जो भगवान आये, उनमें मन-बुद्धिका अर्पण नहीं हो सकता। क्योंकि सुषुप्तिमें मन-बुद्धि उस कल्पनाको अपनेमें लेकर सो जायँगी। वहाँ भगवान् ही मन-बुद्धिके अर्पित हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायँगे। अतः अर्पण आश्रयरूप भगवान्में होगा। आश्रय आत्मा है। अतएव बुद्धिके अर्पणका अर्थ चिन्तन एवं मनके अर्पणका अर्थ भावना है। विजातीय प्रत्ययरहित, सजातीय - वृत्तिप्रवाहरूप निरन्तर आत्माकारवृत्ति ही मनका अर्पण है तथा अवस्थात्रय, पंचकोशादिका विवेक ही बुद्धिका अर्पण है। इस प्रकार मन-बुद्धि लगा देनेपर **निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः**—इसमें सन्देह नहीं कि मुझमें, भगवान्में ही निवास करोगे।

'यदि इस ज्ञानमें चित्त स्थिर न हो सके तो अभ्यास करो, अभ्यास भी न हो सके तो उपासनात्मक कर्म करो और यदि वह भी सम्भव न हो तो सर्वकर्मफलका त्याग करो।' यह बात वहीं भगवान्ने नौवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें बतायी है। ज्ञानी-भक्तका लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं :

> **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**
> **हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥**
>
> **—गीता १२.१५**

इसे ज्ञानी भक्तका लक्षण माने बिना इस श्लोककी संगति ही नहीं लग सकती। क्योंकि वह लोगोंसे उद्विग्न न हो यह लक्षण तो भक्तमें, योगीमें आ जायगा; किन्तु संसारमें कोई प्राणी उससे उद्विग्न न हो, यह लक्षण नहीं आयेगा। कुछ न करो, समाधिमें बैठो तो भी कुछ कीड़े, चींटी देहसे टकरायेंगे और उन्हें उद्वेग होगा। उद्वेग तो केवल साक्षीसे, अपनी आत्मासे किसीको नहीं होता। अतः जो अपने आत्मस्वरूपमें स्थित है, उससे किसीको उद्वेग नहीं होगा। वह देहको 'मैं' मानता नहीं, अतः उसकी देहसे किसीको उद्वेग हो तो भी वह उद्वेग उसके द्वारा नहीं हुआ। अतः यह लक्षण ज्ञानी भक्तका ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानप्रधान, ज्ञानप्रधानसे द्रष्टा-दृश्य-विवेकसे जो तत्त्वज्ञ हुआ है, उसका लक्षण गीताके चौदहवें अध्यायमें बताया गया है :

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

—गीता १४.२२

प्रकाश सत्त्वगुणका कार्य, प्रवृत्ति रजोगुणका कार्य और मोह तमोगुणका कार्य है। इनमें तीनों अवस्थाएँ अपने-आप आ गयीं। इनमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी वृत्तियाँ चित्तमें आती हैं जो उन्हें दूर नहीं करना चाहता और नहीं आतीं तो वे आयें, ऐसी कामना नहीं करता। तत्त्वज्ञ चित्तकी अवस्थाओंमें परिवर्तनसे अप्रभावित रहता है। यहाँ एक विलक्षण बात हो गयी। सांसारिक पुरुषोंके चित्तमें गुणवृत्तिविरोध रहता है। उन्हें अपने अन्तः-करणमें तमोगुण-रजोगुणकी वृत्ति आनेसे दुःख होता है। उनके चित्तमें परिणाम, ताप, संस्कारजन्य दुःख होते हैं। लेकिन तत्त्वज्ञके चित्तमें गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख भी नहीं होता। परिणाममें उसे दुःख नहीं, ताप उसे है नहीं, संस्कार उसे पुनर्जन्म दे नहीं सकते। वर्तमानमें भोगके न मिलनेसे, चित्तकी अमुक अवस्था न रहनेसे गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख जो औरोंको होते हैं, वे भी ज्ञानीको नहीं होते। वह न किसी संकल्पके आनेपर उसे हटाना चाहता है, न किसी विशेष संकल्पकी इच्छा करता है। अपने घरमें आये अतिथिमें ईश्वर दृष्टिके समान वह मनमें आये सम्पूर्ण संकल्पोंमें ब्रह्मदृष्टि ही रखता है।

ऐसा तत्त्वज्ञ ही सम्पूर्ण प्राणियोंके द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय है। भारतीय संस्कृतिमें अतिथिकी पूजाका विधान है। उसमें यह विधान है कि अतिथिको भगवान् मानकर उसकी पूजा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करनी चाहिए, उसकी जाति, कुल, गोत्रादि नहीं देखना चाहिए। जब सामान्य अतिथिके विषयमें यह नियम है, तो तत्त्वज्ञ तो ब्रह्मरूप ही है : **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।** उसकी पूजाका विधान उपनिषदोंमें स्पष्ट है :

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं लभते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूमितकामः॥

अर्थात् जो पुरुष अपना कल्याण चाहता हो, इस लोक या परलोककी विभूति-ऐश्वर्य चाहता हो, उसे आत्मज्ञ पुरुषकी अर्चना करनी चाहिए।

आजकल जो लोग महात्माओंकी पूजाका निषेध करते दीखते हैं, वे वास्तवमें महात्माओंकी पूजाका निषेध नहीं, महात्माका वेष बनाये दुरात्माओंकी पूजाका निषेध करते हैं। वे यह नहीं कहते कि महात्माकी पूजा नहीं करनी चाहिए। वे कहते हैं कि अपनेको महात्मा मानकर पूजा नहीं करवानी चाहिए। महात्माके मनमें अपने महात्मापनका अभिमान होगा तो ब्रह्मज्ञान कहाँ रहा? तब तो देहाभिमान हो गया कि यह महात्मा है। अतः निषेधका अभिप्राय यह है कि अपनेको देह मानकर पूजा ग्रहण मत करो। पूजा करनेवालोंके लिए निषेध नहीं है।

श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें यह बात आयी है कि तत्त्वज्ञ महापुरुष भगवान् वासुदेवकी चलमूर्ति है। पहले सतयुग, त्रेतायुगमें महात्माओंकी ही पूजा होती थी, किन्तु द्वापरसे ऋषियोंने इसलिए मूर्तिपूजा प्रचलित की कि लोग महात्माओंकी पूजामें सावधान नहीं रहते। करते तो हैं पूजा; किन्तु उससे अपमान एवं कष्ट होता है। ज्वर आया है और माला-चंदन चढ़ायेंगे। पेट खराब है और गरिष्ठ पदार्थ खा लेनेका आग्रह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करेंगे। इस प्रकार पैर छूनेके लिए धक्का-मुक्की करेंगे कि चोट लग जाय। इससे महात्माके शरीरको कष्ट होता है। लोग महापुरुषकी पूजा करनेके, अधिकारी नहीं रहे यह देखकर महापुरुषोंने ही मूर्तिपूजाका प्रचलन किया।

२३.

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तम्—

> अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
> मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥२३॥

अकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनोङ्कारं विद्वान् वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम्। चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते। क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओङ्कारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः ॥ २३ ॥

पूर्वोक्त समानताओंसे आत्माके पादोंका मात्राओंके साथ एकत्व करते उपर्युक्त ओङ्कारको जानते हुए जो उसका ध्यान करता है, उसे—

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है अर्थात् अकारके आश्रित ओंकारको जाननेवाला पुरुष वैश्वानर होता है। इसी प्रकार उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको प्राप्त करा देता है। 'च' शब्दसे 'नयते' क्रियाकी अनुवृत्ति होती है। मकारके क्षीण हो जानेपर बीजभावका क्षय हो जानेसे मात्राहीन ओंकारमें कोई गति नहीं है, यह कारिकाका तात्पर्य है ॥ २३ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अकार विश्वको, उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको प्राप्त कराता है। तात्पर्य यह कि विश्वात्मा, तैजसात्मा एवं प्राज्ञात्मा-ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं। जाग्रत्, स्थूल सृष्टि और विराट् एक हो जायगा। स्वप्न, सूक्ष्म सृष्टि और हिरण्यगर्भ एक हो जायगा। सुषुप्ति, कारण सृष्टि और ईश्वर एक हो जायगा। इतना तो ओङ्कार कर देगा, लेकिन इसके पश्चात् अमात्रमें ओंकारकी गति नहीं है। अमात्र साधन-साध्य नहीं। वह तो स्वतःसिद्ध आत्मा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बारहवाँ मन्त्र

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ।। १२ ।।

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः । प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कारस्त्रिमात्रस्त्रिपाद आत्मैव । संविशत्यात्मना स्वेनैव । स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद । परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजभावं दग्ध्वात्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात् ।

न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात् पुनः पूर्ववत् तद्विवेकिनामुत्थास्यति । मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्त सामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनीभवति । तथा च वक्ष्यति—'आश्रमास्त्रिविधाः' (माण्डू० का० ३.१६) इत्यादि ॥ १२ ॥

अमात्र और आत्माका तादात्म्य

मात्रारहित ओङ्कार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपंचोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार ही आत्मा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। जो उसे इस प्रकार जानता है, वह स्वतः अपने आत्मामें ही प्रवेश कर जाती है।

अमात्र = जिसकी मात्रा नहीं है, वह अमात्र ओङ्कार चौथा अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही है। अभिधानरूप वाणी और अभि-धेयरूप मनका क्षय हो जानेके कारण वह अव्यवहार्य है। तथा वह प्रपंचको निषेधावधि, मंगलमय और अद्वैतस्वरूप है। इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानवान् उपासक द्वारा प्रयोग किया हुआ तीन मात्राओंवाला ओङ्कार तीन पादवाला आत्मा ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह स्वतः ही अपने पारमार्थिक आत्मामें प्रवेश करता है। परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे बीज-भावको भी दग्ध करके आत्मामें प्रवेश करता है, इसलिए उसका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक है।

रज्जु और सर्पका विवेक हो जानेपर रज्जुमें लीन हुआ सर्प जिन्हें उसका विवेक हो गया है, उन पुरुषोंको बुद्धिके संस्कारवश पुनः प्रतीत नहीं हो सकता। किन्तु जो मन्द और मध्यम भाव-वाले साधकभावको प्राप्त सन्मार्गगामी संन्यासी पूर्वोक्तमात्रा और पादोंके निश्चित सामान्यभावको जाननेवाले हैं, उनके लिए तो विधिवत् उपासना किया हुआ ओङ्कार ब्रह्मप्राप्तिके लिए आश्रय-स्वरूप होता है। यही बात 'तीन प्रकारके आश्रय हैं' आदि वाक्योंसे कारिकामें आगे कही गयी है ॥ १२ ॥

विराट् अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल-जगत्का अभिमानी। जितनी भी मूर्तिपूजा है, सब विराट्के अन्तर्गत है। सूक्ष्म समष्टिकी दृष्टिसे वही हिरण्यगर्भ कहा जाता है। योग और भक्ति, साकार ईश्वर एवं ब्रह्मलोकतक सब सूक्ष्म समष्टिके अन्तर्गत हैं। कारणावस्था-की दृष्टिसे निराकार ईश्वर है। प्रणवके अक्षरोंके चिन्तन द्वारा हम विश्वसे तैजसमें और तैजससे प्राज्ञमें आरोहण करते हैं और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फिर प्राज्ञसे तैजसमें, तैजससे विश्वमें अर्थात् ईश्वरसे हिरण्य-गर्भमें और हिरण्यगर्भसे विराट्में आते हैं—यह अवरोहण हुआ।

इतना ही परमार्थ नहीं है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर—ये पाद हैं और अकार, उकार, मकार ये मात्रा हैं। इन तीनों पादों तथा तीनों मात्राओंसे विलक्षण पर-मार्थ है। उसमें न मात्रा हैं, न पाद है। उसमें न आरोहण और न अवरोहण। उसमें व्यवहार नहीं हैं। ये आरोहण-अवरोहण उसमें भास रहे हैं।

वह तुरीय वस्तु इन तीनोंमें है और इनमें होकर भी इनसे विलक्षण है। ये तीनों अवस्थाएँ कालकी सीमामें हैं। एक कालमें रहती हैं, एकमें नहीं रहतीं। ये वहिर्देश या अन्तर्देशमें होती हैं। इन अवस्थाओंमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद है; किन्तु तुरीयतत्त्व काल एवं देशकी सीमामें नहीं है। उसमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद भी नहीं है। अर्थात् तुरीयतत्त्व देश-कालसे अपरिच्छिन्न अखण्ड है। उसमें मात्रा नहीं और पाद भी नहीं हैं।

अमात्रपुरुष मात्रारहित चतुर्थ, तुरीय है। अब मन ही मनमें प्रणवका उच्चारण करो तो उच्चारण करते-करते हम ऐसे स्थान-पर पहुँच जाते हैं, जिससे आगे प्राणकी गति नहीं है। एक बात यहाँ प्रणवके उच्चारणके सम्बन्धमें जान लेनी चाहिए। प्रणवका उच्चारण काक-वाणीके समान होता है। कौआ जब बोलता है तब गुदातक शब्दका स्पन्दन होता है, इसी प्रकार दीर्घघण्टा-नादके समान प्रणवके उच्चारणका स्पन्दन मूलाधारचक्रसे उठना चाहिए। लेकिन यह सीखकर करनेकी क्रिया है; क्योंकि—

देखा-देखी साधै जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योगकी क्रिया विना सीखे करना आत्मघात है। शरीरमें एक मृत्युनाड़ी है। प्रणव-उच्चारणमें प्राण ऊर्ध्वमुख होते हैं। कहीं भूलसे उस नाड़ीमें प्राण चले गये तो मृत्यु हो जायगी। अतः दीर्घ उच्चारण सीखकर करना ठीक है।

प्रणवके उच्चारणके समय मकारका अनुस्वार जब समाप्त हो जाता है, तब उच्चारणकी गति नहीं रहती। वहाँ सम्पूर्ण वृत्तियाँ छूट जाती हैं। पुनः वहाँसे आकर वे शरीरमें फैलती हैं। अब अकारके उच्चारणका प्रथम, उकारके उच्चारणका द्वितीय और मकारके उच्चारणका तृतीय काल जहाँ समाप्त हो गया, वहाँ अकाल रह गया। यही अकाल प्रणव है। इसी प्रकार अकार और उकार बाह्य देशमें और मकार अन्तर्देशमें है; किन्तु जहाँ बाहर-भीतर दोनों देश समाप्त हो गये, वह अदेश रह गया। ओंकार शब्द-उच्चारणरूप कर्म और उस कर्मका कर्ता था, किन्तु जहाँ कर्म समाप्त हुआ कर्ता-कर्मका भेद समाप्त हो गया। वहाँ अकर्ता रह गया। ओंकारके उच्चारणमें एक सुख था, वह भोग्य था और उसमें भोक्तापन था। उच्चारण समाप्त होनेपर भोग्य-भोक्ता नहीं रहा। अभोक्ता हो गया। यह प्रणवके अन्तमें जिस अदेश, अकाल, अकर्ता, अभोक्ताका साक्षात्कार होता है, उसीका विचार करना है।

जैसे घटका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव है और वर्तमानमें जो मिट्टी है, वह सदा तीनों अवस्थाओंमें है। इसी प्रकार ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं विश्व, तैजस, प्राज्ञ जिस अधिष्ठानमें प्रतीत होते हैं, वह चेतन आत्मा है। वह द्रष्टा, चेतन, अधिष्ठान अपना स्वरूप है। यह दृश्य स्फुरणमात्र होनेसे अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है। अतः अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न प्रपंच नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह आत्मा अकार, उकार, मकारके व्यवहारमें नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके व्यवहारमें या विराट् हिरण्यगर्भ, ईश्वरके व्यवहारमें भी नहीं है। लेकिन सब व्यवहार उसीसे सिद्ध हो रहे हैं। आत्मा अव्यवहार्य है उसका तात्पर्य यह है कि वह कर्मका, भोगका या अज्ञानका विषय नहीं है। वह स्व-परके भेदरूप व्यवहारसे रहित है। अतः उसमें न शब्दोच्चारण है, न स्फुरणा है।

यह प्रपंच जो पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादिका रचा है, इस प्रपंचमें वह आत्मा उपशांत है। अर्थात् इन पाँचोंके शांत, विक्षिप्त या मूढ़ होनेसे उसमें शान्तता, विक्षिप्तता या मूढ़ता नहीं आती। अतः प्रपंचोपशम होनेके कारण वह 'शिव' है, नित्य कल्याणरूप है। उसमें दुःखका, अमंगलका चिह्न ही नहीं। वह अद्वैत है। इन **प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतम्** की व्याख्या पहले विस्तृत रूपसे आ चुकी है।

मात्रारहित अमात्र ओङ्कार अद्वैत है, आत्मा ही है। यही तुरीय वस्तु है। जो इस प्रकार जान लेता है, वह आत्मस्वरूप हो जाता है, उसे आत्मबोध हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बारहवें मन्त्रकी कारिकाएँ

२४.

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो विद्यादित्यर्थः । एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित् प्रयोजनं चिन्तयेत् कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥२४॥

इस मन्त्रके अर्थसे सम्बद्ध श्रीगौडपादाचार्यकी ये कारिकाएँ हैं :

पूर्वोक्त समानताओंके कारण पाद ही मात्राएँ हैं और मात्रा ही पाद हैं । अतएव यह तात्पर्य हुआ कि ओङ्कारको पादक्रमसे इस प्रकार ओङ्कारका ज्ञान हो जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण किसी भी लौकिक-पारलौकिक प्रयोजनका चिन्तन करे ॥ २४ ॥

२५.

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

युञ्जीत समादध्यात् यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मनः। यस्मात् प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। न हि तत्र सदायुक्तस्य भयं विद्यते क्वचित् 'विद्वान् बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २.९) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है, उस परमार्थरूप ओङ्कारमें चित्तको युक्त करे; क्योंकि ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म है। उसमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता। जैसा कि श्रुति कहती है—'विद्वान् कहीं भी भयको प्राप्त नहीं होता' ॥ २५ ॥

२६.

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥

परापरे ब्रह्मणो प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः। नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद् विद्यत इत्यनन्तरः। तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्य.। अपर कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः। सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पर और अपर ब्रह्म प्रणव ही है। वस्तुतः मात्रारूप पादोंके क्षीण होनेपर आत्मा ही ब्रह्म है; इसलिए इसका कोई पूर्व अर्थात् कारण न होनेसे यह अपूर्व है। इसका कोई भिन्नजातीय नहीं है, अतः यह अनन्तर है। इससे बाहर कोई नहीं है, इसलिए यह अबाह्य है। इसका कोई अपर-कार्य भी नहीं, इसलिए यह अनपर है। तात्पर्य यह कि यह बाहर-भीतरसे अजन्मा तथा सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन है ॥ २६ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तका मूल सिद्धान्त है कि जाननेसे, ज्ञानसे ही परम कल्याण है। अपने सत्यस्वरूपका बोध होनेपर जिजीविषा—जीनेकी इच्छा नहीं रहती। क्योंकि परिच्छिन्न देहमें 'अहं' भाव नहीं रहता। अतः वह देह रहे ही, यह आग्रह भी नहीं रहता। बुभुक्षा भी ज्ञानसे दूर हो जाती है। क्योंकि सब भोग देह तथा इन्द्रियोंको ही चाहिए और उनमें 'अहंता' रही नहीं। मुमुक्षा तो अपने आप ही समाप्त हो गयी; क्योंकि यह जान लिया कि अपना स्वरूप नित्यमुक्त है। वहाँ बन्धन ही नहीं तो मोक्षकी कल्पना कैसी ? संसारमें यह जितनी व्यथा, जितना ताप है; सब अज्ञानसे है। अब उस अज्ञानको दूर करनेके लिए प्रणवरूप आलम्बन, साधन बतलाते हैं—**ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः।**

ओङ्कारको पादक्रमसे जानें। इसमें सन्देह नहीं कि प्रणवकी मात्रा ही पाद हैं। अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ हैं। इसको जान लिया तो आगे कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि समस्त विचार उसमें समाप्त हो गये।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका विवेक होनेसे पंचकोष-विवेक हो गया। क्योंकि विश्व (जाग्रत्) का विवेक हो गया, तो अन्नमय कोषका विवेक हो गया। तैजस-स्वप्न-सूक्ष्म शरीरका विवेक हो गया तो प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोषका भी विवेक हो गया। प्राज्ञ-सुषुप्ति-कारण शरीरका विवेक हो गया तो आनन्दमय कोषका भी विवेक हो गया। साथ ही अविद्याका भी विवेक हो गया; क्योंकि अविद्या ही कारण है। इस प्रकार प्रणवके अक्षरोंकी पादरूपसे जान लिया तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश, जीव-जगत्-ईश्वर आदि सबका विवेक हो गया। कोई ऐसी वस्तु बची नहीं, जिसके सम्बन्धमें ठीक-ठीक समझदारी न आ गयी हो। अतः अब कुछ चिन्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्ने गीतामें कहा है : **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।** मनको अपने स्वरूपमें स्थिर करके कुछ भी चिंतन करे। वेदान्तमें समाधिका अर्थ अचिन्तन है; क्योंकि किसीका भी ध्यान करोगे तो ध्याता, ध्यान, ध्येय इन तीनोंका भेद अन्तःकरणमें बना है। ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी समाप्त होकर ही तत्त्वरूपमें अवस्थिति होती है। अतएव प्रणवकी मात्राओंको पादरूपसे जानकर **न किंचिदपि चिन्तयेत्**—कुछ भी चिन्तन न करे।

क्वचिन्न प्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादनीयम्—यह उक्ति बौद्धोंमें प्रसिद्ध है। ऐसा मन बनाओ जो किसी स्थितिमें फँसे नहीं, मनके सङ्कल्पोंपर साधक बहुत ध्यान देते हैं; किन्तु संकल्प सर्वथा भौतिक वस्तु है और मन भी भौतिक है। यह भी सूक्ष्म शरीर ही तो है, और दवासे जो मूर्च्छित, क्रियाहीन हो जाता है; उसकी भौतिकतामें भला क्या सन्देह ? अतएव मनके सङ्कल्प-विकल्पको लेकर ग्लानि करने, दुःखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे समुद्रमें तरंगें उठती हैं, आकाशमें वायुके झोंके आते हैं, अग्निसे चिनगारी निकलती है; वैसे ही मनकी स्फुरणाएँ हैं। उनको लेकर दुःखी होना अनावश्यक है।

जो स्थूलदेहके प्रेमी हैं वे देहके चक्करमें पड़े रहते हैं कि रोग न हो, बाल न पकें, दाँत न टूटें, बुढ़ापा न आवे। लेकिन देह तो बूढ़ा भी होगा और मरेगा भी। इसी प्रकार जो सूक्ष्म शरीरमें आसक्त हैं, वे मनके चक्करमें पड़े रहते हैं कि मनमें ऐसा संकल्प आवे, ऐसा न आवे। कारण शरीरके प्रेमी समाधिके चक्करमें रहते हैं। विषयी धनको रोक रखना चाहता है, देहाभिमानी देहको रोक रखना चाहते हैं और सूक्ष्म शरीरका अभिमान मनको एक ओर लगाये रखना चाहता है। किन्तु ज्ञानी इनमेंसे किसीके सम्बन्धमें कोई आग्रह नहीं रखता। यह दृश्य-जड़ जगत् एकरस रह नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सकता। मन भी दृश्य है, जड़ है; वह कैसे एकरस रहेगा ? जाग्रत्, देह या मनको एकरस रखनेके आग्रहमें हम अपनी चेतनासे दूर हो जाते हैं। व्यस्त बन जाते हैं।

गीतामें भगवान्‌ने ज्ञानीका स्वरूप **उदासीनवदासीन** बताया। जैसे कोई शिलापर बैठा है और सामने नदी बहती जा रही है। नदीके जलमें पुष्प, काँटे, मिट्टी, मुर्दा सब बहते हैं; किन्तु उस शिलापर बैठे व्यक्तिको नदीमें क्या बहे; क्या न बहे, इससे कोई सम्बन्ध नहीं। वह तटस्थ है। इसी प्रकार देह, मन आदिसे तटस्थ जो बैठा है; उसे इनकी क्या अवस्था रहे, क्या न रहे; इससे क्या सम्बन्ध ? यह संसार गुण-दोषकी धारा है। सत्त्व, रज, तमोगुणके प्रवाह इसमें चलते रहे हैं। **गुणा गुणेषु वर्तन्ते** ये गुण गुणोंमें ही व्यवहार कर रहे हैं। इनसे विचलित होनेकी आवश्यकता नहीं।

'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

जो तत्त्वज्ञ है वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। शरीर, मन, बुद्धि अविद्या-सम्पूर्ण विश्वसे कोई स्पर्श नहीं। इन सबकी सत्ता ही नहीं, ये तो प्रतीतिमात्र हैं। अतः मनमें समाधि हो तो और विक्षेप हो तो, निद्रा रहे तो और जाग्रत् रहे तो मेरा क्या ? प्रयत्नमें लगनेसे मेरे लिए कोई सिद्धि नहीं और अप्रयत्न रहनेसे कोई हानि नहीं। किसी अवस्थामें आस्था नहीं। कर्तापन नष्ट हो चुका अतः कर्तव्य कुछ रहा ही नहीं। न कुछ पाना है, न छोड़ना है, न जानना है। पाना-छोड़ना वहाँ है; जहाँ अच्छाई-बुराईका भाव है। इस भावके बिना कामना नहीं रहती। जहाँ अपना स्वरूप ही है, वहाँ तो सम्यक् निष्कामता है। वहाँ क्या चिन्तन रह सकता है ?

न किञ्चिदपि चिन्तयेत् का यह अर्थ नहीं कि निःसंकल्प बैठा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता है। इसका तात्पर्य यह कि संकल्पोंके आने-जानेसे सर्वथा तटस्थ हो जा ा हैं। तत्त्वज्ञ पुरुषके लिए जीवन-मृत्यु, सृष्टि-प्रलयका कोई अर्थ नहीं। वह सबमें समान है। यह बात तो तत्त्वज्ञकी है—उनकी है जो प्रणवको समझ चुके हैं। लेकिन जो तत्त्वज्ञ नहीं हैं; जिन्होंने प्रणवको समझा नहीं है; उनके लिए प्रणवकी उपासना बतलायी गयी है: युञ्जीत प्रणवे चेतः उनको अपना मन प्रणवमें लगाना चाहिए। क्योंकि प्रणव ही परम ब्रह्म है। योगदर्शनमें कहा गया है: तस्य वाचकः प्रणवः परब्रह्म परमात्माका वाचक ओङ्कार है। जितने भी रूप हैं, वे नामके अधीन हैं—

देखिय रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना॥

रूप बदलता रहता है, अतः रूप कोई वस्तु नहीं। रूप अन्यताकी भ्रान्ति उत्पन्न करता है; किन्तु नामसे अन्यताकी भ्रान्ति उतनी प्रबल नहीं होती। घट, कलश, कुम्भ ये नाम तीन हैं; किन्तु हम जानते हैं कि ये एक ही वस्तुके नाम हैं। नाम वस्तु-भेद उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार भगवान्के जो नाम हैं वे अन्यताका भ्रम उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि नाम निराकार है और रूप साकार। साकार वस्तुमें एकसे दूसरेका भेद होता है। निराकारके कितने भी नाम रखो, वस्तु एक रहेगी। रूप तेजका गुण है और नाम-शब्द आकाशका गुण है, अतः तेजसे आकाशके सूक्ष्म होनेके कारण रूपसे नाम अधिक शक्तिशाली है।

उपनिषद्में आता है—'नाम ब्रह्म' नाम ब्रह्म है। नामकी एक विशेषता यह है कि वह नामका अर्थ होनेमें बल नहीं देता, वक्ताके होनेमें बल देता है। बोलनेवालेकी बात झूठी या निरर्थक हो सकती है; किन्तु उसका बोलनेवाला तो विद्यमान है ही।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः नाम वक्ताको पहिले सिद्ध करता है। नामकी गति इसीसे आत्माकी ओर है। **वाचं न विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्।**

क्या कहा जा रहा है यह मत देखो, कौन कह रहा है यह देखो। तुम्हारा शब्द कहाँसे उठता है—मनके संकल्पसे? अब मनमें संकल्प कहाँसे उठते हैं? इस प्रकार शब्दकी डोरी पकड़कर अपने स्वरूपतक पहुँचो। यह चेतन्यका प्रकाश तुम्हारी इन्द्रियोंमें आ रहा है; किन्तु चित्तवृत्तिसे मिल जानेके कारण वह अन्यके रूपमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिके रूपमें प्रतीत होने लगता है, उसी तरह जैसे सूर्यकी किरणें वर्षाके जलमें होकर निकलती हैं तो उनसे आकाशमें इन्द्रधनुष बन जाता है। अतः इनके सहारे बाहर मत देखो, मछलीके समान चलो। मछली जिधरसे जलका प्रवाह आता है, उधर चलती है। तुम भी शब्दके उद्गमकी ओर चलो।

चित्तको प्रणवमें लगाओ—**युञ्जीत प्रणवे चेतः।** प्रणवका अर्थ है प्रणव अर्थात् प्रकृष्टतासे नवीन—जो कभी पुराना नहीं पड़ता। अथवा जो संसारसे खींचकर परमात्मामें पहुँचा दे वह प्रणव। प्रत्येक उच्चारणमें प्रणव नवीन रहता है। यह ध्यानका प्रसंग है और ध्यानमें योगदर्शन ही सम्यक् प्रमाण है, अतः योगदर्शनका विचार कर लें। योगदर्शनने कहा : **तस्य वाचकः तज्जपस्तदर्थभावनम्।**

ईश्वरका वाचक प्रणव है। उस प्रणवका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिए। ईश्वरका स्वरूप वहाँ बताया गया : **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।**

ईश्वरमें सर्वज्ञताका सबसे बड़ा बीज है। इसका तात्पर्य हुआ कि ईश्वर समष्टिचित्स्वरूप हुआ। **स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वर अनादि हैं, अविनाशी है अर्थात् त्रिकालाबाध्य है। वह सत् एवं चित्स्वरूप हुआ। अब आगे कहते हैं—**क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**

उसमें क्लेश, कर्म और आशय नहीं हैं। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है।

अब प्रणवकी मात्राओंका अर्थ यहाँ मिलावें तो अकार हुआ सत्, उकार चित् तथा मकार आनन्द; लेकिन योगदर्शन कहता है—**पुरुषविशेष ईश्वर** सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर एक पुरुष-विशेष हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि यह अविद्यामें फँसा पुरुष—विशेष अपना आत्मा ही ईश्वर है। इसलिए जब तक तुम ईश्वरको अन्य समझते हो तब तक ओङ्कारके द्वारा सच्चिदानन्दघन ईश्वरका चिन्तन करो और यदि ईश्वरको अपना स्वरूप समझते हो तो सच्चिदानन्दघन आत्मवस्तुका चिन्तन करो। ईश्वर-चिन्तनका फल योग-दर्शनमें बताया है :

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमः। ईश्वरके चिन्तनसे अपनी अन्त-रात्माका अनुभव होता है। यदि ईश्वर अपनी अन्तरात्मा न होता तो ईश्वर-चिन्तनसे अन्तरात्माका अनुभव कैसे होता? क्योंकि जिसका चिन्तन करेंगे; अनुभव भी उसीका होगा।

इसलिए ईश्वरके चिन्तनके लिए प्रणवका आलम्बन बतलाया गया है। यह प्रणव कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्वसे रहित साक्षात् ब्रह्म है। इसलिये जो प्रणवमें नित्ययुक्त है, उसके लिए कहीं कोई भय नहीं है।

०

२७.

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव। मायाहस्ति-रज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवद् उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः। एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सबका आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रणव ही है। जिस प्रकार कि मायामय हाथी, रज्जुमें प्रतीत होनेवाला सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्नादिके समान उत्पन्न होनेवाले आकाशादि रूप प्रपंचके कारण मायावी आदि हैं, उसी प्रकार मायावी आदि स्थानीय उस प्रणवरूप आत्माको जानकर विद्वान् तत्काल ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है, यह अभिप्राय है ॥ २७ ॥

२८.

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात् सर्वव्यापिनं व्योमवदोंकारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान् मत्वा न शोचति शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७.१.३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २८ ॥

प्रणवको ही समस्त प्राणियोंके स्मृतिप्रत्ययके आश्रयभूत हृदयमें स्थित ईश्वर समझें। बुद्धिमान् पुरुष आकाशके समान सर्वव्यापी ओङ्कारको असंसारी आत्मा जानकर शोकका कारण न रह जानेसे शोक नहीं करता। श्रुतियोंसे भी यह प्रमाणित है कि 'आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है।' ॥ २८ ॥

प्रणव ही ईश्वर है। प्रणवके द्वारा ही ईश्वरका वास्तविक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप समझमें आता है; इसलिए प्रणवका अनुसन्धान करना चाहिए। प्रणवके अर्थका अनुसन्धान करनेपर यह निश्चय हो जाता है कि जो परमात्मा है, वही प्रणव है।

सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार करते समय कहते हैं कि प्रथम नाद-शब्द उत्पन्न हुआ। उसीसे सृष्टि हुई। सृष्टिके मूलमें नाद है। कम्पनके मूलमें ही नाद है। सृष्टिके उस मूल नादका नाम ओंकार है।

शब्द दो प्रकारका होता है, एक स्फोट और एक स्फुरणरूप। कुछ भी बोलनेसे पूर्व मनमें उसकी स्फुरणा होती है। यह स्फुरणा ही स्फोट है। स्फोट उसे कहते हैं जिससे अर्थ प्रकट होते हैं— **स्फुटति अर्थः यस्मात्**। यह स्फोट-ब्रह्म प्रणव है। यह पता कैसे चले? **वृत्तिरोधाद् विभाव्यते**—तुम अपनी चित्तवृत्तियोंको रोक लो तो उसका पता चल जायगा। कानको बन्द करनेसे एक प्रकारका शब्द सुनायी पड़ता है; किन्तु वह मनका शब्द है। मन-को भी रोक दो तो एक प्रकारका दीर्घ घंटानादके समान शब्द सुनायी पड़ेगा। यही अनहद-अनाहत नाद है। यही सृष्टिके मूलमें रहनेवाली प्रणवध्वनि है। यही सृष्टिका उपादान और निमित्त है।

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।— भा०

हमारे मुखसे जो शब्द निकलता है, उसे वैखरी वाणी कहते हैं। इसके मूलमें मध्यमा वाणी है। मध्यमाके मूलमें पश्यन्ती और पश्यन्तीके मूलमें परा वाणी है। परा वाणी चैतन्यरूप है। यही आदिशक्ति ओङ्कार है।

जिसे बोला जाता है और सुना जाता है वह विश्वात्माक शब्द जो मनमें विचार-रूपसे आता है स्वप्नके समान वह तैजस शब्द, उस शब्दको भी प्रेरणा देनेवाली पश्यन्ती वाणी प्राज्ञ शब्द और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परा वाणी तुरीय। इस चैतन्यात्मक तुरीय वाणीका अनुसन्धान करो। वाणीसे प्रणव बोलो, मनसे सुनो और ओङ्कार ही हो जाओ। वास्तवमें तुम ओङ्कार ही हो। इस प्रकार परमात्माको प्राप्त करानेवाला प्रणव स्वयं परमात्माका स्वरूप है। इसका निवास कहाँ है?

यह है तो सर्वव्यापी; क्योंकि सृष्टिके मूलमें जो शब्द है वह सृष्टिमें व्यापक होगा ही और ईश्वर भी सर्वव्यापी है; किन्तु सर्वव्यापी होते हुए भी ईश्वर अन्यर्यामी रूपसे सबके हृदयमें रहता है। यह चैतन्यरूपा परा वाणी ओङ्कार सबके हृदयमें स्थित है।

हमने एक पुष्प ले लिया और उसे रख दिया। कुछ दिनोंमें उसमें छोटे-छोटे कीड़े पड़ गये। चलने-फिरनेवाले उन कीड़ोंमें हृदय है या नहीं? आपसे पूछें कि आपका हृदय कहाँ है? तो छातीपर आप हाथ रखेंगे, किन्तु आपके पूरे देहमें कहाँ हृदय नहीं है? आपके रक्तमें—रक्तकी एक बूँदमें लाख-लाख कीटाणु हैं, उनमें हृदय है या नहीं? इसलिए यह ईश्वर जो सबके हृदयमें स्थित है, सर्वव्यापी है।

सर्वस्य हृदि संस्थितम्। प्रत्येक प्राणी या पदार्थके भीतर उसकी गहराईमें जाओगे तो अन्तमें वहाँ तुम्हें चेतन ही मिलेगा। चेतन सर्वत्र सबमें एक समान है। चेतन ही इस जगत्‌का अधिष्ठान है। चेतनमें ही यह जगत् प्रतीत हो रहा है। सबके हृदयमें सर्वावभासक रूपसे चेतन स्थित है। वह प्रत्येक अणुमें है। **सर्वस्य हृदि संस्थितम्** का अर्थ ही **सर्वव्यापन्** है। वस्तुतः तो ईश्वर ही ईश्वर है, सर्व तो प्रतीति है, मिथ्या है। यह प्रणव ईश्वर है और वह सर्वव्यापी है। सर्व देशमें, सर्वकालमें, सबके हृदयमें स्थित है। ऐसे प्रणवको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह देहकी उपाधि, इन्द्रियोंकी उपाधि, मनकी उपाधि, अन्तः-करणकी उपाधि और परिच्छिन्नताकी उपाधिसे ही हम जीव बन गये हैं। यह उपाधि है, इसीलिए शोक है। उपाधि छोड़ दी तो हो गये ईश्वर और ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। वहाँ शोक है ही नहीं।

जीव देहके मरने-जीने, रोग आदिको अपना मानता है। देहके कर्मको और मनके संकल्पको अपना मानता है, बुद्धिके विचार तथा चित्तके विक्षेप-समाधिको अपना मानता है, इनकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दुःखी होता है; जो इनसे अपने पार्थक्यको जान चुका, वह इनके कारण क्यों सुखी-दुःखी होगा?

सर्वव्यापिनमोङ्कारं—ओङ्कार सर्वव्यापी है। इसका अर्थ है कि ओङ्कारसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वेदान्तमें व्यापकताका जो अर्थ है, उसे पहले विस्तारसे समझा आये हैं। व्यापकताका अर्थ जैसे घड़ेमें मिट्टी अर्थात् व्याप्य अपने व्यापकसे भिन्न नहीं होता।

जो सर्वव्यापक होगा उसमें परिणाम नहीं हो सकता। मिट्टीसे घड़ा इसलिए बनता है कि मिट्टीके टुकड़े हो सकते हैं और मिट्टीसे बाहर स्थान तथा समय है। यदि किसी कमरेमें टसाठस मिट्टी भर दें तो उस कमरेके भीतर ही घड़ा बन सकेगा? अतएव जो सर्वव्यापी है, वह अद्वैत है और अपरिणामी है उसमें भेदकी प्रतीति विवर्तसे ही होती है। ऐसी अवस्थामें जो अद्वैत, अपरिणामी, एकरस तत्त्वको अपना स्वरूप जान लेगा, वह शोक किसलिए करेगा? उसके लिए शोकका कोई निमित्त ही नहीं रहा।

ईश्वरके सम्बन्धमें जितने शब्द हैं अच्युत, परमात्मा, ब्रह्म, व्यापक, अन्तर्यामी आदि, उनमेंसे किसी एकका भी अर्थ ठीक-ठीक जान लो तो परमात्माकी पहचान हो जायगी। प्रणव ही ईश्वर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं, यह बात यहाँ प्रतीकात्मक है। भगवान्‌के सभी नाम भगवान्‌के स्वरूप हैं। उनमेंसे एकका भी ठीक-ठीक अर्थ जान लेनेसे परमात्माका ज्ञान हो जायगा। यह ठीक है कि परमात्माके ही सब नाम और सब रूप हैं और इसीलिए श्रद्धालु भक्त जिस रूपमें भी परमात्माकी उपासना करते हैं उसी रूपका उन्हें दर्शन होता है। किंतु परमात्माका अपना रूप क्या है, यह जानना हो तो उसके नामका ठीक-ठीक अर्थ जानना चाहिए। शब्दके अर्थका ज्ञान होनेसे परमात्माकी पहचान हो जायगी। परमात्माकी पहचान हो जायगी तो शोक मिट जायगा।

इस ज्ञानका प्रयोजन है राग-द्वेष एवं भेदके कारण जो नाना प्रकारके अनर्थोंकी प्राप्ति हो रही है, उन सम्पूर्ण अनर्थोंसे छुटकारा होकर अपने परमानन्द स्वरूपमें सर्वदाके लिए अवस्थान। यही जीवन्मुक्ति है।

सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति।

इसके दो प्रकारके अर्थ होते हैं—**धीरः पुरुषः सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा न शोचति।** धीर पुरुष सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर शोक नहीं करता और **सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति** सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर पुरुष धीर हो जाता है और फिर शोक नहीं करता अर्थात् ओङ्कार-ज्ञानके पूर्व धैर्य और ओङ्कार ज्ञानके पश्चात् धैर्य। यह 'धीर' शब्द बड़े महत्त्वका है। गीतामें, उपनिषदोंमें सब कहीं साधक और सिद्ध दोनोंके लिए इस शब्दका बार-बार प्रयोग मिलता है। अतः इसपर विचार कर लेना है।

हमारे अनादि वैदिक धर्ममें जहाँ द्विजातिका बालक सात-आठ वर्षका हुआ कि उसका यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिए। यज्ञोपवीत संस्कारके पश्चात् उसे नित्य सन्ध्या करना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहिए। सन्ध्या नित्यकर्म है और ऐसा कर्म है जिसके करनेसे पुण्य नहीं होता; किंतु न करनेसे प्रत्यवाय होता है। तात्पर्य यह है कि बालकको तभीसे शास्त्रमें, ईश्वरमें श्रद्धा करना सिखलाया जाता है और तभीसे उसे बिना किसी स्वार्थके, बिना कामनाके निष्काम भावसे प्रतिदिन कुछ मिनट भगवान्‌के चिन्तनमें बिताने-का अभ्यास कराया जाता है। सन्ध्यामें गायत्रीका जप मुख्य है। गायत्री एक प्रकारकी प्रार्थना है और वह प्रार्थना है समस्त बुद्धि-वृत्तियोंके प्रेरक-प्रकाशक परमात्मासे। समष्टिके प्रकाशक अखण्ड ज्ञानका-हम ध्यान करते हैं गायत्रीके द्वारा, और प्रार्थना करते हैं कि :

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

वह सर्वावभासक परमात्मा हमारी बुद्धिको भली प्रकार प्रेरित करे अर्थात् हमें धीर बनावे।' इस प्रकार अपने धार्मिक जीवनके प्रारम्भसे हम 'धीर' बननेकी कामना करते हैं। 'धीर' का अर्थ क्या ? महाकवि कालिदासने थोड़ेमें इस शब्दका अर्थ बताया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी जिसके चित्तमें विकार न हो, वह धीर है। बहुत सा धन लेनेका अवसर हो, किंतु उसे लेना न्यायसंगत न हो तो लेनेकी इच्छा मनमें न आवे। सुन्दर युवती, परस्त्री, प्रेम करती हो तो भी उसके प्रति मनमें काम न आवे। बहुत उत्तम भोजन उपस्थित हो; किंतु स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकर हो या धर्मकी दृष्टिसे सेवनीय न हो तो भोजन करनेको जी न चाहे। कोई अपना तिरस्कार कर दे, हानि कर दे; और उसे दंड देनेकी शक्ति अपनेमें हो, तब भी क्रोध न आवे। इस प्रकार नेत्रसे देखना हो या जिह्वासे बोलना हो अथवा कुछ खाना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो, नासिकासे सूँघना हो, शरीरसे कोई क्रिया करनी हो तो सोचकर करे कि उसका करना ठीक है या नहीं। ऐसे पुरुषका नाम धीर है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

उपनिषद्में आया है कि धीर पुरुष इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाली वस्तुको छोड़कर उसका ग्रहण करता है जो अपने लिए परिणाममें कल्याणकारी हो।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ —गीता

इन्द्रिय-प्रवृत्तिके पीछे जिसका मन भागता है, उसका मन उसकी प्रज्ञा-विचारशक्तिका इस प्रकार हरण कर लेता है जैसे पानीमें नौकाको प्रबल वायु। अतएव धीर पुरुष इन्द्रियोंके प्रिय पदार्थोंका वरण नहीं करते।

अपने जीवनको देखिए कि आप किधर चल रहे हैं? यदि आप इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले भोगोंको एकत्र करनेमें लगे हैं तो अपने जीवनमें दुःखके बीज बो रहे हैं। भोग यदि आपको सुखी करते हैं तो आप दुःखकी ओर, बन्धनकी ओर बराबर बढ़ते जा रहे हैं। यदि भोगोंके त्याग-निवृत्तिकी ओर आप बढ़ रहे हैं तो सुखकी ओर, ईश्वरकी ओर बढ़ रहे हैं। जो पाकर, भोगकर सुखी होता है; वह जीव है। जो त्यागकर, देकर, खिलाकर सुखी होता है; उसका सुख ईश्वरका सुख है। जो बिना खाये-खिलाये, बिना दिये-पाये सुखी है और पाकर-देकर भी सुखी है; वह ब्रह्म है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥"

श्रुतिने बताया कि ब्रह्माने इन्द्रियोंको बाह्यदर्शिनी बना दिया है, इसलिए ये बाहर ही देखती हैं। भीतर अपना अन्तरात्मा इनसे नहीं दीखता। अधर्मका भार पीठपर लदा है और धर्म हृदयपर है। लोग दिखाते फिरते हैं कि हम धर्मात्मा हैं; किन्तु पीठपर कितना अधर्मका भार है, यह दीखता ही नहीं। श्रुति कहती है कि ऐसे संसारके लोगोंमें कोई जो धीर पुरुष होते हैं, वे अपने अन्तरात्माको देखनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

—गीता २.१४

संसारके ये विषय तो तन्मात्राओंके स्पर्शमात्र हैं। सर्दी-गर्मी या सुख-दुःख देनेवाले ये सब विषय आने-जानेवाले हैं। जैसे मार्गमें कभी अच्छी सड़क मिलती है तो कभी धूलभरी पगडण्डी भी आती है। ऐसे ही जीवनके मार्गमें कभी अनुकूलता और कभी प्रतिकूलता आवेगी। इन्हें सहन करलो। जैसे यात्री मार्ग अच्छा होनेपर वहाँ रुक नहीं जाता और मार्ग खराब होनेपर लौट नहीं पड़ता, वैसे ही सुख-दुःखमें आसक्त नहीं होना है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

—गीता २.१५

जिसे ये मात्रास्पर्श व्यथा नहीं देते—जो सुख-दुःखमें समान है, वह धीर पुरुष है। वह अमृतत्वको प्राप्त करता है अर्थात्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अमृतत्त्वकी प्राप्तिके लिए धीर होना आवश्यक है। प्रेमतत्त्वके लिए हृदयकी पूँजी चाहिए। वह लाल कपड़ा पहिनता है या सफेद, त्रिपुण्ड्र लगाता है या ऊर्ध्वपुण्ड्र, तुलसीकी माला पहिनता है या रुद्राक्ष की; इस प्रकार बाह्य वेशका कोई महत्त्व नहीं हैं। महत्त्व है धीरताका। संसारमें सुख-दुःख तो रथके पहियेके समान घूमते हैं। कभी एक ऊपर आता है, कभी दूसरा। इनमें समान रहिये।

संसारमें जीवन तीन प्रकारका है—१. विकारी, २. संस्कारी ३. समाहित। विकारी जीवन अर्थात् भोगपरायण जीवन अपने आप बनता है। यह किसीको सिखलाना नहीं पड़ता। संस्कारी जीवन अर्थात् धार्मिक जीवन। संयमके लिए शिक्षा और प्रयत्न आवश्यक होता है। समाहित जीवन अर्थात् समाधिमें स्थिति।

यदि आप विकारी जीवन व्यतीत कर रहे हैं तब तो स्वस्थ हैं ही नहीं, क्योंकि विकार तो अस्वास्थ्यका लक्षण है और आप संस्कारी जीवन व्यतीत कर रहे हैं तब भी स्वस्थ नहीं हैं क्योंकि विकार उसमें बीजावस्थामें है। यदि आप समाधिमें ही रहते हैं, तब भी आपका जीवन एकाङ्गी है। अतएव जीवनमें समानता लानी होगी। हमारा जीवन सर्वाङ्गपूर्ण होना चाहिए। केवल समाधिपरायण और भोगपरायण नहीं। जीवन तो दोनोंके मध्यमें धर्मपरायण रहना चाहिए और उसमें भी दुःख-सुखमें समता रहनी चाहिए। स्वस्थ जीवन समताका-तटस्थताका जीवन है। यह तटस्थताका जीवन व्यतीत करनेवाला धीर है। धत्ते इति धीरः।

जब ओङ्कारके सर्वव्यापी रूपको प्रणवोपासक समझ लेता है, तब धीर हो जाता है और उस धीरके जीवनमें शोक प्रवेश नहीं करता।

शोककी निवृत्तिके लिए संसारमें कई मार्ग अपनाये जाते हैं। प्रथम मार्ग है भोगका मार्ग। हमको अमुक भोग मिलेगा तो हम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुखी होंगे। हमारा दुःख अमुक वस्तु पाकर मिटेगा। लेकिन अमुक भोग या वस्तुका मिलना तो प्रारब्धके अधीन है। वह वस्तु मिल भी जाय तो सदा बनी नहीं रहेगी। इन्द्रियोंमें भोगको भोगनेकी शक्ति सदा बनी रहेगी। एक भोग मिलनेके बाद ही नीरस होने लगेगा। रसगुल्ला खानेका बहुत मन था; किन्तु जब मिल गया तो क्या दस-पाँच दिन केवल रसगुल्ला खाकर रहा जायगा? वह प्रतिदिन मिले तो स्वादिष्ट लगेगा? अतः भोगसे शोक मिटानेका प्रयत्न कभी सफल नहीं होगा। काम पुरुषार्थं शोक दूर नहीं कर सकता।

शोक मिटानेका दूसरा उपाय लोग करते हैं संग्रह करके। बहुत सादा भोजन, बहुत सादे कपड़े, बहुत सादा मकान है। कोई नशा-सेवन नहीं करते। काम, क्रोध आदिके विषयमें संयमी हैं। लेकिन एक धुन है कि बैंक-बैलेंस बढ़ता रहे। धन आता है तो सुख होता है और जाता है तो जैसे प्राण निकल जाते हैं। लेकिन धन तो प्रारब्धके अनुसार आवेगा भी और जायगा भी। वह चोर, डाकूके हाथसे न भी पड़े तो सरकार ले लेगी या बैंक फेल हो सकता है। संग्रहसे अर्थात् अर्थपुरुषार्थसे शोक दूर होगा, यह धारणा भी मृगमरीचिका ही है।

अपनेको श्रममें लगाये रखो, यह भी एक उपाय लोग शोक-निवृत्तिका मानते हैं। श्रममें लगे रहो तो दूसरी सब बात भूले रहोगे। लेकिन कोई कबतक श्रम करता रहेगा? यह तो नशा-सेवनके समान आवेशमें रहना है और आवेश श्रमका हो या नशेका, सदा नहीं बना रह सकता।

एक उपाय कल्पनामें रहनेका है। मनमें कोई उत्तम योजना बनाओ, अच्छी भावना करो—भगवान्का चिन्तन करो तो शोक भूल जाओगे। यह उपासनाका मार्ग है। मनोराज्यमें, भावनामें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चले गये तो शोक मिट गया; किन्तु भावना भी सदा टिकी नहीं रहेगी। शरीरके कष्ट अपनी ओर खींचेंगे ही।

योगी कहते हैं कि समाधि लगा लो। न शरीर और मनका ध्यान रहेगा, न शोक होगा। लेकिन समाधिसे उत्थान होगा तब? समाधि सब समय तो नहीं लगी रहेगी।

इसका अर्थ हुआ कि शोक निवृत्तिका इनमें-से कोई व्यावहारिक एवं सफल उपाय नहीं है। शोक व्यावहारिक है, अतः उपाय भी व्यावहारिक चाहिए। रोगकी दवा रोगीको मार देना नहीं है। भिक्षुक आनेके भयसे भोजन बनाना बन्द कर देना कोई उपाय नहीं है। उपाय व्यावहारिक होना चाहिए।

शोककी निवृत्तिका ठीक उपाय क्या है? तुम ओङ्कार-प्रतिपाद्य तत्त्वको जान लोगे तो धीर हो जाओगे। तब भोग मिले या न मिले, धन आवे या जाय, दुःख-अभाव रहें या मिटें, कर्म हो या न हो, चित्तवृत्ति एकाग्र हो या विक्षिप्त, तुम सबमें समता प्राप्त कर लोगे। तुम जहाँ, जिस अवस्थामें, जैसे रहोगे, वहाँ; उस अवस्थामें वैसे ही शोकरहित रहोगे। शोक तुम्हें छू नहीं सकेगा। शरीर रहते, व्यवहारमें रहते शोकनिवृत्तिका यही उपाय है।

नाम-रूपके दलदलमें फँसा हुआ जीव सहसा नाम-रूपको छोड़कर उससे निकल नहीं सकता, इसलिए वेद भगवान् उसे प्रणवरूप नामका सहारा देते हैं कि इसके सहारे वह इस नाम-रूपके दलदलसे निकल जाय।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म अर्थ हुआ कि व्यवहारमें तुम्हारी जो अवस्था है, वह सबकी सब ओंकार है। तुम्हारी जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था तीनों ओंकार है और इन तीनों अवस्थाओंका अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ भी ओंकार।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह जितना नाम-रूपात्मक जगत् है, सब ओंकार है। समस्त नाम ओंकारसे बनते हैं। अकार ही समस्त वाणी है, यह बात पहले समझा आये हैं। समस्त रूप भी ओंकारसे बनते हैं। क्योंकि जितने रूप बनते हैं, उनमें बिन्दु, रेखा तथा गोलाई यही तीन बातें होती हैं और प्रणवमें बिन्दु है, रेखा है तथा उकार एवं चन्द्रबिन्दुमें गोलाई है। इसलिए सब रूप भी ओंकार हैं। यह अपर ब्रह्म अर्थात् सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च प्रणव है।

प्रणवश्च परः स्मृतः परतत्त्व-तुरीय ब्रह्म जिसमें देश, काल वस्तु नहीं है, वह भी प्रणव ही है। तात्पर्य यह कि नाम-नामीका भेद नहीं है। एक अखण्ड, परिपूर्ण अद्वैत सत्ता जो चिन्मात्र है, वही प्रणव है।

अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः।

उस प्रणवमें पहिले पीछेका भेद नहीं है। बाहर-भीतरका भेद नहीं है; वह अव्यय है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उससे कुछ पहले होता है, जो वस्तु नष्ट हो जाती है उससे कुछ बादमें रहता है। जिसके पहले कुछ नहीं, वह अनादि और जिसके पीछे कुछ नहीं वह अनन्त है। प्रणव अनादि अनन्त है और अव्यय है, अर्थात् अविनाशी है। उसके बाहर-भीतर कुछ नहीं अर्थात् वह अद्वैत है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रणवमें-से ही निकला है, प्रणवमें ही लय होगा और मध्यमें भी प्रणव रूप ही है।

अब प्रणव और ब्रह्मकी एकता कर लो। जाग्रत् अवस्था सत्त्वगुण, विराट्, विश्व इनको प्रणवके अकारसे एक कर दो। स्वप्नावस्था, रजोगुण, ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, तैजस इनको प्रणवके उकारसे एक कर दो। सुषुप्तावस्था, तमोगुण, रुद्र, ईश्वर, प्राज्ञ इनको प्रणवके मकारसे एक कर दो। अब जहाँ मकार समाप्त हुआ, उस अमात्रमें देखो। वहाँ सत्त्व-रज-तम नहीं है, विराट्-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिरण्यगर्भ-ईश्वर नहीं है, वहाँ द्रष्टा-दर्शन-दृश्य नहीं है। वही प्रणव है। वही तुम्हारी आत्मा है।

यह समूची सृष्टि अपने अत्यन्ताभाववाले अधिष्ठानमें ही भास रही है। यही माया है। रस्सीमें साँप एकदम नहीं है; किन्तु वह रस्सीमें प्रतीत होता है। अनन्त, निराकार, निर्गुण, निर्धर्मक, अद्वितीय, अखण्ड सत्तामें ही ये छोटे-छोटे आकार प्रतीत हो रहे हैं। इसीसे यह दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या है; क्योंकि जहाँ है नहीं, वहीं प्रतीत हो रहा है। इसीका नाम विवर्तवाद है।

यह जो कुछ दीख रहा है, सबका आदि वही तुरीय तत्त्व है। वही चिन्मात्र सन्मात्र ब्रह्म प्रणव सबका अन्त है। जो आदि और अन्तमें रहता है, मध्यमें भी वही होता है। जैसे घड़ा बननेसे पहले मिट्टीके रूपमें था और फूटनेके बाद भी मिट्टी रह जायगा तो जब वह घड़ेके रूपमें है, तब भी मिट्टी ही है।

यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है, प्रणव है। अब अपनी ओर देखो। इन्द्रियोंसे बाहर देखनेवाला, सूँघनेवाला, छूनेवाला, रस लेनेवाला, सुननेवाला कौन? संकल्प। प्राणकी उपाधि संकल्पकी क्रिया होती है। अब संकल्प और प्रज्ञाकी उपाधिको हटाओ तो अज्ञान और अज्ञानको भी दूर करने ार जो रह जाता है, वही प्रणव है, वही आत्मा है। वही जगत्के मूलमें भी अधिष्ठान रूपसे है। अतः तुम अपनेको जो पृथक्-परिच्छिन्न समझते हो, यही अज्ञान है।

अपनेसे भिन्न जगत्का कारण मानोगे तब केवल श्रद्धासे ही उसे चेतन कह सकते हैं; अन्यथा वह जड़ होगा या बौद्धोंके समान शून्य होगा। जो लोग आत्मानुभूतिके अनुसार ही विचार करते हैं, शास्त्रप्रमाण नहीं मानते, उनको अपना आत्मा तो चेतन ज्ञात हो जाता है; किन्तु जगत्का कारण चेतन है, यह ज्ञात नहीं होता। जैसे जैन आत्माको चेतन मानते हैं, किन्तु जगत्का कारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन्हें अनेकान्त लगता है। सांख्य आत्माको चेतन और जगत्के कारणको जड़ मानता है। कर्ममीमांसा कर्ताको तो चेतन मानता है; किन्तु जगत्का कारण कर्म, जो जड़ द्रव्याश्रित है, मानता है। भक्ति सिद्धान्तमें जगत्का कारण चेतन मानते हैं; किन्तु श्रद्धाके कारण मानते हैं।

अनुभूतिके आधारपर सम्पूर्ण जगत्के कारण रूपमें मैं ही हूँ, क्योंकि मेरे बिना किसीका अनुभव नहीं होता और मैं न जड़ हूँ, न शून्य हूँ, न कर्म हूँ। मैं चेतन हूँ, यह बात वेदान्त सिद्धान्त कहता है। अतः वेदान्तका सिद्धान्त अनुभवारूढ़ सिद्धान्त है।

उपनिषद्ने बताया कि सबके आदिमें प्रणव था, अन्तमें प्रणव रहेगा और मध्यमें भी प्रणव ही है। इसकी कल्पना मत करो, विचार करो। सबकी प्रतीतिके पूर्व तुम थे। सबकी प्रतीति मिट जानेपर भी तुम रहते हो; क्योंकि प्रतीतिका मिटना तुम्हें ज्ञात होता है अतएव प्रतीतिके रूपमें भी तुम्हीं हो। तुम्हीं प्रणव हो।

श्रुति कहती है कि—नासदासीत् नसदासीत्तदानीम् न पहिले सत् था, न असत् था। जागनेसे पूर्व सुषुप्तिमें जागत्की प्रतीति नहीं थी, जागना समाप्त होनेपर पुनः सुषुप्तिमें यह प्रतीति नहीं रहेगी। 'मैं' जबतक स्फुरित होता है, तभीतक सृष्टि स्फुरित होती है। अतः सम्पूर्ण सृष्टिका मूल 'अहम्' है।

जहाँ प्रणवका सिरा मकारकी समाप्ति है, वहाँ 'इदम्' और 'अहम्' दोनों समाप्त हो जाते हैं। प्रणवके इस रूपको जानकर उसमें एकरूप हो जाता है।

जगत्में जितने मत हैं वे केवल तीन बातोंका विचार करते हैं : १. मैं क्या हूँ? २. जगत् क्या है? ३. जगत्का कारण परमात्मा क्या है? विचारके लिए कोई चौथी वस्तु नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैज्ञानिक जगत्‌का विचार करते हैं, भक्त ईश्वरका विचार करते हैं और दार्शनिक 'अहं'का विचार करते हैं।

वैज्ञानिक जड़में-से चेतनकी उत्पत्ति मानते हैं। भक्त चेतन परमात्मासे जड़की उत्पत्ति मानते हैं। लेकिन ये तीनों तबतक हैं जबतक 'अहम्'की स्फुरणा है। अतएव सर्वोत्तमाहम्मतिशून्य-निष्ठा अर्थात् 'अहम्' बुद्धि मिट जाय तो सब बखेड़ा मिट जाय। 'अहं बुद्धि' अर्थात् परिच्छिन्नदेहात्म-बुद्धि, यह जहाँ अप-रिच्छिन्नात्म-ज्ञानसे दूर हुई सब झंझट समाप्त। वह नित्यमुक्त है।

यह मुक्ति भी कई प्रकारकी मानी जाती है; किन्तु तीन ही भेद हैं मोक्षके—एकमें अपना रूप बना रहता है, एकमें अपना अलग रूप नहीं रहता, और एक उभयात्मक है। भक्त लोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और सार्ष्टि यह पाँच प्रकारका मोक्ष मानते हैं।

सालोक्य : भगवान्‌के लोकमें किसी भी रूपमें रहना।
सामीप्य : माला, आभूषणादि बनकर भगवान्‌के समीप रहना।
सारूप्य : भगवान्‌के समान ही रूप पाकर पार्षद होना।
सायुज्य : भगवान्‌में भेद सहिष्णु अभेदके रूपमें रहना।
सार्ष्टि : ब्रह्माके समान सृष्टि बनानेकी शक्ति प्राप्त कर लेना।

जड़वादी देहकी मृत्युको ही मुक्ति मानते हैं। योगी विवेक ख्याति होनेसे—'सत्त्वान्यता ख्याति'—प्रकृति पुरुषके अविवेककी निवृत्तिसे मुक्ति मानते हैं। कर्मी लोग, पार्थसारथि मिश्रने प्रपञ्च-सम्बन्धविलयो मोक्षः अर्थात् प्रपञ्च भले बना रहे, किन्तु उससे अपना सम्बन्ध न रह जाय; इसे मोक्ष माना है।

ये सब जितनी भी मोक्षके रूपकी मान्यताएँ हैं वे तीन भेदोंके अन्तर्गत आ जाती हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि ये ऐसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मोक्ष हैं, जिनमें अपना रूप बना रहता है। इसी प्रकार सांख्य योगादिके मोक्षमें भी अपना स्वरूप—जीवका व्यक्तित्व बना रहता है। सायुज्य उभयात्मक है और बौद्धोंका शून्यभाव अरूप मोक्ष है। मुक्तिके इन तीनों प्रकारोंका विवेक करनेवाली बुद्धि ही है। जब ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे वह भी बाधित हो जाती है तब अद्वितीय आत्मस्वरूप ही रहता है—इसीको कैवल्य कहते हैं। यही अद्वैत वेदान्तकी मुक्ति है।

जो भी मोक्ष पाया जायगा, वह नित्य नहीं होगा। उसमें-से पुनः आना सदा सम्भव रहेगा। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्यादि प्राप्त मुक्त लोग भी भगवान्की इच्छासे जन्म लेते हैं, यह बात सभी भक्ताचार्य मानते हैं। लेकिन जहाँ मोक्ष अपना स्वरूप है, वहाँ बन्धनका भ्रम निवृत्त हो गया तो वह नित्यमुक्त है।

यह कैवल्य-मोक्ष आत्मा या ब्रह्मके ज्ञानसे नहीं होता। ईश्वर-की प्राप्तिसे नहीं होता। समाधिसे नहीं होता। केवल 'तत् पदार्थ' परमात्माको या केवल 'त्वं पदार्थ' अपने आपको जान लेनेसे नहीं होता। यह होता है आत्मा और परमात्मा—'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थके एकत्वके ज्ञानसे और यह एकत्वज्ञानरूप वृत्ति भी तत्काल बाधित हो जाती है। इस प्रकार प्रणवको जो जान लेता है वह व्यश्नुते तदनन्तरम् वह स्वयं प्रणवरूप हो जाता है। 'यह' और 'मैं'का भेद वहाँ रह नहीं जाता है।

विचार करें कि मनुष्यका सार्वभौम धर्म क्या हो सकता है? धर्मका विचार करते समय पहले दृष्टि क्रियापर जाती है। हमारे शरीरसे ऐसी क्रिया होनी चाहिए, जिससे किसीकी कोई हानि न हो। लेकिन क्रिया इच्छासे सञ्चालित होती है, अतः हमारे मनमें ऐसी कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिए, जिससे दूसरेकी कोई हानि हो। क्योंकि इच्छाकी शुद्धिके बिना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाकी शुद्धि नहीं होगी। इच्छाको, संकल्पकी शुद्धि कैसे हो? यह तभी शुद्ध होगी जब हम अनेकतामें एकता देखेंगे। मनुष्य-मनुष्यमें, जातियोंमें, धर्मोंमें, भाषाओंमें, राष्ट्रोंमें जबतक अनेकत्व-बुद्धि रहेगी, तबतक किसीसे राग होगा तो किसीसे द्वेष होगा। तबतक न इच्छा शुद्ध होगी, न क्रिया शुद्ध होगी। इन सबकी अनेकतामें कोई एकता स्थापित करनी होगी। इसलिए हमारा ध्यान उस वस्तुपर जाना चाहिए जो समस्त अनेकताओंके रहते भी अनेक नहीं है, सबमें एक है। उस एकका ध्यान ही हमारे मनको शुद्ध कर सकता है। अतएव सार्वभौम धर्म कोई हो सकता है तो वह पूर्ण ब्रह्म परमात्माका चिन्तन ही है।

जो सदाके लिए अज्ञान, अभाव, आलस्य, संघर्ष, प्रमाद, मेरा-तेराभाव तथा उससे उत्पन्न वैमनस्य मिटा दे, वही सार्वभौम धर्म होगा। वह परमात्मा ही है। वह एक अभेदका चिन्तन ही है, क्योंकि जहाँ हमने एक घेरा बनाया, एक सीमामें अपनेको बाँधा वहीं मेरा-तेराका भेद उत्पन्न हुआ और यह भेद आयेगा तो राग-द्वेष भी आयेगा ही। अतः संसारके कल्याणके लिए और चित्तकी शुद्धिके लिए अखण्ड, अनन्त परमात्माका चिन्तन ही सार्वभौम धर्म है। परमात्माके चिन्तनके लिए आलम्बन चाहिए, क्योंकि आलम्बनके बिना चित्त स्थिर नहीं होता। वह ऐसा आलम्बन चाहिए जिसके हम द्वारा परमात्माके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन कर सकें। ऐसा आलम्बन प्रणव ही है। इस प्रणवके तीन अक्षरोंसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण-जगत्का ग्रहण हो जाता है और अमात्रसे तुरीय तत्त्व परमात्माका भी संकेत हो जाता है।

अब प्रातः काल, सायंकाल और व्यवहार करते हुए भी तुम प्रणवके द्वारा परमात्माका चिन्तन करो। इससे तुम्हारे हृदयकी शुद्धि होगी। इच्छाकी शुद्धि परमात्माके चिन्तनसे होती है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाकी शुद्धि विश्वात्माकी सेवासे होती है और बुद्धिकी शुद्धि परमात्म-बोधसे होती है। यही सार्वभौम धर्म है। इसमें देश, जाति, सम्प्रदायका भेद नहीं है। परमात्माका चिन्तन, परमात्माका स्मरण यह सामान्य-धर्म है। अपने सम्प्रदाय, जाति, देश आदिके विशेष-धर्मोंका पालन करते हुए यह सामान्य-धर्म सबके लिए पालनीय है।

इस परमात्म-स्मरणके लिए प्रणव सबसे पूर्ण नाम है। यह निर्भय ब्रह्म है। **प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।** जहाँ हम अपने स्वरूपसे च्युत होते हैं, वहीं भयकी उपस्थिति होती है: **भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।** अपने परायेका भेद हुआ और भयका कारण उपस्थित हो गया। यह भेद होता है अपने हृदयमें स्थित ईश्वरको भूलकर उससे विमुख हो जानेसे। अतः भयकी निवृत्तिके लिए ईश्वरके सम्मुख होना है, उसे स्मरण करना है। इसीलिए प्रणवका स्मरण करना है; क्योंकि वह पूर्णब्रह्मका बोधक है। वह प्रणव निर्भय ब्रह्मका स्वरूप है। जिसका चित्त सदा प्रणवमें लगा है, उसके लिए कहीं कोई भय नहीं रह जाता। उसके लिए जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें कहीं भय नहीं है।

प्रणवमें चित्त लगानेका तात्पर्य पहले विस्तारसे बताया जा चुका है कि अपनेको देहमें परिच्छिन्न मत देखो। अकारके उच्चारणके साथ भाव करो कि मैं विश्वात्मा हूं, उकारके उच्चारणके साथ अपनेको सूक्ष्म समष्टिरूप हिरण्यगर्भ देखो और फिर तीनोंसे परे अमात्र, तुरीय परमात्मामें स्थित हो जाओ। इस प्रकार परिच्छिन्नताके अभिमानको समाप्त कर दो।

प्रणव अपर ब्रह्म है और प्रणव ही पर ब्रह्म है। अर्थात् कार्य-कारण और हेतु-फलात्मक ब्रह्म है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति प्रणव हैं, स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रणव है और इनसे परे तुरीय तत्त्व भी प्रणव

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। प्रणवमें आत्मा-अनात्माका भेद नहीं है, इस बातको समझना चाहिए।

जगत्के सम्बन्धमें विचार करते हुए सांख्यशास्त्र जगत्को सत्य तो मानता है; किन्तु शरीरोंके भेदको सत्य नहीं मानता। वे कहते हैं कि एक केवल कार्य ही है, वह किसीका कारण नहीं बनता। यह कार्य पंचभूत हैं। ये पंचभूत किसीके कारण नहीं हैं। पंचभूतोंमें जो आकार-भेद हैं, नाम-रूप हैं, वे सांख्यके मतसे भी मिथ्या हैं, प्रतीतिमात्र हैं। पंचभूतपर्यन्त ही कार्य है। प्रकृतिका कारण कुछ नहीं, वह केवल कारण है। सर्वकारण प्रकृति और सम्पूर्ण कार्य पंचभूत, इनके मध्यकी अवस्था कार्य-कारण उभयात्मक अर्थात् प्रकृति-विकृति है। ये तीन तत्त्व हैं और चौथा तत्त्व है पुरुष। पुरुष अनेक हैं, चेतन हैं। वह न कार्य है, न कारण। अब इन चारोंमें से मूलतत्त्व केवल दो हैं : प्रकृति और पुरुष; क्योंकि प्रलयके समय प्रकृतिके कार्य उसमें लीन हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध है तत्त्वाविवेक।

अब भागवत-दृष्टिसे विचार करें तो प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही विकल्प हैं। वस्तुतः चेतन और प्रकृतिका एक पूर्ण पदार्थ है ब्रह्म। इसमें भोक्ता है जीव, भोग्य है प्रकृति और प्रेरिता है ईश्वर। ये तीनों ब्रह्मदृष्टिसे हैं एक और व्यवहारदृष्टिसे तीन हैं। जैसे अनार ऊपरसे एक होता है और भीतर बीज, रस तथा छिलका तीन वस्तुएँ होती हैं, तीनोंके सम्मिलित रूपको अनार कहते हैं। वैसे ही जीव, प्रकृति, ईश्वरका सम्मिलित रूप ब्रह्म है। इसका अर्थ है कि कार्यावस्थामें जीव, प्रकृति, ईश्वरका भेद रहता है और कारणावस्थामें अभेद है। यह विशिष्टाद्वैत-मत हुआ। उपासनाके अन्य सिद्धान्तोंमें अनेक भेद हैं। प्रकृतिको कोई ईश्वरकी अचिन्त्य मायाशक्ति मानते हैं और इसलिए उसे ईश्वरसे अभिन्न मानते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अद्वैत वेदान्तका निरूपण इन सबसे विलक्षण है। यहाँ कार्य-कारणका भेद वास्तविक नहीं, कल्पित माना जाता है। जगत् अध्यारोपमात्र है। तत्त्वदृष्टिसे सब परमात्मा ही है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।—गीता

वह परमात्मा ही कार्य एवं कारण दोनोंके रूपमें प्रतिभासित हो रहा है। इसलिए प्रणव ब्रह्मरूप होनेसे कार्यरूप भी है और कारणरूप भी तथा तुरीय परमात्मा भी है।

प्रणवका केवल उच्चारण करनेकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है। केवल क्रियासे तत्त्वज्ञान नहीं होगा। केवल क्रियामें लगे रहनेसे जबतक वह चलती रहेगी, उतने ही समयतक अन्तःकरण शुद्ध रहेगा; व्यवहारमें आनेपर फिर अशुद्ध हो जायगा। प्रणवके केवल ध्यानसे तत्त्वज्ञान नहीं होगा। प्रणवार्थका विचार और चिन्तन भी करना होगा।

ये चारों बातें जो ब्रह्मके सम्बन्धमें कही गयी थीं, अब प्रणवके लिए कह रहे हैं। प्रणव अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य और अनपर है। उसके पूर्व या पीछे कुछ नहीं। उसके भीतर-बाहर कुछ नहीं। वह अविनाशी है, पूर्ण है।

चारों वेद कण्ठस्थ हों, किन्तु वेदार्थ न जानते हो तो क्या लाभ? केवल दूसरोंको पढ़ा सकते हो; परन्तु तुम्हारा उद्धार तो नहीं होगा। इसी प्रकार प्रणवके केवल जप या ध्यानसे कुछ नहीं होगा। उसके स्वरूपका चिन्तन करना पड़ेगा।

'अपूर्वो'—इससे पहले कोई नहीं और 'अनन्तरो' इसके पीछे कोई नहीं। अर्थात् इसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं है। यह कालपरिच्छिन्न नहीं है। यदि कहो कि यहाँ इस समय ब्रह्म नहीं तो ब्रह्ममें टुकड़ा हो गया और वह कहीं छिपा हुआ हो गया। अतः वह वर्तमानमें भी है, देश-कालसे अपरिच्छिन्न है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'अबाह्यो' उसके बाहर कुछ नहीं और भीतर भी कुछ नहीं; क्योंकि बाहर जो है उसे ब्रह्म नहीं मानोगे तो उसमें टुकड़े होंगे। अतः वह देश-परिच्छन्न नहीं है। 'अनपरः' उससे भिन्न और कुछ नहीं अर्थात् वह वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वय है। और 'अव्ययः' अविनाशी है। वह अभी है, यहीं है, इसी रूपमें है। वक्ता, श्रोता सब ब्रह्म है, ब्रह्मसे भिन्न कुछ है ही नहीं। ब्रह्म ही प्रणव है। इस प्रकार प्रणवके अर्थका चिन्तन करना होगा। ओङ्कारस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें स्थित है, यह बात जब अधिकारी पुरुष जान लेता है, तब उसके सम्पूर्ण शोकोंकी निवृत्ति हो जाती है।

अब यहाँ पुरुषके अधिकारकी बात आती है और वेदान्तमें अधिकार साधन-चतुष्टयोंसे माना जाता है। इसको समझ लेना चाहिए—किसान जब अन्न उत्पन्न करता हो तो खेतमें बीज डालता है अर्थात् अन्नका त्याग करता है। व्यापारी लाभ उठाना चाहता है तो पहले रुपया लगाता है। इसी प्रकार बड़े लाभके लिए छोटे स्वार्थको छोड़ना पड़ता है। हम तत्त्वज्ञान चाहते हैं तो देहका ममत्व, देहके स्वार्थकी उपेक्षा करनी ही पड़ेगी है। इसीका नाम वैराग्य है।

शास्त्रोंमें भी है और बहुतसे लोग मानते भी हैं कि तत्त्वज्ञान-का अधिकार ब्राह्मणको ही है और ब्राह्मणोंमें भी संन्यासीको ही है। लेकिन यहाँ न जन्मना ब्राह्मणकी बात है, न वेशसे संन्यासी होनेकी बात। वैदिक यज्ञ-यागादि करना हो तो जन्मना ब्राह्मण होना चाहिए; किन्तु तत्त्वज्ञानके लिए जन्मना ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं है। जो जन्मसे ब्राह्मण हैं और उनमें जिन्होंने संन्यास-दीक्षा ले ली है, वे सब तत्त्वज्ञानी नहीं हो गये। अतः यहाँ तो गुणसे ब्राह्मण होनेकी बात है। ब्राह्मणके गुण आने चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(गीता, १८.४२)

ब्राह्मणके ये उपर्युक्त गुण आयेंगे और संन्यासीकी वृत्ति आयेगी, निष्परिग्रह, निर्मोहता आयेगी तब तत्त्वज्ञानका अधिकार होगा। गुणसे ब्राह्मण और गुणसे संन्यासी होना चाहिए। वेश और जन्मसे वह किसी वर्ण, या किसी भी वेशमें हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्‌को पानेमें जातिका बन्धन नहीं और न वेशका ही बन्धन है। भगवान्‌को पाना संसारकी सम्पत्ति और पदको पानेकी अपेक्षा सरल है; क्योंकि उसको पानेमें कोई बाधा-बन्धन नहीं है। वहाँ तो गुणसे ब्राह्मणत्व चाहिए और सर्वकर्मसमर्पण-रूप संन्यास चाहिए। इस संन्यासके बिना भगवान् नहीं मिलते। वेशसे संन्यास लेना सर्वथा आवश्यक नहीं है। 'त्यागः संन्यासः'—भागवतमें भगवान्‌ने बताया कि संन्यासका लक्षण है त्याग। 'मेरा सब कुछ प्रभुका' यह त्याग ही संन्यास है। स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या साधु, ब्राह्मण हो या शूद्र, जिसके हृदयमें परमात्माको पानेकी तीव्रेच्छा है, और जो संसारकी ओरसे अपनी चित्तवृत्ति हटाकर भगवान्‌की ओर लगा रहा है, वह भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।

भगवत्प्राप्तिमें जन्मगत असम्भावना, या वर्णगत असम्भावना मत करो और भोगगत तथा कर्मगत असम्भावना भी मत करो। हम ऐसे भवनमें रहते हैं, ऐसे कपड़े पहनते हैं तो भगवान् कैसे मिलेंगे, यह मत सोचो। सब भोग भगवान्‌को अर्पित करके भगवत्प्रसाद मानकर सेवन करो। इसी प्रकार अपने कर्मोंके विषयमें मत सोचो कि मैंने इतने पाप किये, इतने अपकर्म किये, तो मुझे भगवान् कैसे मिलेंगे? भगवान् पतित-पावन हैं। वे तो श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं:

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यही बात ज्ञानके सम्बन्धमें भी है :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

जिनमें वुद्धि नहीं है, समझनेकी शक्ति नहीं है, उनके लिए भी ज्ञानका द्वार बन्द नहीं। उन्हें गुरुजनोंसे सुनकर वैसी धारणा बनानी चाहिए।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

एक असम्भावना यह होती है कि हमारा चित्त एकाग्र नहीं होता। लेकिन अद्वैत-वेदान्तियोंका तो कहना है कि समाधिमें परमात्माका साक्षात्कार होता ही नहीं। अविद्याकी निवृत्ति तो ब्रह्माकार—वृत्तिसे होती है और समाधिमें कोई वृत्ति नहीं रहती, अतः समाधिमें परमात्माका ज्ञान नहीं होता। जितना अज्ञान लेकर समाधि लगायी, समाधि टूटनेपर उतना ही अज्ञान रहेगा। समाधिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें परमात्माके विचारका उदय हो तो ज्ञान होगा। इसलिए तत्त्वज्ञानमें एकाग्रता न होना बाधक नहीं है भक्तिमें तो भगवान्‌की लीलाका चिन्तन करनेमें मनको पूरा चंचल रखनेका अवकाश है।

ये तीन बातें बहुत गम्भीरतासे स्मरण रखने योग्य हैं :

१. परमात्माकी प्राप्तिको दुर्लभ मत मानो; क्योंकि दुर्लभ मान लोगे तो स्वयं अपने लक्ष्यको अपनेसे दूर कर दोगे। उसे अत्यन्त सुलभ समझो। जब यह बात समझमें आगयी कि यह सब ईश्वर है तो उसकी प्राप्तिमें देर क्यों है इसलिए है कि आप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस बातको जानते नहीं। उद्देश्य-दुर्लभत्व एक बड़ी बाधा है, अतः उद्देश्यको दुर्लभ मत मानो।

२. स्वदोषानुसन्धान अर्थात् भगवान्की दया, कृपा, असीम शक्ति, पतितपावनताको न देखकर अपनी ओर देखना कि 'मैं साधन-हीन हूं, पापी हूँ, मैं कैसे भगवान्को पा सकता हूँ 'यह दूसरी बड़ी बाधा है। अपनी तुच्छता, अपने पाप, अपनी साधन-हीनता मत देखो। अपनी ओर नहीं, भगवान्की ओर देखो। विमुख मत बनो, ईश्वरसे उसके सम्मुख हो जाओ। अपने दोष, दुर्गुणकी बात मत सोचो, भगवान्के गुण सोचो। भगवान्का अनुसन्धान करो।

३. भगवान्को साधन-साध्य मानना तीसरा विघ्न है। इतने जपसे, इतने ध्यानसे, अमुक अनुष्ठानसे हम भगवान्को पा लेंगे, यह धारणा अपने अहंकारको पुष्ट करती है। भगवान् मिलेंगे तो अपनी कृपासे मिलेंगे। वे कृपा-साध्य हैं, साधन-साध्य नहीं कोई क्रिया या कोई व्यक्ति भगवान्को पकड़कर लाकर हमें दे देगा, यह सर्वथा भ्रम है। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—जिसे वह स्वयं वरण करे, उसीको मिलता है। तात्पर्य यह कि परमात्माकी प्राप्तिके सम्बन्धमें तुम्हारे मनमें कोई भी असम्भावना हो कि अमुक कारणसे हमें परमात्मा नहीं मिल सकता, तो उसे दूर कर दो। परमात्माकी प्राप्ति क्या है, यह मैं पहले बता चुका हूँ। प्राणिमात्र सुख चाहते हैं—ऐसा सुख जो सदा, सर्वत्र रहे और कभी नष्ट न हो। वह अविनाशी नित्य सुखस्वरूप परमात्मा ही है। सब उसी परमात्माको चाहते हैं। यह भ्रम है कि हमारा राग संसारमें है। संसारके किसी पदार्थमें हम स्थिर-राग कहाँ करते हैं? जैसे गंगाजल बहता जा रहा है, पर भ्रम है कि यह वही धारा है जो कल देखी थी, उसी प्रकार संसारमें रागका भ्रम है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिए यह भ्रम छोड़ दो कि हमारा संसारमें राग है, हमें ईश्वर कैसे मिलेगा? ईश्वरकी ओर चल पड़ो। जहाँसे तुम चलोगे, ईश्वर वहीं है। उसे ढूँढ़ने बाहर जाओगे तो भटकोगे। वह तो तुम्हारे भीतर ही है—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

उसे ढूँढ़ने कहीं जाना नहीं है, वह तो तुम्हारा स्वरूप है—तुम्हारा अपना आपा है। अमृतस्य पुत्राः—तुम अमृतके पुत्र हो। पुत्र नहीं, स्वयं अमृत हो। तुम नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो। तुमको किसीने बाँधा नहीं है। जैसे धोबी गधेको खूँटेके पास खड़ा करके पैरमें रस्सी लगाये बिना बाँधनेकी भाँति हाथ घुमा देता है और गधा मान लेता है कि मैं बँध गया, चुपचाप खड़ा रहता है, इसी प्रकार बन्धनका तुम्हें भ्रम हो गया है।

मतोंके चक्करमें मत पड़ो। वेद कहता है : चरैवेति। चले चलो! तुम्हें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत जो ठीक लगे, उसपर चलो। नदी पार होनेके लिए एक नौका चाहिए, नौकाके रंग-रूपको देखना व्यर्थ है। तुम किसी मार्गपर चलो, परमात्माकी प्राप्ति होनेपर सत्य स्वयं विदित हो जायगा।

यह हड्डी-मांस-चर्मकी देहमें ममत्व करके जो बैठे हो, इसे छोड़ो। मुझे धन मिलनेसे सुख होगा, स्त्री मिलनेसे सुख होगा, पुत्रसे सुख होगा, इस प्रकार विषयोंसे सुख होनेकी धारणा दूर करो। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ये सब हृदयकी गाँठें दूर हो जाती हैं। फिर दुःख स्पर्श नहीं करेगा, भय स्पर्श नहीं करेगा। अतः पहले उस परमात्माको जानो।

सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति यहाँ 'धीर' कहनेका अर्थ है साधन-सम्पन्न; क्योंकि सत्यका साक्षात्कार करना हो तो राग-द्वेष-रहित होना चाहिए। जहाँ राग होता है उसके दोष

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं दीखते और जहाँ द्वेष होता है, उसके गुण नहीं दीखते। सत्यके दर्शनमें राग-द्वेष दोनों ही बाधक हैं।

कंकड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा, ना घर तेरा, चिड़िया रैन-बसेरा॥

सृष्टिमें 'मेरा' क्या है? जो पृथ्वी, जो धन, जो नोट आज तुम्हारा है, कल दूसरेके हाथमें चला जायगा। जो मिलनेसे पहले तुम्हारा नहीं, जानेके बाद तुम्हारा नहीं, वह मध्यमें तुम्हारा कहाँसे होगा? यही बात स्वर्गके सम्बन्धमें, देहके सम्बन्धमें भी है। अतः विवेक करो कि नित्य क्या है? जो स्वतःसिद्ध नित्य वस्तु है, वह सांसारिक पदार्थ या श्रमके मूल्यपर तो मिलेगी नहीं। उसके लिए विवेक करना है। इसलिए कर्मसे प्राप्त वस्तुका विवेक करके सत्यके जिज्ञासुको उससे वैराग्य करना चाहिए।

आत्मा-अनात्मा, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य, पवित्र-अपवित्रका विवेक करो। विवेक करके जो नित्य, सत्य, पवित्र आत्मा है, उससे प्रेम करो और अनित्य, असत्य, अपवित्र, अनात्माको छोड़ो—उससे वैराग्य करो। यह साधन-सम्पत्ति हमारे जीवनमें आनी चाहिए। वैराग्यका अर्थ है राग-द्वेष दोनों न हों, अर्थात् अनात्मामें संसारमें हमारा न राग हो और न द्वेष हो। वैराग्यका अर्थ संसारसे घृणा या शत्रुता नहीं है। ये राग और द्वेष दोनों त्याज्य हैं।

एक बात और! वेदान्त-विचारके समय कहीं ऐसा न हो कि आप कुछ शब्दोंके जालमें ही उलझ जायँ। विवेक, वैराग्य, अभ्यास, प्रतीति आदि शब्दोंको समझें और उनके अर्थको अपनी बुद्धिमें बैठाकर तत्त्वका विचार करें।

साधन-चतुष्टयके दो साधन हो गये विवेक और वैराग्य। तीसरे साधन मुमुक्षाका अर्थ आप जानते ही हैं कि संसारमें जो दुःख दीखता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, जन्म-मरण दीखता है उससे छूटनेकी इच्छा। चौथा साधन है साधन-सम्पत्ति। अब इसपर विचार करें। श्रुति कहती है :

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

यह साधन-सम्पत्ति शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये छः मानी गयी हैं :

१. शान्त : इसका अर्थ है अपने मनको शान्त करो। अर्थात् मनमें काम, क्रोध लोभादिकी जो वृत्तियाँ है उनको दूर करो। क्योंकि मनमें काम, क्रोधादिका आवेग होगा तो मन अशान्त रहेगा और तत्त्वका विवेक नहीं हो सकेगा।

२. दान्त : इसका अर्थ है कि इन्द्रियोंको वशमें करो। मनको शान्त रखना ही पर्याप्त नहीं है, इन्द्रियोंको भी नियन्त्रणमें रखो। शास्त्र-मर्यादाके प्रतिकूल भोग तो निषिद्ध है, उनकी चर्चा ही व्यर्थ है; किन्तु शास्त्र-विहित भोगसे भी संयम रखो। अपने न्यायार्जित धन, अपनी पत्नीका भी उपभोग कम करो। इन्द्रियोंको वशमें करो।

३. उपरत : अर्थात् बहुत प्रवृत्तिसे उपराम होना चाहिए। मन शान्त है, इन्द्रियोंसे भोग भी कम करते हैं, किन्तु प्रवृत्ति बहुत है—कर्म बहुत करते हैं, तो भी कहाँ अवकाश है तत्त्वविवेकके लिए। अतएव बहुत प्रवृत्ति भी छोड़नी चाहिए।

४. तितिक्षु : शरीरपर आये क्लेश सहन करनेकी शक्ति होनी चाहिए; क्योंकि सर्दी-गर्मी आती ही रहेगी, अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलेगी ही। सदा अपने अनुकूल ही परिस्थिति रहे; यह नहीं हो सकता। प्रतिकूलतासे व्याकुल हो जाओगे तो विचार नहीं रहेगा। अतएव प्रतिकूलता सह लेनेकी शक्ति चाहिए।

५. समाहित : मनमें एकाग्रता हो, बहुत मनोराज्य न होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो। अन्यथा विवेक होगा ही नहीं। अतः चित्तवृत्ति शान्त रखो। सिद्धि, चमत्कार आदिकी भी इच्छा मत करो।

६. श्रद्धा : परमार्थके मार्गमें श्रद्धा पाथेय है। इसके विना प्रगति नहीं हो सकती। शास्त्र एवं गुरुके वचनोंमें श्रद्धा होनी चाहिए। शान्त काम-क्रोध आदिकी निवृत्तिके लिए। दान्त—इन्द्रिय संयमके लिए। उपरत प्रवृत्तिको कम करनेके लिए। तितिक्षु—प्रतिकूलता सहनेके लिए। और समाहित होनेके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता है। श्रद्धा अभिमानको निवृत्त करती है।

श्रुति कहती है—आचार्यवान् पुरुषो वेद अर्थात् गुरुपर श्रद्धा करनेवाला ही समझ सकता है। अप्राप्त अथवा अनुत्पन्न वस्तुकी प्राप्ति या उत्पत्तिके लिए तो क्रिया एवं श्रम करना पड़ता है, किन्तु जो वस्तु नित्य-प्राप्त है, हमारे पास है, और हम उसे पहचानते नहीं हैं, उसको तो कोई बतानेवाला ही चाहिए। उसकी प्राप्तिमें न क्रिया आवश्यक है, न श्रम, न अभ्यास। वह तो किसीके बतानेसे मिलेगी। अतः आचार्यवान् पुरुषो वेद—श्रुतिने कहा। इस मार्गमें गुरुपर श्रद्धा अवश्य ही होनी चाहिए।

ये षट्-सम्पत्ति हैं। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षा ये साधन-चतुष्टय वेदान्तने माने हैं। भक्तिमार्गमें श्रीरामानुजाचार्यजी साधन-सप्तक कहते हैं—१. विवेक, २ विमोक, ३. अभ्यास, ४. कल्याण, ५. क्रिया, ६. अनवसाद और ७. अनुद्धर्ष। इनमेंसे यहाँ विवेका अर्थ तत्त्व-विचार नहीं है। विवेकका अर्थ भोजन-विवेक अर्थात् भोजनमें स्वरूप-दोष, संसर्ग-दोषादि न हों, यह विचार रखना। विमोक—अनुचित वस्तुओं; असाधनका त्याग। अभ्यास—अपने ध्यान—मानसिक पूजनादिको करना। कल्याण—भगवान्‌के द्वारा ही अपना कल्याण मानना, भगवत्प्राप्तिमें ही कल्याण समझना। क्रिया—पूजनादिकी क्रियाओंको करते रहना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनवसाद—अधिक दुःखी न होना। अनुद्धर्ष—सांसारिक भोगोंको पाकर बहुत प्रसन्न न होना।

इस प्रकार मत्त्वा धीरो न शोचति में 'धीर पदका अर्थ है साधन चतुष्टयसम्पन्न पुरुष। वह ओंकारका मनन करके, उसके सर्वव्यापक रूपको जानकर शोकसे पार हो जाता है।

यहाँ ओंकार उपलक्षण है। प्रत्येक उपासक अपने इष्टके नामको इसी प्रकार आराध्यसे अभिन्न मान ले, यही तात्पर्य है। वैसे 'सोऽहं' 'सः' से परोक्षका निर्देश कर 'अहं' द्वारा उस परोक्षसे एकता सूचित करता है। वह बात प्रणवमें नहीं है। प्रणव तो 'जाग्रत्-द्रष्टा, स्वप्न-द्रष्टा, सुषुप्ति-द्रष्टा तीनोंमें और मुझसे भिन्न कुछ नहीं; मैं तुरीयतत्त्व अमात्र परब्रह्म हूँ, इस प्रकार साक्षात् अपरोक्ष-ज्ञान कराता है।

साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर उपनिषद्का श्रवण करो। श्रवण करनेपर भी मुक्ति होती है या नहीं? ज्ञानसे होती है या अन्य साधनसे? मुक्ति होनेपर हम जीव रहते हैं या ब्रह्म? आदि प्रकारका संशय रह जाय तो मनन करो। मनन करनेपर भी मैं कर्ता-भोक्ता-संसारी हूं, जीव हूं, यह विपर्यय न मिटे तो निदिध्यासन करो। यदि श्रवण करनेसे ही संशय विपर्यय मिट गये हों तो तुम श्रवण मात्रसे कृतार्थ हो गये। अब तुम शोकसे पार हो गये।

२९

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः। मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः, सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः। नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्यर्थः। सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः। ओङ्कारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः। नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अमात्र तुरीय ओंकार है। जिससे माप किया जाय उसे मात्रा अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं; वह मात्रा जिसकी अनन्त हो वह 'अनन्तमात्र' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उसकी इयत्ताका परिच्छेद नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण द्वैतका उपशम-स्थान होनेके कारण वह शिव है। इसप्रकार व्याख्या जिसकी की गयी, उस ओंकारको जिसने जाना, वही परमार्थ तत्त्वका मनन करनेके कारण मुनि है, दूसरा पुरुष मुनि नहीं। इसका तात्पर्य यह कि शास्त्रज्ञ होनेपर भी दूसरे (मुनि) नहीं ॥ २९ ॥

यहाँ अबतकके प्रतिपादित तत्त्वके ज्ञानकी महिमाका वर्णन किया गया है। ओंकारको जानना अर्थात् अपनेको सम्पूर्ण विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय वस्तुके रूपमें जानना। कार्यकारणभावको प्राप्त तीन पाद माया हैं और अपना वास्तविक रूप तुरीय कार्यकारणभावसे सर्वथा रहित है। कार्य-कारणभाव स्फुरणामात्र है, कल्पित है, अपने स्वरूपसे भिन्न नहीं है, यह जानना ओंकारको जानना है। ऐसा जिसने जान लिया, उसकी महिमा इस कारिकामें बतायी गयी है। ओंकारको जानना अर्थात् ओंकारसे अभिन्न हो जाना; क्योंकि किसी वस्तुको तत्त्वसे समझने-अनुभव करनेका अर्थ ही उससे अभिन्न हो जाना है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जब प्रमाण-वृत्तिपर आरूढ़ होकर प्रमेयावच्छिन्न-चैतन्यसे एक होता है, तब हम प्रमेयको जान पाते हैं। कोई किसीसे पृथक् भी रहे और उसे भलीभाँति जान भी ले, यह सम्भव नहीं है।

विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। हम घड़ी जानते हैं, पुष्प जानते हैं, पुस्तक जानते हैं। घड़ी, पुस्तक पृथक्-पृथक् हैं;

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु जानता एक है। एक ही ज्ञानके प्रकाशमें प्रकाशित हैं। इन्द्रियोंके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। देश और कालके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। वस्तु यहाँ देखी या अन्यत्र, आज देखी या कल, इससे वस्तुके ज्ञानमें अन्तर नहीं आता। द्रष्टा और दृश्यके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता; क्योंकि दृश्य सदा प्रकाश्य रहता है और ज्ञान सदा प्रकाशक रहता है। अतः ज्ञान सदा अखण्ड है।

ज्ञानमें देश, काल, वस्तुका भेद नहीं है। सत्-असत्, सुख-दुःख, ज्ञान–अज्ञान, सबका प्रकाशक ज्ञान है, अतः ज्ञानमें इन सबका कोई भेद नहीं है। अतः आपको यह जो 'घट'का ज्ञान है, वही ज्ञान ब्रह्म है। ब्रह्मका अर्थ है अनन्त। अपने ज्ञानसे घट, पट आदि विषयोंको हटाकर देखो। यही ज्ञान जिससे संसार प्रतीत हो रहा है, जिसको प्रतीत हो रहा है, वही ब्रह्म है। ज्ञानमें परोक्ष-अपरोक्षका भेद नहीं है। वह तो साक्षात् अपरोक्ष है। भेद जितना भी है, प्रकाश्यनिष्ठ है; प्रकाशकनिष्ठ भेद नहीं है। समाधि और विक्षेपका भेद जो जानता है, उस ज्ञानमें भेद नहीं है। वस्तु-भेद, दृश्य-भेद, विषय-भेद, कर्ता-भेद, कोष-भेद या देश-भेदसे जो भेद होते हैं वे दृश्यमें ही होते हैं। ज्ञान तो एकरस अखंड है। पदार्थका पदार्थसे, जीवका जगत्से, जीवका जीवसे और जीवका ईश्वरसे या जगत्का ईश्वरसे जो भेद प्रतीत होता है, वह भेदमात्र ज्ञानसे प्रतीत होता है। अतः ज्ञानमें भेद नहीं है। अतः ओङ्कारको जाननेका अर्थ आत्मा-अनात्माके भेदको जानना नहीं है। ज्ञानमें आत्मा-अनात्माका भेद नहीं है। ओङ्कारको जाननेका अर्थ है, ज्ञान-स्वरूपमें स्थिति। ओङ्कारको जाननेका अर्थ है, अविद्याकी निवृत्ति। ओङ्कारका जाननेका अर्थ है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेय आदि समस्त त्रिपुटियोंको मायामात्र, स्फुरणामात्र समझ लेना और ज्ञानस्वरूप तुरीय अधि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ष्ठान जो अपना स्वरूप है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं, इसे समझ लेना। ओङ्कारको जाननेका अर्थ है, अमात्र तुरीयको जानना।

वह अमात्र तुरीय-तत्त्व अनन्तमात्र है अर्थात् उसमें किसी प्रकारका परिच्छेद नहीं किया जा सकता। जो द्वैतकी उपशान्ति है, अद्वैत होनेसे वह शिव है—कल्याणस्वरूप ही है। अमंगल, अशिव या अकल्याणकी उसमें गन्ध भी नहीं। इस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मको जिसने जाना, उसने ओंङ्कारको जाना। इस प्रकार ओङ्कारको जाननेवाला मुनि है। जैसे वसिष्ठ, व्यास, शुकदेव आदि मुनि हैं। वह स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप है, वही परप्रकाश्य जगत् है। शब्द द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह वाच्य ब्रह्म-ज्ञानी है और वाचक भी ब्रह्मज्ञानी है। परमात्मामें स्थित हुए, अपने आपको परमात्माके रूपमें जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीके अतिरिक्त और कुछ दूसरी वस्तु नहीं। ऐसा ब्रह्मज्ञानी स्वयं परमेश्वर है, ब्रह्म ही है।

दूसरे लोगोंने भले ही सारे वेद-शास्त्र कंठस्थ कर लिये हों; किंतु जबतक उन्होंने अपनेको प्रत्यक्चैतन्यस्वरूपको ब्रह्मसे अभिन्न नहीं जाना, तबतक वे मुनि नहीं है। तबतक वे परमानन्द-स्वरूपताको प्राप्तकर कृतकृत्य नहीं हो सकते।

यह माण्डूक्योपनिषद्का आगम-प्रकरण है। माण्डूक्य उपनिषद्में कुल बारह मन्त्र हैं और उनपर आगम प्रकरणमें ये उन्तीस कारिकाएँ हैं। बहुतसे आचार्योंने इन उन्तीस कारिकाओंको श्रुति ही माना है। शांकर-सम्प्रदायमें मानते हैं कि उपनिषदमें बारह मन्त्र हैं और उनपर ये उन्तीस तथा आगेकी भी कारिकाएँ श्रीगौड़-पादाचार्यजीकी हैं; किन्तु दूसरे सम्प्रदायोंके अनेक आचार्यगण मानते हैं कि आगेकी कारिकाएँ तो श्रीगौड़पादाचार्यकी हैं; किन्तु ये उन्तीस कारिकाएँ श्रुति हैं। यह पद्य-भाग वस्तुतः उपनिषद् ही है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपनिषद्का गद्य-भाग स्मरण नहीं रह सकता, इसलिए पद्यभागके रूपमें रखा गया है।

माण्डूक्योपनिषद्के बारह मंत्र और उनपर उन्तीस कारिकाओंके रूपमें यह आगम-प्रकरण सम्पूर्ण हो गया। इसमें ओङ्कारके विवेचनके द्वारा तत्त्वका पूर्णरूपसे विवेचन किया गया है। संसार-सागरसे जो पार होना चाहते हैं, उनके उनके लिए यह माण्डूक्योपनिषद् पर्याप्त है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !!!

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

द्वारा विरचित

वेदान्त-उपनिषद् :

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	१०.००
२. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	७.५०
३. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (अद्वैत-प्रकरण)	४.५०
४. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (अलातशान्ति-प्रकरण)	
५. कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग १	९.००
६. कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग २	१२.००
७. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
८. मुण्डक-सुधा	३.७५
९. ईशावास्य-प्रवचन	
१०. आनन्दवाणी : भाग ६	
११. स्पन्द-तत्त्व	.४५

गीता :

१२. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
१३. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१४. ध्यानयोग (छठा अध्याय)	६.००
१५. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६.००
१६. विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१७. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	६.००
१८. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय)	९.७५
१९. पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय)	

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साधना-सम्बन्धी :

२०. साधना और ब्रह्मानुभूति	५.२५
२१. श्री उड़िया बाबाजी और मोकलपुरके बाबाजी	०.३०
२२ चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी)	१.५०
२३. आत्मबोध	३.००
२४. आनन्दवाणी, भाग ३ और ४ (दूसरा संस्करण)	१.५०
२५. आनन्दवाणी, भाग ६	
२६. आनन्दवाणी, भाग ५ (गुजराती)	२.२५

भक्ति-भागवत :

२७. नारद-भक्तिदर्शन	९.००
२८. भक्ति-सर्वस्व	७.५०
२९. गोपीगीत	
३०. वेणुगीत	३.००
३१. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत (तीसरा संस्करण)	०.४०
३२. श्रीभक्तिरसायनम् (संस्कृत)	१२ ००
३३. श्रीभक्तिरसायन-प्रपा (संस्कृत)	३.००
३४. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
३५. श्रीमद्भागवत-रहस्य (सिन्धी)	
३६. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
३७. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
३८. कपिलोदेश	३.७५
३९. भागवत-विचार-दोहन (दूसरा संस्करण)	३.००
४०. भगवान्के पाँच अवतार	
४१. मोहनकी मोहिनी (गुजराती)	
४२. आनन्दवाणी, भाग ७	१.५०
४३. ज्ञान-निर्झर (तीसरा संस्करण)	०.५५
४४. माधुर्य -लहरी	२.००

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४५. माधुर्य-मंजूषा ३.००
४६. भगवन्नाम-कौमुदी और कुछ निष्कर्ष (दूसरा संस्करण)
४७. आनन्दवाणी-भाग १०
४८. राम शताब्दी-स्मृति २०.००
४९. महाराजश्री : एक परिचय १.००
५०. दिव्य-जीवन : एक झांकी (गुजराती) १.९०
५१. महाराजश्री : एक परिचय (सिन्धी)
५२. Glimpses of life Divine 1.50
५३. An introduction to a realised Soul 0.40
५४. Ideal and Truth 5.25
५५. Import of the Impersonal 0.30

प्राचीन-अर्वाचीन, ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि पुरुपार्थंप्रतिपादक।

प्रसन्न-गम्भीर त्रैमासिक पत्रिका

चिन्तामणि

वार्षिक शुल्क रु ६.००

(वर्षारम्भ : नवम्बर)

एक प्रति रु. २.००

पुरानी फाइल (अजिल्द) ४.००

(वर्ष, एकसे आठ तक)

एक प्रति १.२५

नमूनेकी प्रति भेजी नहीं जाती। पोस्टेज-सहित मूल्य प्राप्त होनेसे ही अङ्क भेजा जाता है।

अवश्य ग्राहक बनिये और औरोंको प्रेरणा दीजिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri